अश्वघोष-कृत

बुद्धचरित



सम्पादक और अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी

[E-Text by K. P. Singh]

2021

अश्वघोष-कृत

बुद्धचरित

प्रथम भाग, सर्ग 1-14

(सानुवाद)

द्वितीय भाग, सर्ग 15-28

(केवल अनुवाद)

सम्पादक और अनुवादक

सूर्यनारायण चौधरी एम० ए०

[E-Text by K. P. Singh]

कुछ संशोधनों के साथ

—

तृतीय संस्करण

जनवरी 1955 ई.

प्रकाशक

संस्कृत भवन, कठोतिया

पो. काझा, जिला पूर्णियाँ

(बिहार)

प्रथम संस्करण 1000

द्वितीय संस्करण 1000

तृतीय संस्करण 1600

मुद्रक

ओमप्रकाश कपूर

ज्ञानमण्डल यन्त्रालय बनारस

4625-11

निवेदन

जिस पवित्र इक्ष्वाकु-वंश में दाशरथी राम का जन्म हुआ था, उसी में शौद्धोदनि सिद्धार्थ भी पैदा हुए थे। राम प्राग् ऐतिहासिक काल के हैं और सिद्धार्थ (=बुद्ध) आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हुए थे। हजारों वर्षों से करोड़ों व्यक्ति प्रतिदिन राम और बुद्ध को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए अपने को पवित्र करते आ रहे हैं। राम ने कौटुम्बिक जीवन और सुराज्य का आदर्श उपस्थित किया, जब कि बुद्ध ने कुटुम्ब एवं राज-पाट को छोड़कर सत्य और सन्मार्ग का स्वयं दर्शन किया और लोगों को भी उसका उपदेश दिया।

बुद्ध के परमभक्त साकेत-निवासी महाकवि अश्वघोष ने "बुद्धचरित" नामक बुद्ध का जीवनचरित लिखा है। "बुद्धचरित" एक उत्तम काव्य है, कलाकार की कृति है। इससे भी बढ़कर इसमें सन्मार्ग से भटके हुए लोगों के लिए कल्याणकारी सन्देश है। कवि के शब्दों में ही "मनुष्यों के हित व सुख के लिए, न कि विद्वता या काव्य-कौशल दिखाने के लिए यह काव्य रचा गया"। वास्तव में संस्कृत या पालि में बुद्ध की ऐसी सुन्दर जीवनी और दूसरी देखने में नही आती।

अवश्य ही हमने "बुद्धचरित" की उपेक्षा की है। यही कारण है कि "बुद्धचरित" हमें अधूरा ही मिला और इसकी टीका एक भी उपलब्ध नही है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसका कोई अनुवाद न देखकर, मैंने यह अनुवाद करने की धृष्टता की है, जिसके लिए, आशा है, उदार विद्वान् पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

सुमनजी के परामर्श एवं प्रेरणा से अनुवाद के साथ मूल संस्कृत भी दे दिया गया है। अनुवाद करने में डा० जॉन्स्टन-कृत अंग्रेजी अनुवाद से मुझे बड़ी सहायता मिली है। सातवें सर्ग तथा आठवें के शुरु का अनुवाद सुधांशुजी ने मेरे साथ बैठकर दुहरा देने की कृपा की है। पहले और चैदहवें सर्ग के अप्राप्त 100 श्लोकों के हिन्दी-अनुवाद का आधार है डा० जॉन्स्टन का अंग्रेजी अनुवाद, जो कि तिब्बती अनुवाद के आधार पर किया गया है और जो "बुद्धचरित" के द्वितीय भाग में पञ्जाब विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

अनुवाद के कुछ अंश "धर्मदूत", "प्राचीन भारत", "आरती" और "जीवन-साहित्य" में छप चुके हैं।

कठोतिया
5-11-42

सूर्यनारायण चौधरी

नोट

बुद्धचरित प्रथम सर्ग के 1-7 व 25-40 श्लोक संस्कृत-मूल में प्राप्त न होने के कारण उनका उद्धाररूप अनुवाद श्री जौन्स्टन ने तिब्बती-पाठ के आधार पर किया गया था।

मूल संस्कृत के जिन श्लोकों में शब्दों को लाल किया गया उन्हें चौधरीजी ने या E. B. Cowell के पाठ से लिया है या फिर डा० जॉन्स्टन के फुटनोट से। डा० जॉन्स्टन का बुद्धचरित पाठ Cowell के पाठ से किस प्रकार अन्तर में है इसके लिए सर्च करें KPS-3 E. H. Johnston Buddhacarita Sanskrit Text. जॉन्स्टन का बुद्धचरित संस्कृत-पाठ अभी तक E-Text में नही था उसे मैंने पहली बार E-Text में कर दिया है।

संस्कृत श्लोकों को चार पादों में माना गया है– श्लोक की प्रथम पँक्ति का शुरुआती आधा भाग 'क' पाद और बाद का आधा भाग 'ख' पाद कहा है तथा द्वितीय पँक्ति का आधा भाग 'ग' पाद और बाद का आधा भाग 'घ' पाद कहा है।

पुस्तक में प्रयुक्त सङ्केत इस प्रकार हैं–

सौ० = सौन्दरनन्द।

अ० को० = अभिधर्मकोष।

बु० वा० = बुद्धवाणी।

के० पी० सिंह
23.8.2021

बुद्धचरित

प्रथम सर्ग

भगवान् का जन्म

[ऐक्ष्वाक इक्ष्वाकुसमप्रभाव: शाक्येष्वशक्येषु विशुद्धवृत: ।
प्रिय: शरच्चन्द्र इव प्रजानां नाम बभूव राजा] ॥1.1[1]

इक्ष्वाकु-वंश में शुद्धोदन नामक राजा हुआ। वह अजेय शाक्यों का अधिपति था। इक्ष्वाकु के समान प्रभावशाली था। उसका आचरण पवित्र था। अपनी प्रजा के लिए वह शरच्चन्द्र के समान प्रिय था ॥1 ॥

[तस्येन्द्रकल्पस्य बभूव पत्नी] दीप्त्या नरेन्द्रस्य समप्रभावा ।
[पद्मेव लक्ष्मी: पृथिवीव धीरा मायेति नाम्नानुपमेव माया] ॥1.2

उस इन्द्र-तुल्य राजा के शची-सदृश रानी थी, जिसकी दीप्ति राजा की शक्ति के समान थी। वह पद्मा के समान सुन्दरी और पृथ्वी के सदृश धीर थी। अनुपम माया के समान होने के कारण उसका नाम महामाया हुआ ॥2 ॥

सार्धं तयासौ विजहार राजा नाचिन्तयद्वैश्रवणस्य लक्ष्मीं ।
[ततश्च विद्येव समाधियुक्ता गर्भं दधे पापविवर्जिता सा] ॥1.3[2]

अपनी रानी के साथ विहार करते हुए उस नरपति ने मानो वैश्रवण (कुबेर) के परम ऐश्वर्य का उपभोग किया। तब वह निष्पाप (रानी) गर्भवती हुई, जैसे समाधि-युक्त विद्या फलवती होती है ॥3 ॥

प्राग्गर्भधानान्मनुजेन्द्रपत्नी सितं ददर्श द्विपराजमेकं ।
स्वप्ने विशन्तं वपुरात्मन: सा [न तन्निमित्तं समवाप तापं] ॥1.4

गर्भधारण करने से पूर्व उसने स्वप्न में एक श्वेत गज-राज को अपने शरीर में प्रवेश करते देखा; किन्तु इससे उसे कुछ कष्ट नही हुआ ॥4 ॥

[सा तस्य देवप्रतिमस्य देवी गर्भेण वंशश्रियमुद्वहन्ती] ।
श्रमं न लभे न शुचं न मायां गन्तुं वनं सा निभृतं चकाङ्क्ष ॥1.5

उस देव-तुल्य राजा की रानी माया ने अपने गर्भ में अपने वंश की श्री को धारण किया। श्रम, शोक और माया से मुक्त होकर और विशुद्ध होकर, उसने पावन वन (जाने) की इच्छा की ॥5 ॥

[1]- प्रथम सात श्लोक अप्राप्त हैं। इन श्लोकों के जो अंश [ ] कोष्ठ के अन्तर्गत हैं वे जौन्स्टन-कृत मूलोद्धार हैं और शेष की रचना अनुवाद के आधार पर हमने की है। 1 'ग' के अन्त में जौन्स्टन के 'प्रजाम्य:' के स्थान में हमने 'प्रजानां' कर दिया है।

[2]- क—या 'प्रियासहायो विजहार राजा'
क—ख या 'सार्धं तयासौ नृपतिश्च रेमे भेजे यथा वैश्रवणस्य लक्ष्मी ।'

[सा लुम्बिनीं नाम वनान्तभूमिं चित्रद्रुमां चैत्ररथाभिरामां] ।
ध्यानानुकूलां विजनामियेव तस्यां निवासाय नृपं बभाषे ॥1.6

ध्यान के योग्य एकान्त वन की इच्छा से, उसने विविध वृक्षों से युक्त चैत्ररथ उपवन के समान सुन्दर लुम्बिनी वन में चलकर रहने के लिए राजा से कहा ॥6 ॥

[आर्याशयां तां] प्रवणां च धर्मे [विज्ञाय कौतुहलहर्षपूर्ण: ।
शिवात् पुरात् भूमिपतिर्जगाम तत्प्रीतये नापि विहारहेतो:] ॥1.7[3]

भूपति ने कुतूहल और आनन्द के साथ उसकी धार्मिकता से उसका उत्तम आशय जानकर, उसे प्रसन्न करने के लिए, न कि विहार करने के लिए, उस सुन्दर नगर को छोड़ा ॥7 ॥

तस्मिन्वने श्रीमति राजपत्नी प्रसूतिकालं समवेक्षमाणा ।
शय्यां वितानोपहितां प्रपेदे नारीसहस्रैरभिनन्द्यमाना ॥१.८

उस सुन्दर वन में प्रसव-काल समीप देखकर रानी ने वितान-युक्त शय्या का आश्रय लिया। उस समय हजारों स्त्रियों ने उसका अभिनन्दन किया ॥8 ॥

ततः प्रसन्नश्च बभूव पुष्यस्तस्याश्च देव्या व्रतसंस्कृतायाः ।
पार्श्वात्सुतो लोकहिताय जज्ञे निर्वेदनं चैव निरामयं च ॥१.९

तब पुण्य नक्षत्र प्रसन्न हुआ और व्रत से पवित्र हुई रानी के पार्श्व से लोक-हित के लिए पुत्र उत्पन्न हुआ; रानी को न पीडा हुई और न रोग ॥9 ॥

ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्धातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्ध्नः ।
कक्षीवतश्चैव भुजांसदेशात्तथाविधं तस्य बभूव जन्म ॥१.१०

जैसे और्व का जन्म जाँघ से, पृथु का हाथ से, इन्द्र-तुल्य मान्धाता का मस्तक से, कक्षीवान् का काँख से, वैसे ही उसका जन्म (पार्श्व से) हुआ ॥10 ॥

क्रमेण गर्भादभिनिःसृतः सन् बभौ च्युतः खादिव योन्यजातः ।
कल्पेष्वनेकेषु च भावितात्मा यः सम्प्रजानन्सुषुवे न मूढः ॥१.११

काल-क्रम से गर्भ से निकलने पर, वह आकाश से गिरे के समान शोभित हुआ; (क्योंकि) वह जन्म मार्ग से उत्पन्न नही हुआ था। अनेक कल्पों में उसने अपने को पवित्र कर लिया था; अत: वह जागरूक होकर (स्मृति-संप्रजन्य के साथ) जन्मा, मूढ़ (मूर्ख, बेसुध) होकर नही ॥11 ॥

दीप्त्या च धैर्येण च यो रराज बालो रविर्भूमिमिवावतीर्णः ।
तथातिदीप्तोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षूंषि यथा शशाङ्कः ॥१.१२

[3]- ग—पा० 'भूमिपतिः प्रतस्थे' ।

दीप्ति और धीरता में वह भूतलपर अवतीर्ण बाल-सूर्य के समान शोभित हुआ। उस प्रकार अत्यन्त दीप्तिमान् होनेपर भी, देखे जानेपर, वह चन्द्रमा के समान आँखें हर लेता था ॥12 ॥

स हि स्वगात्रप्रभयोज्ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष ।
महार्हजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः ॥१.१३

अपने शरीर की जलती प्रभा से उसने भास्कर के समान दीप्त प्रभा को हर लिया। बहुमूल्य-सुवर्ण-सदृश सुन्दर वर्णवाले (बालक) ने सब दिशाओं को प्रकाशित किया ॥13 ॥

अनाकुलान्युब्जसमुद्गतानि निष्पेषवद्व्यायतविक्रमाणि ।
तथैव धीराणि पदानि सप्त सप्तर्षितारासदृशो जगाम ॥१.१४

सप्तर्षि-तारा के समान वह सात पग चला, उसने ये लम्बे और अविचल पग धैर्यपूर्वक सीधे उठाकर दृढ़ता के साथ रखे ॥14 ॥

बोधाय जातोऽस्मि जगद्धितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियं ममेति ।
चतुर्दिशं सिंहगतिर्विलोक्य वाणीं च भव्यार्थकरीमुवाच ॥१.१५

और उस सिंह-गति ने चारों ओर देखकर भविष्यवाणी की–"जगत् के हित के लिए ज्ञान अर्जन करने के लिए मैं जन्मा हूँ, संसार में यह मेरी अन्तिम उत्पत्ति है" ॥15 ॥

खात्प्रस्रुते चन्द्रमरीचिशुभ्रे द्वे वारिधारे शिशिरोष्णवीर्ये ।
शरीरसंस्पर्शसुखान्तराय निपेततुर्मूर्धनि तस्य सौम्ये ॥१.१६

चन्द्र-किरण-सदृश दो जल-धाराएँ, एक शीतल और दूसरी गर्म आकाश से स्रवित हुईं और शरीर स्पर्श कर सुख देने के लिए उसके सौम्य मस्तक पर गिरीं ॥16 ॥

श्रीमद्विताने कनकोज्ज्वलाङ्गे वैडूर्यपादे शयने शयानम् ।
यद्गौरवात्काञ्चनपद्महस्ता यक्षाधिपाः संपरिवार्य तस्थुः ॥१.१७

सुन्दर वितान से युक्त, सुवर्ण से उज्ज्वल, वैदूर्य मणि के पादवाले शयनपर वह पड़ा हुआ था। उसके गौरव के कारण यक्षपति-गण अपने हाथों में सुवर्ण कमल लिए हुए उसे चारों ओर घेरकर खड़े हुए ॥17 ॥

(अदृश्यरूपाश्च) दिवौकसः खे यस्य प्रभावात्प्रणतैः शिरोभिः ।
आधारयन् पाण्डरमातपत्रं बोधाय जेपुः परमाशिषश्च ॥१.१८

अदृश्य देवताओं ने उसके प्रभाव से शिर झुकाकर आकाश में श्वेत आतपत्र धारण किया और उसकी बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए उत्तम आशीर्वाद दिये ॥18 ॥

महोरगा धर्मविशेषतर्षाद्बुद्धेष्वतीतेषु कृताधिकाराः ।
यमव्यजन् भक्तिविशिष्टनेत्रा मन्दारपुष्पैः समवाकिरंश्च ॥१.१९

जिन्होंने अतीत के बुद्धों की सेवा की थी, उन बड़े-बड़े सर्पों ने धर्मविशेष की प्यास से उसके ऊपर व्यजन डुलाये और भक्ति के कारण अपनी विलक्षण आँखों से (देखते हुए) मन्दार फूल बरसाये ॥19 ॥

तथागतोत्पादगुणेन तुष्टाः शुद्धाधिवासाश्च विशुद्धसत्त्वाः ।
देवा ननन्दुर्विगतेऽपि रागे मग्नस्य दुःखे जगतो हिताय ॥१.२०

तथागत के जन्म से सन्तुष्ट होकर, विशुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवास देव, स्वयं राग-रहित होनेपर भी, दुःखमग्न जगत् का (भावी) हित सोचकर, प्रसन्न हुए ॥20 ॥

यस्य प्रसूतौ गिरिराजकीला वाताहता नौरिव भूश्चचाल ।
सचन्दना चोत्पलपद्मगर्भा पपात वृष्टिर्गगनादनभ्रात् ॥१.२१

उसके जन्म में यह पृथ्वी, जो गिरीराज-रूप कील से स्थिर है, वायु से आहत नाव की भाँति काँपी। मेघ-रहित आकाश से चन्दन-सुवासित वृष्टि हुई, जिसमे लाल नीले कमल गिरे ॥21 ॥

वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः ।
सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशे जज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः ॥१.२२

स्पर्श से सुख देनेवाली मनोहर वायु दिव्य वस्त्रों की वृष्टि करती हुई बहने लगी। वही सूर्य अत्यधिक चमका। बिना सुलगाये ही आग सौम्य शिखाओं के साथ प्रज्वलित हुई ॥22 ॥

प्रागुत्तरे चावसथप्रदेशे कूपः स्वयं प्रादुरभूत्सिताम्बुः ।
अन्तः पुराण्यागतविस्मयानि यस्मिन् क्रियास्तीर्थ इव प्रचक्रुः ॥१.२३

आवास-भूमि की उत्तर-पूर्व दिशा में स्वच्छ जल के कूप का आप ही आप प्रादुर्भाव हुआ, जहाँ विस्मित अन्तःपुर-वासियों ने उसी प्रकार क्रियाएँ की, जिस प्रकार तीर्थ में ॥23 ॥

धर्मार्थिभिर्भूतगणैश्च दिव्यैस्तद्दर्शनार्थं वनमापुपूरे ।
कौतूहलेनैव च पादपेभ्यः पुष्पाण्यकालेऽ(प्यवपातयद्भिः) ॥१.२४

उसके दर्शन के लिए धर्माभिलाषी दिव्य प्राणियों से वह वन भर गया। कुतूहल-वश उन्होंने पेड़ों से अकाल में भी (फूले) फूल गिराये ॥24 ॥

भूतैरसौम्यैः (परित्यक्तहिंसै-) र्नाकारि पीडा स्वगणे परे वा ।
लोके हि सर्वाश्च विना प्रयासं रुजो नराणां शमयांबभूवुः ॥1.25[4]

उस समय विघ्नकारी प्राणी एकत्र हुए और उन्होंने एक दूसरे को क्लेश नही दिया। मानव-जाति के जो कुछ रोग थे सब अनायस ही दूर हो गये ॥25 ॥

कलं प्रणेदुः मृगपक्षिणश्च शान्ताम्बुवाहाः सरितो बभूवुः ।
दिशः प्रसेदुर्विमले निरभ्रे विहायसे दुन्दुभयो निनेदुः ॥1.26

मृग और पक्षी ऊँचे स्वर से बोले नहीं और नदियाँ नीरव जल के साथ बहीं। दिशाएँ स्वच्छ हो गईं और आकाश निरभ्र होकर चमका। गगन में देव दुन्दुभियाँ बजीं ॥26 ॥

[4]- मूल के अप्राप्त श्लोक 25-40 ग तक की पद्य-बद्ध रचना अनुवाद के आधार पर हमने की है।

लोकस्य मोक्षाय गुरौ प्रसूते शमं प्रपेदे जगदव्यवस्थं।
प्राप्येव नाथं खलु नीतिमन्तं एको न मारो मुदमाप लोके ॥1.27

जगत् के मोक्ष के लिए गुरु का जन्म होनेपर संसार अत्यन्त शान्त हो गया, जैसे कुव्यवस्था के बीच इसे शासक मिल गया हो। केवल कामदेव को आनन्द नही हुआ ॥27॥

दिव्याद्भुतं जन्म निरीक्ष्य तस्य धीरोऽपि राजा बहुक्षोभमेत:।
स्नेहादसौ भीतिप्रमोदजन्ये द्वे वारिधारे मुमुचे नरेन्द्र: ॥1.28

अपने पुत्र का अद्भुत जन्म देखकर राजा धीर होनेपर भी बहुत क्षुब्ध हुआ और स्नेह के कारण आनन्द तथा भय से उत्पन्न हुई दो अश्रु-धाराएँ (उसकी आँखों से) बहीं ॥28॥

अमानुषीं तस्य निशम्य शक्तिं माता प्रकृत्या (करुणार्द्रचित्ता)।
प्रीता च भीता च बभूव देवीं शीतोष्णमिश्रेव जलस्य धारा ॥1.29[5]

उष्ण और शीतल जल के मिश्रण से बनी धारा के समान रानी आनन्द और भय से मर गई; क्योंकि एक ओर उसके पुत्र की शक्ति (प्रभाव) अमानुषी थी और दूसरी ओर उसमें माता की स्वभाविक दुर्बलता थी ॥29॥

निरीक्षमाणा भयहेतुमेव ध्यातुं न शेकु: वनिता: प्रवृद्धा:।
पूताश्च ता मङ्गलकर्म चक्रु: शिवं ययाचु: शिशवे सुरौघान् ॥1.30

केवल भय के ही कारणों को देखती हुई विशुद्ध बूढ़ी स्त्रियाँ ध्यान नहीं कर सकीं। अपने को पवित्र कर तथा भाग्यनिर्माण की क्रियाएँ कर, उन्होंने देवताओं से सौभाग्य के लिए प्रार्थना की ॥30॥

विपाश्च ख्याता: श्रुतशीलवाग्भि: श्रुत्वा निमित्तानि विचार्य सम्यक्।
मुखै: प्रफुल्लैश्चकितैश्च दीप्तै: भीतप्रसन्नं नृपमेत्य प्रोचु: ॥1.31[6]

आचरण विद्या और वाग्मिता के लिए प्रसिद्ध ब्राह्मणों ने जब ये लक्षण सुने और उनपर विचार किया, तब उज्ज्वल, साश्चर्य और प्रसन्न मुखों से उन्होंने राजा से, जो भीत भी था और प्रसन्न भी, कहा:– ॥31॥

शमेप्सवो ये भुवि सन्ति सत्त्वा: पुत्रं विनेच्छन्ति गुणं न कश्चित्।
त्वत्पुत्र एषोऽस्ति कुलप्रदीप: नृत्योत्सवं त्वद्य विधेहि राजन् ॥1.32[7]

"भूतलपर मनुष्य अपनी शान्ति के लिए पुत्र को छोड़कर कोई दूसरा गुण नहीं चाहते हैं। आपका यह प्रदीप आपके वंश का प्रदीप है, अत: आज आनन्द और उत्सव कीजिए ॥32॥

विहाय चिन्तां भव शान्तचित्तो मोदस्व वंशस्तव वृद्धिभागी।
लोकस्य नेता तव पुत्रभूत: दु:खर्दितानां भुवि एष त्राता ॥1.33[8]

इसलिए पूरे धैर्य के साथ चिन्ता तजिए और प्रसन्न होइये; आपका वंश निश्चय ही उन्नत होगा। जो आपका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है, वह दु:ख में डूबे जगत् का उद्धार करेगा ॥33॥

दीपप्रभोऽयं कनकोज्ज्वलाङ्ग: सुलक्षणैर्यैस्तु समन्वितोऽस्ति।
निधिर्गुणानां समये स गंता बुद्धर्षिभावं परमां श्रियं वा ॥1.34[9]

सुवर्ण के समान उज्ज्वल और प्रदीप के समान चमकीले इस गुणवान् के लक्षणों के अनुसार, वह निश्चय ही बुद्धर्षि होगा या पृथ्वी पर मनुष्यों के बीच चक्रवर्ती सम्राट् ॥34॥

इच्छेदसौ वै पृथिवीश्रियं चेत् न्यायेन जित्वा पृथिवीं समग्रां।
भूपेषु राजेत यथा प्रकाश: ग्रहेषु सर्वेषु रवेर्विभाति ॥1.35

यदि वह पार्थिव साम्राज्य की इच्छा करे, तो अपने प्रभाव और धर्म के द्वारा पृथ्वी पर सब राजाओं के ऊपर वह उसी प्रकार स्थित होगा, जिस प्रकार सब ग्रहों के ऊपर सूर्य का प्रकाश ॥35॥

मोक्षाय चेद्वा वनमेव गच्छेत् तत्त्वेन सम्यक् स विजित्य सर्वान्।
मतान् पृथिव्यां बहुमानमेत: राजेत शैलेषु यथा सुमेरु: ॥1.36[10]

यदि वह मोक्ष की इच्छा करे और वन को जाय, तो अपने ज्ञान और सत्य के द्वारा सब सम्प्रदायों को जीतकर वह पृथ्वी पर उसी प्रकार स्थित होगा, जिस प्रकार पर्वतों के मध्य गिरी-राज मेरु ॥36॥

यथा हिरण्यं शुचि धातुमध्ये मेरुर्गिरीणां सरसां समुद्र:।
तारासु चन्द्रस्तपतां च सूर्य: पुत्रस्तथा ते द्विपदेषु वर्य: ॥1.37[11]

जैसे धातुओं में विशुद्ध सुवर्ण, पर्वतों में मेरु, जलाशयों में सागर, ग्रहों में चन्द्र और अग्नियों में सूर्य श्रेष्ठ है, वैसे ही मनुष्यों में आपका पुत्र ॥37॥

तस्याक्षिणी निर्निमिषे विशाले स्निग्धे च दीप्ते विमले तथैव।
निष्कम्पकृष्णायतशुद्धपक्ष्मे द्रष्टुं समर्थे खलु सर्वभावान् ॥1.38[12]

5- क–वा 'दृष्ट्वा विशालं तनय-प्रभावं'
ग–वा 'प्रीत्या च भीत्या च बभूव युक्ता'

6- ख–वा 'श्रुत्वा निमित्तानि विचिन्त्य तानि'

7- ख–पा० 'किञ्चत्' के स्थान में 'तेऽन्यं'।

8- ख–पा० 'वृद्धिगामी'।

9- क–पा० 'दीपप्रदीप:' ख–पा० 'विभूषितोऽस्ति'।

10- घ–पा० 'यथा हिमाद्रि:'।

11- ग–या 'तारासु चन्द्रो दहतां च भानु:'।

उसकी आँखें निर्निमेष होकर देखती हैं, वे निर्मल और विशाल हैं चमकीली और स्निग्ध भी, स्थिर और खूब लम्बी काली पपनियोंवाली। उसकी आँखें सब कुछ देख सकती हैं" ॥38 ॥

कस्मान्तु हेतोः कथितान्भवद्भिः वरान्गुणान् धारयते कुमारः।

प्रापुर्न पूर्वे मुनयो नृपाश्च राज्ञेति पृष्टा जगदस् द्विजास्तं ॥1.39

तब राजा ने द्विजों से कहा:—"क्या कारण है उत्कृष्ट गुण, जैसा आप कहते हैं, उसमें देखे जाते हैं, जब कि ये पहले के महात्मा राजाओं में नहीं देखे गये?" तब ब्राह्मणों ने उन्हें कहा:— ॥39 ॥

ख्यातानि कर्माणि यशो मतिश्च पूर्वं न भूतानि भवन्ति पश्चात्।

गुणा हि सर्वाः प्रभवन्ति हेतोः [निदर्शनान्यत्र] च नो निबोध ॥1.40[13] [14]

"राजाओं की बुद्धि, विख्यात कर्म और यश के सम्बन्ध में पहले और पीछे का प्रश्न नही है। यह वस्तु-स्वभाव है कि प्रत्येक कार्य कारण से होता है, अत: हमारे दृष्टान्त आप सुनें ॥40 ॥

यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ।

तयोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च ॥१.४१

हे सौम्य, वंश चलानेवाले भृगु और अङ्गिरा नामक ऋषियों ने जिस राजशास्त्र को नही बनाया उसे उनके पुत्रों ने—शुक्र और बृहस्पति ने—समय बीतनेपर सृजन किया ॥41 ॥

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।

व्यास्तथैनं बहुधा चकार न यं वशिष्ठः कृतवानशक्तिः ॥१.४२

(सरस्वती के पुत्र) सारस्वत ने नष्ट हुए वेद को कहा (=व्यक्त किया) जिसे पूर्व के लोगों ने देखा नही, और व्यास ने इसे कई विभागों में (विभक्त) किया जिसे शक्तिहीन वशिष्ठ ने नही किया ॥42 ॥

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महार्षिः।

चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥१.४३

पहले पहल बाल्मीकि ने पद्य सृजन किया, जिसे महर्षि च्यवन ने नही बनाया, और जिस चिकित्सा-शास्त्र को अत्रि ने (सृजन) नही किया उसे बाद को आत्रेय ऋषि ने कहा ॥43 ॥

यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तद्गाधिनः सूनुरवाप राजन्।

वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमं बबन्धुः ॥१.४४

हे राजन्! जिस द्विजत्व को (विश्‍मामित्र के पितामह) कुशिक ने नही पाया उसे गाधी के पुत्र (विश्‍मामित्र) ने प्राप्त किया, और सगर ने सागर की वेला निश्चित की, जिसे शुरु में इक्ष्वाकुओं ने नही बाँधा ॥44 ॥

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।

ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः ॥१.४५

योग-विधि में द्विजों का आचार्य होने का जो पद दूसरों को प्राप्त नही हुआ उसे जनक ने पाया। शौरि ने जो विख्यात कर्म किये उन्हें करने में शूर आदि असमर्थ हुए ॥45 ॥

तस्मात्प्रमाणं न वयो न वंशः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।

राज्ञामृषीणां च हि तानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥१.४६

इसलिए प्रमाण न वयस है न वंश। संसार में कोई भी कहीं भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है; क्योंकि राजाओं और ऋषियों के पुत्रों ने वे काम किये जिन्हें उनके पूर्वजों ने नहीं किया।" ॥46 ॥

एवं नृपः प्रत्ययितैर्द्विजैस्तैराश्वासितश्चाप्यभिनन्दितश्च।

शङ्कामनिष्टां विजहौ मनस्तः प्रहर्षमेवाधिकमारुरोह ॥१.४७

उन विश्वस्त द्विजों से इस प्रकार आश्वासन और अभिनन्दन पाकर, राजा ने अपने मन में अनिष्ट शङ्का का त्याग किया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥47 ॥

प्रीतश्च तेभ्यो द्विजसत्तमेभ्यः सत्कारपूर्वं प्रददौ धनानि।

भूयादयं भूमिपतिर्यथोक्तो यायाज्जरामेत्य वनानि चेति ॥१.४८

और प्रसन्न होकर उसने उन श्रेष्ठ द्विजों को धन दिये, (जिससे) वह, उनके कथनानुसार राजा हो और बुढ़ापे में ही वन को जाय ॥48 ॥

अथो निमित्तैश्च तपोबलाच्च तज्जन्म जन्मान्तकरस्य बुद्धा।

शाक्येश्वरस्यालयमाजगाम सद्धर्मतर्षादसितो महार्षिः ॥१.४९

तब निमित्तों से और तपोबल से जन्मान्त-कर (जन्म-विनाशक) का वह जन्म जानकर महर्षि असित उत्तम धर्म की प्यास से शाक्य-अधिपति के घर आया ॥49 ॥

तं ब्रह्मविद्ब्रह्मविदं ज्वलन्तं ब्राह्म्या श्रिया चैव तपःश्रिया च।

राज्ञो गुरुर्गौरवसत्क्रियाभ्यां प्रवेशयामास नरेन्द्रसद्म ॥१.५०

ब्राह्म तेज और तप:श्री से जलते हुए उस श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को राजगुरु ने गौरव और सत्कार के साथ राजभवन मे प्रवेश कराया ॥50 ॥

स पार्थिवान्तःपुरसन्निकर्षं कुमारजन्मागतहर्षवेगः।

विवेश धीरो बलसञ्ज्ञयेव तपःप्रकर्षाच्च जराश्रयाच्च ॥१.५१

कुमार के जन्म से आनन्दित होकर वह राजा के अन्त:पुर के समीप गया। अतिशय तपस्या तथा वृद्धावस्था के कारण वह वहाँ इतना धीर था कि अपने को वन में ही समझ रहा हो ॥51 ॥

ततो नृपस्तं मुनिमासनस्थं पाद्यार्घ्यपूर्वं प्रतिपूज्य सम्यक्।

निमन्त्रयामास यथोपचारं पुरा वसिष्ठं स इवान्तिदेवः ॥१.५२

12- घ—भाव = पदार्थ; दे०— बु० च० 11.41; 12.27

13- ग—पा० 'धर्मा हि'।

14- शलोक 25 से 40 ग तक की रचना हमारी है। 40 ध के [ ] कोष्ठ में दो शब्द जौन्स्टन ने रखे हैं।

तब मुनि के बैठने पर, पाद्य और अर्घ्य के साथ उसकी सम्यक् पूजाकर, राजा ने उससे वैसे ही सविनय निवेदन किया, जैसे प्राचीन समय में अन्तिदेव ने वशिष्ठ से ॥52॥

धन्योऽस्म्यनुग्राह्यमिदं कुलं मे यन्मां दिदृक्षुर्भगवानुपेतः ।
आज्ञाप्यतां किं करवाणि सौम्य शिष्योऽस्मि विश्रम्भितुमर्हसीति ॥१.५३

“मैं धन्य हूँ और मेरा यह कुल अनुगृहीत है जो आप मुझे देखने की इच्छा से आये हैं। हे सौम्य, आज्ञा कीजिए कि मैं क्या करूँ? आपका शिष्य हूँ, मेरे ऊपर विश्वास कीजिए” ॥53॥

एवं नृपेणोपमन्त्रितः सन्सर्वेण भावेन मुनिर्यथावत् ।
स विस्मयोत्फुल्लविशालदृष्टिर्गम्भीरधीराणि वचांस्युवाच ॥१.५४

जब राजा ने इस उचित रीति से समस्त सद्भाव के साथ मुनि से निवेदन किया, तब उसकी आँखें विस्मय से विकसित तथा विशाल हो गईं और उसने ये गम्भीर और धीर वचन कहे ॥54॥

महात्मनि त्वय्युपपन्नमेतत्प्रियातिथौ त्यागिनि धर्मकामे ।
सत्त्वान्वयज्ञानवयोऽनुरूपा स्निग्धा यदेवं मयि ते मतिः स्यात् ॥१.५५

“आप महात्मा, अतिथि-प्रिय, त्यागी और धर्मार्थी के ही यह योग्य है कि अपने स्वभाव, वंश, ज्ञान और वयस के अनुरूप आपकी बुद्धि मेरे प्रति ऐसी स्नेहमयी हो ॥55॥

एतच्च तद्येन नृपर्षयस्ते धर्मेण सूक्ष्मेण धनान्यवाप्य ।
नित्यं त्यजन्तो विधिवद्बभूवुस्तपोभिराढ्या विभवैर्दरिद्राः ॥१.५६

और, यह वही मार्ग है जिसके द्वारा वे राजर्षि सूक्ष्म धर्म से धन प्राप्त कर, नित्य विधिवत् दान करते हुए, तप के धनी और धन के दरिद्र हो गये ॥56॥

प्रयोजनं यत्तु ममोपयाने तन्मे शृणु प्रीतिमुपेहि च त्वम् ।
दिव्या मयादित्यपथे श्रुता वाग्बोधाय जातस्तनयस्तवेति ॥१.५७

किन्तु मेरे आने का प्रयोजन है उसे आप सुनिये और आनन्द पाइये। सूर्य के मार्ग में (आकाश-मार्ग में) मैंने (आपके प्रति कही गई) यह दिव्यवाणी सुनी—“तुझे पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो बुद्धत्व प्राप्त करेगा” ॥57॥

श्रुत्वा वचस्तच्च मनश्च युक्त्वा ज्ञात्वा निमित्तैश्च ततोऽस्म्युपेतः ।
दिदृक्षया शाक्यकुलध्वजस्य शक्रध्वजस्येव समुच्छ्रितस्य ॥१.५८

यह वचन सुनकर, मैंने मनोयोग किया और निमित्तों से बात जान ली। तब इन्द्र की पताका के समान शाक्य-कुल की उन्नत पताका को देखने की इच्छा से यहाँ आया हूँ” ॥58॥

इत्येतदेवं वचनं निशम्य प्रहर्षसम्भ्रान्तगतिर्नरेन्द्रः ।
आदाय धात्र्यङ्कगतं कुमारं सन्दर्शयामास तपोधनाय ॥१.५९

इस प्रकार यह वचन सुनकर हर्ष के कारण शीघ्रता से राजा ने धाई की गोद से कुमार को लेकर तपस्वी को दिखाया ॥59॥

चक्राङ्कपादं स तथा महर्षिर्जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम् ।
सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श ॥१.६०

तब उस महर्षि ने राजा के पुत्र को विस्मय के साथ देखा, उसके पाँवों में चक्र के चिह्न थे, अङ्गुलियाँ और हाथ-पाँव (रेखा-) जालों से भरे थे, भौंहें (घने) बालों से युक्त थीं, मूत्राशय और (अण्ड-) कोश वैसे ही (भीतर धँसे) थे जैसे हाथी के ॥60॥

धात्र्यङ्कसंविष्टमवेक्ष्य चैनं देव्यङ्कसंविष्टमिवाग्निसूनुम् ।
बभूव पक्ष्मान्तविचञ्चिताश्रुर्निश्वस्य चैवं त्रिदिवोन्मुखोऽभूत् ॥१.६१

देवी की गोद में सोये हुए अग्नि-पुत्र की भाँति धाई की गोद मे सोये हुए इस बालक को देखकर महर्षि की पपनियों पर आँसू आ गये और साँसे लेकर उसने आकाश की ओर मुख उठाया ॥61॥

दृष्ट्वासितं त्वश्रुपरिप्लुताक्षं स्नेहात्तनूजस्य नृपश्चकम्पे ।
सगद्गदं बाष्पकषायकण्ठः पप्रच्छ स प्राञ्जलिरानताङ्गः ॥१.६२

असित की आँखें आँसू से डबडबाई देखकर पुत्र के स्नेह से राजा काँप उठा, उसका कण्ठ वाष्प (के अवरोध) से दुखने लगा और झुककर हाथ जोड़े हुए, उसने भग्न वाणी में पूछा:— ॥62॥

अल्पान्तरं यस्य वपुःसुरेभ्यो बह्वद्भुतं यस्य च जन्म दीप्तम् ।
यस्योत्तमं भाविनमात्थ चार्थं तं प्रेक्ष्य कस्मात्तव धीर वाष्पः ॥१.६३

“जिसके शरीर में देवताओं (के शरीर) से अल्प अन्तर है, जिसका उज्जवल जन्म बहुत अद्भुत है, जिसका भविष्य आप उत्तम कहते हैं, हे धीर उसे देखकर आपको आँसू क्यों? ॥63॥

अपि स्थिरायुर्भगवन् कुमारः कच्चिन्न शोकाय मम प्रसूतः ।
लब्धा कथञ्चित्सलिलाञ्जलिर्मे न खल्विमं पातुमुपैति कालः ॥१.६४

हे भगवन्, कुमार चिरायु तो है? वह मेरे शोक के लिए तो नही जन्मा है? किसी किसी तरह मुझे जो जलाञ्जलि प्राप्त होनेवाली है उसे पीने के लिए काल तो नही आ रहा है (अर्थात् मरनेपर मुझे जलाञ्जलि देने के लिए कुमार जीवित तो रहेगा)? ॥64॥

अप्यक्षयं मे यशसो निधानं कच्चिद्ध्रुवो मे कुलहस्तसारः ।
अपि प्रयास्यामि सुखं परत्र सुप्तोऽपि पुत्रेऽनिमिषैकचक्षुः ॥१.६५

मेरा यश-निधान अक्षय तो है? मेरे वंश (-ज) के हाथ में राज्य ध्रुव तो है? सोये रहनेपर भी पुत्र के प्रति एक आँख खुली रखनेवाला मैं सुखपूर्वक परलोक तो जाऊँगा? ॥65॥

कच्चिन्न मे जातमफुल्लमेव कुलप्रवालं परिशोषभागि ।
क्षिप्रं विभो ब्रूहि न मेऽस्ति शान्तिः स्नेहं सुते वेत्सि हि बान्धवानाम् ॥१.६६

क्या मेरा यह वंशाङ्कुर, जो अभी जन्मा है, बिना फूले ही सूखने को है? हे विभु, शीघ्र कहिये, मुझे शान्ति नही है; क्योंकि पुत्र के लिए पिता का स्नेह तो आप जानते ही हैं।” ॥66॥

इत्यागतावेगमनिष्टबुद्ध्या बुद्धा नरेन्द्रं स मुनिर्बभाषे ।
मा भून्मतिस्ते नृप काचिदन्या निःसंशयं तद्यदवोचमस्मि ॥१.६७

अनिष्ट की आशङ्का से राजा आवेश मे आ गया है, ऐसा समझकर मुनि ने कहा—“आप कुछ और न समझें। मैंने जो कहा है उसमें संशय नही है ॥67 ॥

नास्यान्यथात्वं प्रति विक्रिया मे स्वां वञ्चनां तु प्रति विक्लवोऽस्मि ।
कालो हि मे यातुमयं च जातो जातिक्षयस्यासुलभस्य बोद्धा ॥१.६८

इसके अनिष्ट से मुझे विकार नही हुआ है; मैं वञ्चित हो रहा हूँ, इसीलिए मैं विकल हूँ। मेरे (परलोक) जाने का यह समय आ गया है, जब कि यह उत्पन्न हुआ है जो जन्म-विनाश के दुर्लभ उपायों को जानेगा ॥68 ॥

विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थस्तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम् ।
जगत्ययं मोहतमो निहन्तुं ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः ॥१.६९

विषयों से विरक्त हो, राज्य छोड़, तीव्र प्रयत्नों से तत्त्व को प्राप्त कर, यह ज्ञानमय सूर्य जगत् में मोहरूप तम को नष्ट करने के लिए प्रज्वलित होगा ॥69 ॥

दुःखार्णवाद्व्याधिविकीर्णफेनाज्जरातरङ्गान्मरणोग्रवेगात् ।
उत्तारयिष्यत्ययमुह्यमानमार्त्तं जगज्ज्ञानमहाप्लवेन ॥१.७०

दुःखरूप सागर से—व्याधि ही जिसका फैला हुआ फेन है, वृद्धावस्था ही जिसकी तरङ्ग है और मरण ही जिसका प्रचण्ड वेग है—बहते हुए आर्त जगत् को यह ज्ञानरूप महानौका के द्वारा उबारेगा ॥70 ॥

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम् ।
अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः ॥१.७१

प्रज्ञा ही जिसका जल-प्रवाह है, स्थिर शील ही जिसके तट हैं, समाधि ही जिसकी शीतलता है और व्रत ही जिसके चक्रवाक हैं, उस उत्तम धर्म नदी का वह प्रवतन करेगा और तृष्णा से पीड़ित प्राणि-जगत् (=जीवलोक) उस (के जल) को पीयेगा ॥71 ॥

दुःखार्दितेभ्यो विषयावृतेभ्यः संसारकान्तारपथस्थितेभ्यः ।
आख्यास्यति ह्येष विमोक्षमार्गं मार्गप्रनष्टेभ्य इवाध्वगेभ्यः ॥१.७२

मार्ग से भटके हुए यात्रियों के समान संसाररूप वन के पथ मे पड़े हुए लोगों को, जो दुःख से पीड़ित और विषयों से लिप्त हैं, यह मोक्षमार्ग बतावेगा ॥72 ॥

विदह्यमानाय जनाय लोके रागाग्निनायं विषयेन्धनेन ।
प्रह्लादमाधास्यति धर्मवृष्ट्या वृष्ट्या महामेघ इवातपान्ते ॥१.७३

संसार में विषयरूप इन्धनवाली रागाग्नि से जलते हुए लोगों को यह धर्मवृष्टि से वैसे ही आनन्दित करेगा, जैसे आतप (गर्मी) के अन्त में (जल-) वृष्टि से महामेघ ॥73 ॥

तृष्णार्गलं मोहतमःकपाटं द्वारं प्रजानामपयानहेतोः ।
विपाटयिष्यत्ययमुत्तमेन सद्धर्मताडेन दुरासदेन ॥१.७४

प्राणियों के निकलने के लिए यह उस द्वार को, तृष्णा ही जिसका अर्गल है और मोहरूप अन्धकार ही जिसके किवाड़ हैं, सद्धर्म के अप्रितहत उत्तम प्रहार से तोड़ डालेगा ॥74 ॥

स्वैर्मोहपाशैः परिवेष्टितस्य दुःखाभिभूतस्य निराश्रयस्य ।
लोकस्य सम्बुध्य च धर्मराजः करिष्यते बन्धनमोक्षमेषः ॥१.७५

बुद्धत्व प्राप्त कर, यह धर्मराज, अपने ही मोह-पाशों से परिवेष्टित, दुःख से अभिभूत, और निराश्रय जगत् का बन्धन खोलेगा ॥75 ॥

तन्मा कृथाः शोकमिमं प्रति त्वमस्मिन्स शोच्योऽस्ति मनुष्यलोके ।
मोहेन वा कामसुखैर्मदाद्वा यो नैष्ठिकं श्रोष्यति नास्य धर्मम् ॥१.७६

अत: आप इसके लिए शोक न करें; इस मनुष्य-लोक में उसके लिए शोक करना चाहिए जो काम-सुख से होनेवाले मोह से, या मद से इसका नैष्ठिक धर्म नही सुनेगा ॥76 ॥

भ्रष्टस्य तस्माच्च गुणादतो मे ध्यानानि लब्ध्वाप्यकृतार्थतैव ।
धर्मस्य तस्याश्रवणादहं हि मन्ये विपत्तिं त्रिदिवेऽपि वासम् ॥१.७७

इस पुण्य से भ्रष्ट होकर ध्यान प्राप्त करनेपर भी मैं अकृतार्थ ही हूँ; क्योंकि उसका धर्म नही सुनने के कारण स्वर्ग-निवास को भी मैं विपत्ति ही मानता हूँ” ॥77 ॥

इति श्रुतार्थः ससुहृत्सदारस्त्यक्त्वा विषादं मुमुदे नरेन्द्रः ।
एवंविधोऽयं तनयो ममेति मेने स हि स्वामपि सारमत्ताम् ॥१.७८

यह व्याख्या सुनने पर स्त्री और बन्धुओं के साथ विषाद छोड़कर राजा प्रमुदित हुआ। “मेरा पुत्र ऐसा है” इससे उसने अपना सौभाग्य समझा ॥78 ॥

आर्येण मार्गेण तु यास्यतीति चिन्ताविधेयं हृदयं चकार ।
न खल्वसौ न प्रियधर्मपक्षः सन्ताननाशात्तु भयं ददर्श ॥१.७९

“ऋषि के मार्ग पर यह चलेगा” इससे उसका हृदय चिन्तित हुआ। निश्चय ही वह ऐसा नही था कि उसे धर्म का पक्ष प्रिय नही, किन्तु वंश-नाश से होनेवाला भय उसने देखा ॥79 ॥

अथ मुनिरसितो निवेद्य तत्त्वं सुतनियतं सुतविक्लवाय राज्ञे ।
सबहुमतमुदीक्ष्यमाणरूपः पवनपथेन यथागतं जगाम ॥१.८०

तब पुत्र के लिए विकल राजा से पुत्र के सम्बन्ध में तत्त्व को निवेदन कर, असित मुनि वायु-मार्ग से वैसे ही चला गया जैसे आया था और लोग सम्मानपूर्वक उसका रूप देखते रहे ॥80 ॥

कृतमितिरनुजासुतं च दृष्ट्वा मुनिवचनश्रवणे च तन्मतौ च ।
बहुविधमनुकम्पया स साधुः प्रियसुतवद्विनियोजयाञ्चकार ॥१.८१

सच्चा ज्ञान प्राप्त किये हुए उस मुनि (असित) ने अपनी बहिन के पुत्र को देखा और अनुकम्पा-वश प्रिय पुत्र के समान उसे मुनि (बुद्ध) का वचन सुनने के लिए तथा उसके विचारानुसार चलने के लिए नियुक्त किया ॥81 ॥

नरपतिरपि पुत्रजन्मतुष्टो विषयमतानि विमुच्य बन्धनानि ।

कुलसदृशमचीकरद्यथावत्प्रियतनयस्तनयस्य जातकर्म ॥१.८२

पुत्र-जन्म से सन्तुष्ट होकर राजा ने भी देश के सभी बन्धनों (=कैदियों) को छोड़ दिया और उस पुत्र-स्नेही ने पुत्र का जात-कर्म कुल के अनुकूल ही उचित रीति से कराया ॥82 ॥

दशसु परिणतेष्वहःसु चैव प्रयतमनाः परया मुदा परीतः ।

अकुरुत जपहोमङ्गलाद्याः परमभवाय सुतस्य देवतेज्याः ॥१.८३

दस दिन पूरे होनेपर परम प्रसन्न होकर, उस संयमी ने पुत्र के परम कल्याण के लिए जप, होम और मङ्गल-कर्म आदि के साथ देवयज्ञ किये ॥83 ॥

अपि च शतसहस्रपूर्णसङ्ख्याः स्थिरबलवत्तनयाः सहेमशृङ्गीः ।

अनुपगतजराः पयस्विनीर्गाः स्वयमददात्सुतवृद्धये द्विजेभ्यः ॥१.८४

और भी, एक लाख पयस्विनी गाएँ जो वृद्धा नहीं हुई थीं, जिनके सीङ्ग सोने से मढ़े थे, और जिनके बछड़े दृढ़ बलवान् थे, पुत्र की बढ़ती के लिए स्वयं द्विजों को दीं ॥84 ॥

बहुविधविषयास्ततो यतात्मा स्वहृदयतोषकरीः क्रिया विधाय ।

गुणवति नियते शिवे मुहूर्ते मतिमकरोन्मुदितः पुरप्रवेशे ॥१.८५

उस संयतात्मा ने अपने हृदय को सन्तोष देनेवाली भाँति-भाँति की क्रियाएँ कीं और गुण-युक्त मङ्गल मुहूर्त नियत होनेपर, प्रसन्न होकर उसने नगर मे प्रवेश करने का विचार किया ॥85 ॥

द्विरदरदमयीमथो महार्हां सितसितपुष्पभृतां मणिप्रदीपाम् ।

अभजत शिविकां शिवाय देवी तनयवती प्रणिपत्य देवताभ्यः ॥१.८६

उस पुत्रवती देवी ने मङ्गल के लिए देवताओं को प्रणाम किया और वह हाथी-दाँत की बनी बहुमूल्य पालकी पर, जो उजले-उजले फूलों से भरी थी और जिसमें मणि-प्रदीप जल रहे थे, चढ़ी ॥86 ॥

पुरमथ पुरतः प्रवेश्य पत्नीं स्थविरजनानुगतामपत्यनाथाम् ।

नृपतिरपि जगाम पौरसङ्घैर्दिवममरैर्मघवानिवार्च्यमानः ॥१.८७

वृद्धाओं और पुत्र के साथ पत्नी को आगे से पुर में प्रवेश कराकर, राजा भी वहाँ गया। पुरवासियों ने उसकी उसी तरह पूजा की, जैसे स्वर्ग में (प्रवेश करने पर) इन्द्र की देवताओं ने ॥87 ॥

भवनमथ विगाह्य शाक्यराजो भव इव षण्मुखजन्मना प्रतीतः ।

इदमिदमिति हर्षपूर्णवक्त्रो बहुविधपुष्टियशस्करं व्यधत्त ॥१.८८

महल में प्रवेश करने पर, शाक्य-राज वैसे ही आनन्दित हुआ, जैसे कार्तिकेय के जन्म से शिव। प्रसन्न मुख होकर "यह करो, यह करो" कहते हुए राजा ने वह सब कराये, जिनके तरह-तरह की बढ़ती और यश होता है ॥88 ॥

इति नरपतिपुत्रजन्मवृद्ध्या सजनपदं कपिलाह्वयं पुरं तत् ।

धनदपुरमिवाप्सरसोऽवकीर्णं मुदितमभून्नलकूबरप्रसूतौ ॥१.८९

राज-कुमार के समृद्धिकारी जन्म से कपिल के नाम का वह नगर जनपद के साथ इस प्रकार प्रमुदित हुआ, जैसे नलकूबर के जन्म में अप्सराओं से भरा कुबेर का नगर ॥89 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये भगवत्प्रसूतिर्नाम प्रथमः सर्गः ॥१ ॥

द्वितीय सर्ग

अन्तःपुर विहार

आ जन्मनो जन्मजरान्तकस्य तस्यात्मजस्यात्मजितः स राजा ।

अहन्यहन्यर्थगजाश्वमित्रैर्वृद्धिं ययौ सिन्धुरिवाम्बुवेगैः ॥२.१

जन्म और जरा के विनाशक उस आत्म-विजयी पुत्र के जन्म (-समय) से वह राजा दिन-दिन धन से, हाथी-घोड़ों से और मित्रों से उसी तरह बढ़ने लगा, जैसे जल-प्रवाहों से नदी ॥1 ॥

धनस्य रत्नस्य च तस्य तस्य कृताकृतस्यैव च काञ्चनस्य ।

तदा हि नैकान्स निधीनवाप मनोरथस्याप्यतिभारभूतान् ॥२.२

क्योंकि तब धन, विविध रत्न, तथा बने और नही बने सोने की अनेक निधियाँ उसने पाईं, जो मनोरथ के लिए भी भार-स्वरूप थीं ॥2 ॥

ये पद्मकल्पैरपि च द्विपेन्द्रैर्न मण्डलं शक्यमिहाभिनेतुम् ।

मदोत्कटा हैमवता गजास्ते विनापि यत्नादुपतस्थुरेनम् ॥२.३

हिमालय के मतवाले हाथी, जो पद्म-सदृश गजेन्द्रों द्वारा भी यहाँ नही लाये जा सकते थे, अनायास ही उसकी सेवा में उपस्थित हुए ॥3 ॥

नानाङ्कचिह्नैर्नवहेमभाण्डैर्विभूषितैर्लम्बसटैस्तथान्यैः ।

सञ्चुक्षुभे चास्य पुरं तुरङ्गैर्बलेन मैत्र्या च धनेन चाप्तैः ॥२.४

और, नाना चिह्नों नव-सुवर्ण-भाण्डों और भूषणों से युक्त तथा लम्बे केसरवाले घोड़ों से, जो (सैन्य-) बल, मित्रता एवं धन द्वारा प्राप्त हुए थे, उसका नगर क्षुब्ध हुआ ॥4 ॥[15]

पुष्टाश्च तुष्टाश्च तथास्य राज्ये साध्व्योऽरजस्का गुणवत्पयस्काः ।

उदग्रवत्सैः सहिता बभूवुर्बह्व्यो बहुक्षीरदुहश्च गावः ॥२.५

[15]- भाण्ड = अश्व-आभरण, घोड़े का अलंकार।

उसके राज्य में गाएँ बहुत थीं। वे पुष्ट व सन्तुष्ट, साध्वी और निर्मल, उत्तम तथा बहुत दूध देनेवाली और उन्नत बछड़ों से युक्त थीं ॥5 ॥

मध्यस्थतां तस्य रिपुर्जगाम मध्यस्वभावः प्रययौ सुहृत्त्वम्।
विशेषतो दार्ढ्यमियाय मित्रं द्वावस्य पक्षावपरस्तु नास ॥२.६

उसका शत्रु मध्यस्थ (=निष्पक्ष), मध्यस्थ मित्र, और मित्र विशेषत: दृढ़ हो गया। उसके दो ही पक्ष रहे, तीसरा पक्ष (शत्रु) नही रहा ॥6 ॥

तथास्य मन्दानिलमेघशब्दः सौदामिनीकुण्डलमण्डिताभ्रः।
विनाश्मवर्षाशनिपातदोषैः काले च देशे प्रववर्ष देवः ॥२.७

और उसके लिए (वृष्टि-) देव ने, जिनके बादल विद्युन्मण्डल से मण्डित थे, मन्द अनिल और मेघ-गर्जन के साथ अश्म-वर्षा और वज्रपात के दोषों के बिना ही (उचित) समय और स्थान पर वृष्टि की ॥7 ॥

रुरोह सस्यं फलवद्यथर्तु तदाकृतेनापि कृषिश्रमेण।
ता एव चास्यौषधयो रसेन सारेण चैवाभ्यधिका बभूवुः ॥२.८

(अति) कृषि-श्रम किये बिना ही फल-युक्त सस्य उचित ऋतु में बढ़ा। और, उसके लिये वे ही ओषधियाँ रस एवं सार से खूब भर गईं ॥8 ॥

शरीरसन्देहकरेऽपि काले सङ्ग्रामसम्मर्द इव प्रवृत्ते।
स्वस्थाः सुखं चैव निरामयं च प्रजज्ञिरे कालवशेन नार्यः ॥२.९

यद्यपि (प्रसव-) काल शरीर के लिए उतना ही सन्देह-जनक (विपत्तिपूर्ण) है जितना कि युद्ध-सङ्घर्ष, तथापि स्त्रियों ने स्वस्थ रहते हुए, सुखपूर्वक और बिना किसी रोग के समय पर प्रसव किया ॥9 ॥

पृथग्व्रतिभ्वो विभवेऽपि गर्ह्ये न प्रार्थयन्ति स्म नराः परेभ्यः।
अभ्यर्थितः सूक्ष्मधनोऽपि चार्यस्तदा न कश्चिद्विमुखो बभूव ॥२.१०

व्रतियों को छोड़कर (अन्य) लोगों ने, चाहे उनका विभव कितना ही तुच्छ क्यों न हो, दूसरों से कुछ नही माङ्गा। और साथ ही कोई भी आर्य (सज्जन), चाहे उसका धन कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, माङ्गे जानेपर विमुख नही हुआ ॥10 ॥[16]

नागौरवो बन्धुषु नाप्यदाता नैवाव्रतो नानृतिको न हिंस्रः।
आसीत्तदा कश्चन तस्य राज्ये राज्ञो ययातेरिव नाहुषस्य ॥२.११

उस समय उसके राज्य में, जैसे नहुष के पुत्र ययाति के राज्य में बन्धुओं का असम्मान करनेवाला, अदाता, अव्रती, झूठ, और हिंसक कोई नही था ॥11 ॥[17]

[16]- व्रती=संन्यास-धर्म के नियम पालन करनेवाले।

[17]- अव्रती=धर्म के नियम पालन नहीं करनेवाला।

उद्यानदेवायतनाश्रमाणां कूपप्रपापुष्करिणीवनानाम्।
चक्रुः क्रियास्तत्र च धर्मकामाः प्रत्यक्षतः स्वर्गमिवोपलभ्य ॥२.१२

धर्म के अभिलाषियों ने स्वर्ग का मानो प्रत्यक्ष दर्शन कर उद्यान, देव-मन्दिर, आश्रम, कूप, पनसाले, पोखर और उपवन बनाये ॥12 ॥

मुक्तश्च दुर्भिक्षभयामयेभ्यो हृष्टो जनः स्वर्ग इवाभिरेमे।
पत्नीं पतिर्वा महिषी पतिं वा परस्परं न व्यभिचेरतुश्च ॥२.१३

दुर्भिक्ष भय और रोग से मुक्ति होने के हर्ष में लोग ऐसे सुखी थे, जैसे स्वर्ग में। पति ने पत्नी के विरुद्ध या पत्नी ने पति के विरुद्ध सदाचार भङ्ग नही किया अर्थात् दोनों एक दूसरे के प्रति सच्चे रहे ॥13 ॥

कश्चित्सिषेवे रतये न कामं कामार्थमर्थं न जुगोप कश्चित्।
कश्चिद्धनार्थं न चचार धर्मं धर्माय कश्चिन्न चकार हिंसाम् ॥२.१४

किसी ने रति के लिए काम का सेवन नही किया, किसी ने काम (-सेवन) के लिए धन की रक्षा नही की। किसी ने धन के लिए धर्माचरण नही किया, किसी ने धर्म के लिए हिंसा नही की ॥14 ॥

स्तेयादिभिश्चाप्यरिभिश्च नष्टं स्वस्थं स्वचक्रं परचक्रमुक्तम्।
क्षेमं सुभिक्षं च बभूव तस्य पुरानरण्यस्य यथैव राष्ट्रे ॥२.१५

शत्रुता और चोरी-आदि नष्ट हो गई। उसका राज्य स्वस्थ, स्वतन्त्र, विदेश के शासन से मुक्त, सुखी और अन्न से भरा था, जैसे प्राचीन काल में अनरण्य का राज्य ॥15 ॥

तदा हि तज्जन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्यसुतस्य राज्ये।
चचार हर्षः प्रणनाश पाप्मा जज्वाल धर्मः कलुषः शशाम ॥२.१६

तब उसके जन्म में उस राजा के राज्य में, जैसे सूर्य-पुत्र मनु के राज्य में, मलिनता मिटी और हर्ष का संचार हुआ, पाप नष्ट हुआ और धर्म प्रज्वलित हुआ ॥16 ॥

एवंविधा राजकुलस्य संपत्सर्वार्थसिद्धिश्च यतो बभूव।
ततो नृपस्तस्य सुतस्य नाम सर्वार्थसिद्धोऽयमिति प्रचक्रे ॥२.१७

राजकुल की ऐसी सम्पद् और सब अर्थों की सिद्धि हुई, इसीलिए राजा ने अपने पुत्र का नाम रखते हुए कहा—"यह सर्वार्थसिद्ध है" ॥17 ॥

देवी तु माया विबुधर्षिकल्पं दृष्ट्वा विशालं तनयप्रभावम्।
जातं प्रहर्षं न शशाक सोढुं ततो निवासाय दिवं जगाम ॥२.१८

अपने पुत्र का प्रभाव देवर्षि का-सा विशाल देखकर, देवी माया (हृदय में) उत्पन्न हर्ष को न रोक सकी और रहने के लिए स्वर्ग चली गई ॥18 ॥

ततः कुमारं सुरगर्भकल्पं स्नेहेन भावेन च निर्विशेषम्।
मातृष्वसा मातृसमप्रभावा संवर्धयामात्मजवद्बभूव ॥२.१९

तब माता के समान प्रभावशाली मौसी ने सुर-सन्तान-तुल्य कुमार को वैसे ही भाव और स्नेह से अपने पुत्र के समान पाला ॥19 ॥

ततः स बालार्क इवोदयस्थः समीरितो वह्निरिवानिलेन ।
क्रमेण सम्यग्वृधे कुमारस्ताराधिपः पक्ष इवातमस्के ॥२.२०

तब उदयाचल पर स्थित सूर्य के समान, हवा से प्रेरित अग्नि के समान और शुक्ल-पक्ष के चन्द्रमा के समान कुमार धीरे-धीरे अच्छी तरह बढ़ने लगा ॥20 ॥

ततो महार्हाणि च चन्दनानि रत्नावलीश्चौषधिभिः सगर्भाः ।
मृगप्रयुक्तान्रथकांश्च हैमानाचक्रिरेऽस्मै सुहृदालयेभ्यः ॥२.२१
वयोऽनुरूपाणि च भूषणानि हिरण्मयान् हस्तिमृगाश्वकाश्च ।
रथांश्च गोपुत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकररूप्यचित्राः ॥२.२२

तब उसके लिए लोग बहुमूल्य चन्दन, ओषधियों से भरे रत्न-हार, मृग-युक्त छोटे-छोटे स्वर्ण रथ, वयस के अनुरूप भूषण, सोने के बने छोटे-छोटे हाथी, मृग और घोड़े, गो-वत्स-युक्त रथ, तथा चाँदी-सोने से रङ्ग-विरङ्गी पुतलियाँ मित्रों के घरों से ले आये ॥21-22 ॥

एवं स तैस्तैर्विषयोपचारैर्वयोऽनुरूपैरुपचर्यमाणः ।
बालोऽप्यबालप्रतिमो बभूव धृत्या च शौचेन धिया श्रिया च ॥२.२३

वयस के अनुरूप उन-उन विषयों से इस प्रकार सेवित होता हुआ वह बालक होनेपर भी धैर्य, पवित्रता, बुद्धि और विभूति में बालक नही था ॥23 ॥

वयश्च कौमारमतीत्य सम्यक् सम्प्राप्य काले प्रतिपत्तिकर्म ।
अल्पैरहोभिर्बहुवर्षगम्या जग्राह विद्याः स्वकुलानुरूपाः ॥२.२४

कुमारावस्था बीतनेपर, समय पर उसका (उपनयन-) संस्कार विधिवत् हुआ और अपने कुल के अनुरूप विद्याएँ, जो बहुत वर्षों में सीखी जाती हैं, उसने कुछ ही दिनों में सीख लीं ॥24 ॥

नैःश्रेयसं तस्य तु भव्यमर्थं श्रुत्वा पुरस्तादसितान्महर्षेः ।
कामेषु सङ्गं जनयाम्बभूव वनानि यायादिति शाक्यराजः ॥२.२५

शाक्य-राज ने महर्षि असित से पहले ही उसका परम कल्याण-प्रद भविष्य सुना था; इसलिए उसने विषयों में उसकी आसक्ति उत्पन्न की, जिससे वह वन को न जाय ॥25 ॥

कुलात्ततोऽस्मै स्थिरशीलयुक्तात्साध्वीं वपुर्ह्रीविनयोपपन्नाम् ।
यशोधरां नाम यशोविशालां वामाभिधानां श्रियमाजुहाव ॥२.२६

तब स्थायी शीलवाले कुल से यशोधरा नामक कन्यारूपी लक्ष्मी को उसके लिए बुलाया। वह यशस्विनी और साध्वी थी। रूप, लज्जा और विनय से युक्त थी ॥26 ॥

विद्योतमानो वपुषा परेण सनत्कुमारप्रतिमः कुमारः ।
सार्धं तया शाक्यनरेन्द्रवध्वा शच्या सहस्राक्ष इवाभिरेमे ॥२.२७

सनत्कुमार के समान अत्यन्त सुन्दर आकृति से चमकते कुमार ने शाक्यराज की उस वधू के साथ वैसे ही रमण किया, जैसे इन्द्र शची के साथ ॥27 ॥

किञ्चिन्मनःक्षोभकरं प्रतीपं कथं न पश्येदिति सोऽनुचिन्त्य ।
वासं नृपो व्यादिशति स्म तस्मै हर्म्योदरेष्वेव न भूप्रचारम् ॥२.२८

मन को क्षुब्ध करनेवाला कुछ भी प्रतिकूल वह (कुमार) कैसे न देखे—ऐसा सोचकर राजा ने उसके लिए महलों के भीतर रहने का आदेश दिया, पृथ्वी पर घूमने का नही ॥28 ॥

ततः शरत्तोयदपाण्डरेषु भूमौ विमानेष्विव रञ्जितेषु ।
हर्म्येषु सर्वर्तुसुखाश्रयेषु स्त्रीणामुदारैर्विजहार तूर्यैः ॥२.२९

तब शरत्काल के मेघ के समान श्वेत तथा पृथ्वी पर उतरे विमानों (=देवप्रासादों) के समान रञ्जित महलों में, जो सब ऋतुओं में सुखदायी थे, उसने स्त्रियों के उदार तूर्य-वाद्यों से मनोविनोद किया ॥29 ॥

कलैर्हि चामीकरबद्धकक्षैर्नारीकराग्राभिहतैर्मृदङ्गैः ।
वराप्सरोनृत्यसमैश्च नृत्यैः कैलासवत्तद्भवनं रराज ॥२.३०

जिनके अञ्चल सुवर्ण से बँधे थे और जो स्त्रियों की अङ्गुलियों से बजाये जा रहे थे उन मृदङ्गों से, (उनकी) मधुर ध्वनि से और उत्तम अप्सराओं के नृत्य के समान नृत्य से, वह भवन कैलास के समान शोभित हुआ ॥30 ॥

वाग्भिः कलाभिर्ललितैश्च हावैर्मदैः सखेलैर्मधुरैश्च हासैः ।
तं तत्र नार्यो रमयाम्बभूवुर्भ्रूवञ्चितैरर्धनिरीक्षितैश्च ॥२.३१

मीठी बोली से, ललित हाथ-भाव से, क्रीड़ापूर्ण मद (=मदत्ता) से, मधुर हाथ से, भ्रू-भङ्गों से और कटाक्षों से, नारियों ने उसे वहाँ आनन्दित किया ॥31 ॥

ततः स कामाश्रयपण्डिताभिः स्त्रीभिर्गृहीतो रतिकर्कशाभिः ।
विमानपृष्ठान्न महीं जगाम विमानपृष्ठादिव पुण्यकर्मा ॥२.३२

तब कामोद्दीपन में निपुण तथा रति में दृढ़ स्त्रियों से गृहीत होकर, वह महल पर से भूतल पर नही आया, जैसे पुण्य कर्मवाला (व्यक्ति) स्वर्ग से (नीचे नही उतरता है) ॥32 ॥

नृपस्तु तस्यैव विवृद्धिहेतोस्तद्भाविनार्थेन च चोद्यमानः ।
शमेऽभिरेमे विरराम पापाद्भेजे दमं संविबभाज साधून् ॥२.३३

पुत्र की बढ़ती के लिए और उसके (उत्तम) भविष्य से प्रेरित होता राजा शम में आनन्दित हुआ और पाप से विरत हुआ, (इन्द्रिय-) दमन का आश्रय लिया और साधुओं के बीच धन बाँटा ॥33 ॥

नाधीरवत्कामसुखे ससञ्जे न संररञ्जे विषमं जनन्याम् ।
धृत्येन्द्रियाश्वांश्चपलान्विजिग्ये बन्धूंश्च पौरांश्च गुणैर्जिगाय ॥२.३४

वह अधीर व्यक्ति के समान काम-सुख में आसक्त नही हुआ, उसने मातृ-वर्ग (स्त्रियों) से अनुचित अनुराग नही किया (या स्त्रियों के प्रति अत्यधिक क्रोध नही किया) धैर्यपूर्वक इन्द्रियरूप चपल घोड़ों का दमन किया और अपने गुणों से बन्धुओं एवं पुरवासियों को जीता ॥34 ॥

नाध्यैष्ट दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष्ट ।
स्वाभ्यः प्रजाभ्यो हि यथा तथैव सर्वप्रजाभ्यः शिवमाशशंसे ॥२.३५

उसने दूसरे के दुःख के लिए (तन्त्र मन्त्र) विद्या नही सीखी, किन्तु जो कल्याण-कारी ज्ञान है उसे अध्ययन किया; क्योंकि जैसे अपनी प्रजाओं के लिए वैसे ही सब प्रजाओं के लिए उसने कल्याण-कामना की ॥35 ॥

भं भासुरं चाङ्गिरसाधिदेवं यथावदानर्च तदायुषे सः ।
जुहाव हव्यान्यकृशे कृशानौ ददौ द्विजेभ्यः कृशनं च गाश्च ॥२.३६

उसकी आयु के लिए उसने उज्जवल ग्रह-मण्डल की, जिसका अधिदेव बृहस्पति है, यथोचित्त पूजा की, विशाल अग्नि में हवन किया तथा द्विजों को सोना और गाएँ दीं ॥36 ॥

सस्नौ शरीरं पवितुं मनश्च तीर्थाम्बुभिश्चैव गुणाम्बुभिश्च ।
वेदोपदिष्टं सममात्मजं च सोमं पपौ शान्तिसुखं च हार्दम् ॥२.३७

शरीर को पवित्र करने के लिए तीर्थ के जल से और मन को पवित्र करने के लिए गुणरूप जल से स्नान किया, वेदविहित सोम (-रस) पिया और साथ ही अपने से ही उत्पन्न हार्दिक शान्ति-सुख की रक्षा की ॥37 ॥[18]

सान्त्वं बभाषे न च नार्थवद्यज्जजल्प तत्त्वं न च विप्रियं यत् ।
सान्त्वं ह्यतत्त्वं परुषं च तत्त्वं ह्रियाशकन्नात्मन एव वक्तुम् ॥२.३८

उसने प्रिय कहा और व्यर्थ नही; सत्य कहा और अप्रिय नही; क्योंकि प्रिय असत्य और कठोर सत्य वह लाज से अपने को भी न कह सका ॥38 ॥

इष्टेष्वनिष्टेषु च कार्यवत्सु न रागदोषाश्रयतां प्रपेदे ।
शिवं सिषेवे व्यवहारशुद्धं यज्ञं हि मेने न तथा यथा तत् ॥२.३९

कार्यवालों के प्रति, वे इष्ट हों या अनिष्ट उसने अनुराग या द्वेष नही किया; कल्याणकारी शुद्ध विवाद निर्णय का सेवन किया, यज्ञ को वैसा नही माना जैसा कि उसे अर्थात् न्याय की पवित्रता को ॥39 ॥

आशावते चाभिगताय सद्यो देयाम्बुभिस्तर्षमचेच्छिदिष्ट ।
युद्धादृते वृत्तपरश्वधेन द्विड्दर्पमुद्वृत्तमबेभिदिष्ट ॥२.४०

आगत आशावान् व्यक्ति की प्यास को दानरूप जल से सद्यः काटा और युद्ध के बिना ही सदाचाररूप कुठार से शत्रु के असंयत अभिमान को भेदा ॥40 ॥

एकं विनिन्ये स जुगोप सप्त सप्तैव तत्याज ररक्ष पञ्च ।
प्राप त्रिवर्गं बुबुधे त्रिवर्गं जज्ञे द्विवर्गं प्रजहौ द्विवर्गम् ॥२.४१

उसने एक (अपने) को विनीत किया, सात (=राज्य के सात अङ्गों) की रक्षा की, सात (=राजाओं के सात दोषों) का त्याग किया, पाँच (=पाँच उपायों) की रक्षा की, त्रिवर्ग (=अर्थ-धर्म-काम) को पाया, त्रिवर्ग (=शत्रु-मित्र-मध्यस्थ) को समझा, द्विवर्ग (=नीति-अनीति) को जाना, और द्विवर्ग (=काम-क्रोध) को छोड़ा ॥41 ॥[19]

कृतागसोऽपि प्रतिपाद्य वध्यान्नाजीघनन्नापि रुषा ददर्श ।
बबन्ध सान्त्वेन फलेन चैतांस्त्यागोऽपि तेषां ह्यनपाय दृष्टः ॥२.४२

अपराधियों को बध्य प्रतिपादित करके भी नही मरवाया, क्रोध से भी नही देखा। उन्हें प्रिय फल से युक्त किया (=हल्का दण्ड दिया); क्योंकि उन्हें छोड़ने में भी अनीति देखी ॥42 ॥

आर्षाण्यचारीत्परमव्रतानि वैराण्यहासीच्चिरसम्भृतानि ।
यशांसि चापद्गुणगन्धवन्ति रजांस्यहासीन्मलिनीकराणि ॥२.४३

ऋषियों के कठोर व्रतों का आचरण किया, चिर-पोषित शत्रुता छोड़ी, अपने गुणों से सुगन्धित यश पाया, (मन) मलिन करनेवाली (काम की) धूल झाड़ी ॥43 ॥

न चाजिहीर्षीद्बलिमप्रवृत्तं न चाचिकीर्षीत्परवस्त्वभिध्याम् ।
न चाविवक्षीद्द्विषतामधर्मं न चादिधक्षीद्धृदयेन मन्युम् ॥२.४४

उसने (प्रजाओं से) अप्रवृत्त (=अनुचित, अप्रस्तुत) कर लेने की इच्छा नही की, पर-वस्तु हरण करना नही चाहा, शत्रुओं का अधर्म प्रकट करना नही चाहा और हृदय में क्रोध रखना नही चाहा ॥44 ॥

तस्मिंस्तथा भूमिपतौ प्रवृत्ते भृत्याश्च पौराश्च तथैव चेरुः ।
शमात्मके चेतसि विप्रसन्ने प्रयुक्तयोगस्य यथेन्द्रियाणि ॥२.४५

उस राजा की प्रवृत्ति वैसी होनेपर, भृत्यों और पुरवासियों ने वैसा ही आचरण किया; जिस प्रकार योगारूढ व्यक्ति का चित्त शान्त और प्रसन्न (=निर्मल) होनेपर, उसके इन्द्रिय भी (वैसे ही शान्त और निर्मल हो जाते हैं) ॥45 ॥

काले ततश्चारुपयोधरायां यशोधरायां स्वयशोधरायाम् ।
शौद्धोदने राहुसपत्नवक्त्रो जज्ञे सुतो राहुल एव नाम्ना ॥२.४६

18- "आत्मजं च" की जगह "आत्मजेन" पढ़ें, तो उत्तरार्ध का अर्थ यों होगा—"आत्मज के साथ वेद-विहित सोम (-रस) पिया और हार्दिक शान्ति-सुख की रक्षा की।"

19- पाँच उपाय, देखिये—सौ० पन्द्रह 61।

तब समय पर चारु पयोधरवाली तथा अपने (गर्भ में पुत्ररूप) यश को धारण करनेवाली यशोधरा से शौद्धोदनि (=शुद्धोदन के पुत्र) का राहु-शत्रु (चन्द्र)-सदृश मुखवाला पुत्र उत्पन्न हुआ, (उसका) नाम राहुल ही (रहा) ॥46 ॥

अथेष्टपुत्रः परमप्रतीतः कुलस्य वृद्धिं प्रति भूमिपालः ।

यथैव पुत्रप्रसवे ननन्द तथैव पौत्रप्रसवे ननन्द ॥२.४७

तब अभिलषित पुत्रवाले राजा को वंश-वृद्धि का पूरा विश्वास हुआ। जैसे वह पुत्र जन्म में आनन्दित हुआ था, वैसे ही पौत्र-जन्म में आनन्दित हुआ ॥47 ॥

पुत्रस्य मे पुत्रगतो ममेव स्नेहः कथं स्यादिति जातहर्षः ।

काले स तं तं विधिमाललम्बे पुत्रप्रियः स्वर्गमिवारुरुक्षन् ॥२.४८

"मेरे पुत्र को मेरे ही समान पुत्रगत स्नेह किस प्रकार होता होगा" यह सोचकर उसे हर्ष हुआ उस पुत्र-प्रिय ने मानो स्वर्गारोहण की इच्छा से समय पर उस-उस (धार्मिक) विधि का अवलम्बन किया ॥48 ॥

स्थित्वा पथि प्राथमकल्पिकानां राजर्षभाणां यशसान्वितानाम् ।

शुक्लान्यमुक्त्वापि तपांस्यतप्त यज्ञैश्च हिंसारहितैरयष्ट ॥२.४९

कृत-युग के यशस्वी नृप-श्रेष्ठ के पथ में रहते हुए, (गृहस्थाश्रम के) सफेद कपड़ों को नही छोड़ते हुए भी उसने तप किये और हिंसा-रहित यज्ञों से पूजा की ॥49 ॥

अजाज्वलिष्टाथ स पुण्यकर्मा नृपश्रिया चैव तपःश्रिया च ।

कुलेन वृत्तेन धिया च दीप्तस्तेजः सहस्रांशुरिवोत्सिसृक्षुः ॥२.५०

वह पुण्यकर्मा राज्य और तपस्या की श्री से प्रज्वलित हुआ; (अपने श्रेष्ठ) कुल आचार और बुद्धि से प्रदीप्त हुआ, जैसे सहस्र किरणोंवाले सूर्य के समान प्रकाश फैलाने की इच्छा कर रहा हो ॥50 ॥

स्वायम्भुवं चार्चिकमर्चयित्वा जजाप पुत्रस्थितये स्थितश्रीः ।

चकार कर्माणि च दुष्कराणि प्रजाः सिसृक्षुः क इवादिकाले ॥२.५१

उस स्थायी लक्ष्मीवाले (राजा) ने पुत्र के जीवन के लिए स्वयम्भू की पूजा की, जप किया और आदि युग में प्रजा सृजन करने को इच्छुक स्रष्टा के समान दुष्कर कर्म किये ॥51 ॥[20]

तत्याज शस्त्रं विममर्श शास्त्रं शमं सिषेवे नियमं विषेहे ।

वशीव कञ्चिद्विषयं न भेजे पितेव सर्वान्विषयान्ददर्श ॥२.५२

शस्त्र छोड़ा, शास्त्र विचारा, शम का सेवन किया, नियम को सहन किया, संयमी के समान किसी विषय का सेवन नही किया, पिता के समान सब विषयों (=देशों, प्रजासमूह) को देखा ॥52 ॥

बभार राज्यं स हि पुत्रहेतोः पुत्रं कुलार्थं यशसे कुलं तु ।

स्वर्गाय शब्दं दिवमात्महेतोर्धर्मार्थमात्मस्थितिमाचकाङ्क्ष ॥२.५३

[20]- "पुत्रस्थितये" का दूसरा अर्थ होगा "पुत्र के (घर में ही) रहने के लिए"।

उसने राज्य का पुत्र के लिए, पुत्र का कुल के लिए, कुल का यश के लिए पालन किया और यश की स्वर्ग के लिए, स्वर्ग की अपने लिए, अपने जीवन की धर्म के लिए आकाङ्क्षा की ॥53 ॥

एवं स धर्मं विविधं चकार सद्भिर्निपातं श्रुतितश्च सिद्धम् ।

दृष्ट्वा कथं पुत्रमुखं सुतो मे वनं न यायादिति नाथमानः ॥२.५४

इस प्रकार उसने भाँति भाँति का धर्म किया, सज्जन जिसका पालन करते हैं और जो श्रुति से सिद्ध है, यह प्रार्थना करते हुए कि "अपने पुत्र का मुख देखकर मेरा पुत्र किसी प्रकार वन को न जाय" ॥54 ॥

रिरक्षिषन्तः श्रियमात्मसंस्थां रक्षन्ति पुत्रान् भुवि भूमिपालाः ।

पुत्रं नरेन्द्रः स तु धर्मकामो ररक्ष धर्माद्विषयेषु मुञ्चन् ॥२.५५

पृथ्वी पर अपनी श्री की रक्षा चाहनेवाले भूपाल अपने पुत्रों की रक्षा करते हैं; किन्तु इस धर्माभिलाषी राजा ने अपने पुत्र को (इन्द्रिय-) विषयों में छोड़ते हुए उसकी धर्म से रक्षा की ॥55 ॥

वनमनुपमसत्त्वा बोधिसत्त्वास्तु सर्वे विषयसुखरसज्ञा जग्मुरुत्पन्नपुत्राः ।

अत उपचितकर्मा रूढमूलेऽपि हेतौ स रतिमुपसिषेवे बोधिमापन्न यावत् ॥२.५६

अनुपम स्वभाववाले सब बोधिसत्त्व विषय-सुख का रस जानकर, पुत्र उत्पन्न होनेपर, वन को गये; अत: (राग, द्वेष, मोह को क्षीण करनेवाले) कर्मों के इकट्ठे होने से (कल्याण का) हेतु रूढ़मूल (=सुदृढ़) होनेपर भी, उसने बुद्धत्व पाने तक विषयों को कुछ-कुछ सेवन किया ॥56 ॥[21]

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽन्तःपुरविहारो नाम द्वितीयः सर्गः ॥२ ॥

तृतीय सर्ग

संवेग-उत्पत्ति

ततः कदाचिन्मृदुशाद्वलानि पुंस्कोकिलोन्नादितपादपानि ।

शुश्राव पद्माकरमण्डितानि गीतैर्निबद्धानि स काननानि ॥३.१

तब एक बार उसने गीत-निबद्ध काननों के बारे में सुना, जो मृदु और हरे तृणों से युक्त थे, जिनके पेड़े कोयलों से निनादित थे और जो कमल के पोखरों से मण्डित थे ॥1 ॥

श्रुत्वा ततः स्त्रीजनवल्लभानां मनोज्ञभावं पुरकाननानाम् ।

बहिःप्रयाणाय चकार बुद्धिमन्तर्गृहे नाग इवावरुद्धः ॥३.२

तब स्त्रियों के प्रिय पुर-काननों की मनोहरता सुनकर, घर के भीतर बँधे हाथी के समान उसने बाहर जाने का विचार किया ॥2 ॥

ततो नृपस्तस्य निशम्य भावं पुत्राभिधानस्य मनोरथस्य ।

स्नेहस्य लक्ष्म्या वयसश्च योग्यामाज्ञापयामास विहारयात्राम् ॥३.३

[21]- बोधिसत्त्व = बोधि अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त करनेवाला प्राणी; वह व्यक्ति, जिसे बुद्धत्व प्राप्त होगा।

तब पुत्र-नामक उस मनोरथ का विचार सुनकर, राजा से स्नेह, लक्ष्मी और वयस के योग्य विहार-यात्रा की आज्ञा दी ॥3 ॥

निवर्तयामास च राजमार्गे सम्पातमार्तस्य पृथग्जनस्य ।
मा भूत्कुमारः सुकुमारचित्तः संविग्नचेता इति मन्यमानः ॥३.४

और, राजमार्ग पर आर्त जनता का निकलना रोक दिया गया, यह सोचते हुए कि सुकुमार मनवाले कुमार के चित्त में कहीं संवेग न हो जाय ॥4 ॥

प्रत्यङ्गहीनान्विकलेन्द्रियांश्च जीर्णातुरादीन् कृपणांश्च दिक्षु ।
ततः समुत्सार्य परेण साम्ना शोभां परा राजपथस्य चक्रुः ॥३.५

अङ्ग-हीनों, विकलेन्द्रियों, वृद्धों, आतुर आदि लोगों तथा बेचारों को सब ओर परम शान्ति से हटा कर, उन (राज-पुरुषों) ने राज-पथ की परम शोभा की ॥5 ॥

ततः कृते श्रीमति राजमार्गे श्रीमान्विनीतानुचरः कुमारः ।
प्रासादपृष्ठादवतीर्य काले कृताभ्यनुज्ञो नृपमभ्यगच्छत् ॥३.६

तब राज मार्ग शोभा-युक्त किया जानेपर, आज्ञा पाकर, श्रीमान् कुमार विनीत अनुचरों के साथ प्रासाद पर से समय पर नीचे उतरा और राजा के समीप गया ॥6 ॥

अथो नरेन्द्रः सुतमागताश्रुः शिरस्युपाघ्राय चिरं निरीक्ष्य ।
गच्छेति चाज्ञापयति स्म वाचा स्नेहान्न चैनं मनसा मुमोच ॥३.७

तब राजा ने, जिसे आँसू आ गये थे, पुत्र के शिर को सूँघकर उसे देर तक देखा और "जाओ" कहते हुए आज्ञा दी, किन्तु स्नेह-वश उसे मन से नही छोड़ा ॥7 ॥

ततः स जाम्बूनदभाण्डभृद्भिर्युक्तं चतुर्भिर्निभृतैस्तुरङ्गैः ।
अक्लीबविद्वच्छुचिरश्मिधारं हिरण्मयं स्यन्दनमारुरोह ॥३.८

तब वह सुवर्ण आभरण धारण करनेवाले चार शिक्षित तुरङ्गों से युक्त सुवर्ण-रथ पर सवार हुआ, जिसका सारथि बलवान्, विद्वान् और पवित्र था ॥8 ॥

ततः प्रकीर्णोज्ज्वलपुष्पजालं विषक्तमाल्यं प्रचलत्पताकम् ।
मार्गं प्रपेदे सदृशानुयात्रश्चन्द्रः सनक्षत्र इवान्तरीक्षम् ॥३.९

तब जिस मार्ग पर उजले फूल बिखरे हुए थे, मालाएँ लटक रही थीं, और पताकाएँ फहरा रही थीं उसपर वह योग्य अनुचरों के साथ आया, जैसे आकाश में नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा (आवे) ॥9 ॥

कौतूहलात्स्फीततरैश्च नेत्रैर्नीलोत्पलार्धैरिव कीर्यमाणम् ।
शनैः शनै राजपथं जगाहे पौरैः समन्तादभिवीक्ष्यमाणः ॥३.१०

कौतूहल से अति विकसित आँखें, जो आधे-आधे नीले कमलों के समान थीं, जिस राज-पथ पर बिखर रही थीं उसपर चारों ओर पुरवासियों द्वारा देखे जाते हुए उसने धीरे-धीरे प्रवेश किया ॥10 ॥

तं तुष्टुवुः सौम्यगुणेन केचिद्ववन्दिरे दीप्ततया तथान्ये ।
सौमुख्यतस्तु श्रियमस्य केचिद्वैपुल्यमाशंसिषुरायुषश्च ॥३.११

कतिपयों ने उनके सौम्य-गुण के लिए उसकी स्तुति की तथा दूसरों ने दीप्ति के लिए उसकी वन्दना की; किन्तु उसकी अनुकूलता के कारण कतिपयों ने उसके लिए लक्ष्मी और दीर्घायु कामना की ॥11 ॥

निःसृत्य कुब्जाश्च महाकुलेभ्यो व्यूहाश्च कैरातकवामनानाम् ।
नार्यः कृशेभ्यश्च निवेशनेभ्यो देवानुयानध्वजवत्प्रणेमुः ॥३.१२

बड़े-बड़े कुलों के झुण्ड-के-झुण्ड कुबड़े किरात व वामन तथा छोटे-छोटे घरों से स्त्रियाँ निकल आईं। उन सबने उसे वैसे ही प्रणाम किया, जैसे (इन्द्र-) देव की ध्वजा को ॥12 ॥

ततः कुमारः खलु गच्छतीति श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ।
दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुर्जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥३.१३

तब "कुमार जा रहा है" यह समाचार नौकरों से सुनकर स्त्रियों गुरु-जन से आज्ञा पाकर, उसे देखने की इच्छा से प्रासाद-तल पर गईं ॥13 ॥

ताः स्रस्तकाञ्चीगुणविघ्निताश्च सुप्तप्रबुद्धाकुललोचनाश्च ।
वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृताः परीयुः ॥३.१४

गिरती करधनी से उन्हें बाधा हुई, सोकर उठने से उनकी आँखें आकुल थीं, समाचार सुनकर उन्होंने गहने पहने, कौतूहल के कारण अविनीत होकर वे गईं ॥14 ॥

प्रासादसोपानतलप्रणादैः काञ्चीरवैर्नूपुरनिस्वनैश्च ।
वित्रासयन्त्यो गृहपक्षिसङ्घानन्योन्यवेगांश्च समाक्षिपन्त्यः ॥३.१५

महल के सोपान पर पद-तलों के निनाद से, करधनियों के शब्द से और नूपुरों की ध्वनियों से घरेलू पक्षियों के झुण्डों को डराती हुई तथा एक दूसरे के वेगपर आपेक्ष करती हुई (वे गईं) ॥15 ॥

कासाञ्चिदासां तु वराङ्गनानां जातत्वराणामपि सोत्सुकानाम् ।
गतिं गुरुत्वाज्जगृहुर्विशालाः श्रोणीरथाः पीनपयोधराश्च ॥३.१६

उत्सुक होकर शीघ्रता करनेपर भी उन उत्तम स्त्रियों में से कतिपयों की गति को उनके अपने ही विशाल नितम्बों और पीन पयोधरों ने रोका ॥16 ॥

शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गतिं निजग्राह ययौ न तूर्णम् ।
ह्रियाप्रगल्भा विनिगूहमाना रहःप्रयुक्तानि विभूषणानि ॥३.१७

शीघ्र जाने में समर्थ होनेपर भी दूसरी ने अपनी चाल को रोक लिया और वह तेजी से नही गई, वह सङ्कोचशीला एकान्त में पहने गहनों को लाज से छिपाने लगी ॥17 ॥

परस्परोत्पीडनपिण्डितानां सम्मर्दसंक्षोभितकुण्डलानाम् ।
तासां तदा सस्वनभूषणानां वातायनेष्वप्रशमो बभूव ॥३.१८

परस्पर उत्पीड़ित होती हुई वे इकट्ठी हुईं, एक दूसरे की रगड़ से उनके कुण्डल चञ्चल हुए, उनके गहने बज रहे थे। अत: उस समय खिड़कियों पर अशान्ति हुई ॥18 ॥

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि ।

स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥३.१९

खिड़कियों से निकले हुए स्त्रियों के मुख-कमल, जो एक-दूसरें के कुण्डल संक्षुब्ध कर रहे थे, ऐसे शोभित हुए जैसे महलों में कमल लगे हों ॥19 ॥

ततो विमानैर्युवतीकरालैः कौतूहलोद्घाटितवातयानैः ।

श्रीमत्समन्तान्नगरं बभासे वियद्विमानैरिव साप्सरोभिः ॥३.२०

तब उन विमानों (महलों) से, युवतियों से दन्तुर लगते थे (अर्थात् दाँत निकालकर हँस रह थे) और कौतूहल से जिनके झरोखे खोल दिये गये थे, वह श्री-सम्पन्न नगर चारों ओर इस प्रकार भासित हुआ जिस प्रकार अप्सरा-युक्त देव-प्रासादों से स्वर्ग ॥20 ॥

वातायनानामविशालभावादन्योन्यगण्डार्पितकुण्डलानाम् ।

मुखानि रेजुः प्रमदोत्तमानां बद्धाः कलापा इव पङ्कजानाम् ॥३.२१

खिड़कियाँ बड़ी-बड़ी नही होने के कारण जो उत्तम प्रमदाएँ एक दूसरें के गालों पर अपने कुण्डल रक्खे हुई थीं, उनके मुख ऐसे विराजे, जैसे कमलों के बँधे हुए गुच्छे हों ॥21 ॥

तं ताः कुमारं पथि वीक्षमाणाः स्त्रियो बभुर्गामिव गन्तुकामाः ।

ऊर्ध्वोन्मुखाश्चैनमुदीक्षमाणा नरा बभुर्द्यामिव गन्तुकामाः ॥३.२२

उस कुमार को मार्ग में जाते देखकर स्त्रियों ने मानो (महलों से) पृथ्वी पर आने की कामना की और ऊपर मुख उठाकर उसे देखते हुए पुरुषों ने मानो आकाश में जाने की कामना की ॥22 ॥

दृष्ट्वा च तं राजसुतं स्त्रियस्ता जाज्वल्यमानं वपुषा श्रिया च ।

धन्यास्य भार्येति शनैरवोचञ्शुद्धैर्मनोभिः खलु नान्यभावात् ॥३.२३

सौन्दर्य और विभूति से चमकते हुए राजा के उस पुत्र को देखकर स्त्रियों ने शुद्ध मन से, निश्चय ही अन्य भाव से नही, धीरे-धीरे कहा—"धन्य है इसकी भार्या" ॥23 ॥

अयं किल व्यायतपीनबाहू रूपेण साक्षादिव पुष्पकेतुः ।

त्यक्त्वा श्रियं धर्ममुपैष्यतीति तस्मिन् हि ता गौरवमेव चक्रुः ॥३.२४

लम्बी और मोटी बाहुवाला यह कुमार, जो रूप में साक्षात् पुष्केतु (कामदेव) के समान है, लक्ष्मी को छोड़कर धर्म के समीप जायगा—इस प्रकार उन्होंने उसका गौरव ही किया ॥24 ॥

कीर्णं तथा राजपथं कुमारः पौरैर्विनीतैः शुचिधीरवेषैः ।

तत्पूर्वमालोक्य जहर्ष किञ्चिन्मेने पुनर्भावमिवात्मनश्च ॥३.२५

शुचि और धीर वेषवाले विनीत पुर-वासियों से उस प्रकार भरे हुए राज-पथ को पहले पहल देखकर, वह प्रसन्न हुआ और उसने अपना कुछ पुनर्जन्म सा माना ॥25 ॥

पुरं तु तत्स्वर्गमिव प्रहृष्टं शुद्धाधिवासाः समवेक्ष्य देवाः ।

जीर्णं नरं निर्ममिरे प्रयातुं सञ्चोदनार्थं क्षितिपात्मजस्य ॥३.२६

उस नगर को स्वर्ग के समान प्रसन्न देखकर, शुद्धाधिवास देवों ने एक वृद्ध पुरुष को बनाया कि वह राजा के पुत्र को (घर से वन को) प्रयाण करने के लिए प्रेरित करे ॥26 ॥

ततः कुमारो जरयाभिभूतं दृष्ट्वा नरेभ्यः पृथगाकृतिं तम् ।

उवाच सङ्ग्राहकमागतास्थस्तत्रैव निष्कम्पनिविष्टदृष्टिः ॥३.२७

तब कुमार ने जरा (=वृद्धावस्था) से अभिभूत उस पुरुष को जिसकी आकृति (अन्य) पुरुषों से पृथक् थी, देखा और उसी को निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए ध्यान में आकर उसने सारथि से कहा:— ॥27 ॥

क एष भोः सूत नरोऽभ्युपेतः केशैः सितैर्यष्टिविषक्तहस्तः ।

भ्रूसंवृताक्षः शिथिलानताङ्गः किं विक्रियैषा प्रकृतिर्यदृच्छा ॥३.२८

"हे सारथि, यह कौन पुरुष आया? इसके केश सफेद हैं, हाथ में लाठी है, भौंहों से आँखें ढकी हैं, अङ्ग ढीले व झुके हैं। क्या यह विकार है? या स्वभाव? या संयोग?" ॥28 ॥

इत्येवमुक्तः स रथप्रणेता निवेदयामास नृपात्मजाय ।

संरक्ष्यमप्यर्थमदोषदर्शी तैरेव देवैः कृतबुद्धिमोहः ॥३.२९

ऐसा कहे जानेपर उस सारथि ने राजा के पुत्र से गोपनीय बात भी निवेदन कर दी, इसमें अपना दोष नही देखा, उन्हीं देवों ने उसका बुद्धि-मोह जो कर दिया था ॥29 ॥

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनिर्निधनं रतीनाम् ।

नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम ययैष भग्नः ॥३.३०

"रूप की हत्या करनेवाली, बल की विपत्ति, शोक की उत्पत्ति (-भूमि) आनन्द की मृत्यु, स्मृति का नाश करनेवाली, इन्द्रियों का शत्रु यह जरा है, जिसने इसे भग्न कर दिया है ॥30 ॥

पीतं ह्यनेनापि पयः शिशुत्वे कालेन भूयः परिसृप्तमुर्व्याम् ।

क्रमेण भूत्वा च युवा वपुष्मान् क्रमेण तेनैव जरामुपेतः ॥३.३१

बचपन में इसने भी दूध पिया, फिर काल-क्रम से पृथिवी पर पेट के बल चला, क्रम से सुन्दर युवक हुआ, और उसी क्रम से जरा को प्राप्त हुआ है" ॥31 ॥

इत्येवमुक्ते चलितः स किञ्चिद्राजात्मजः सूतमिदं बभाषे ।

किमेष दोषो भविता ममापीत्यस्मै ततः सारथिरभ्युवाच ॥३.३२

ऐसा कहे जानेपर कुछ विचलित होकर उस राजात्मज ने सारथि से कहा—"क्या यह दोष मुझे भी होगा?" तब सारथि ने उसे कहा:— ॥32 ॥

आयुष्मतोऽप्येष वयःप्रकर्षो निःसंशयं कालवशेन भावी ।

एवं जरां रूपविनाशयित्रीं जानाति चैवेच्छति चैव लोकः ॥३.३३

"आप आयुष्मान् की भी यह वृद्धावस्था कालवश निःसन्देह होगी। ऐसी रूप-विनाशिनी जरा को लोग जानते हैं और इसे चाहते हैं" ॥33॥

ततः स पूर्वाशयशुद्धबुद्धिर्विस्तीर्णकल्पाचितपुण्यकर्मा।

श्रुत्वा जरां संविविजे महात्मा महाशनेर्घोषमिवान्तिके गौः ॥३.३४

तब वह महात्मा, पूर्व के विचारों से जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी, और अनेक कल्पों में जिसके पुण्य कर्म एकत्र हुए थे, जरा को सुनकर वैसे ही संविग्न हुआ, जैसे समीप में महावज्र का शब्द सुनकर गाय ॥34॥

निःश्वस्य दीर्घं स्वशिरः प्रकम्प्य तस्मिंश्च जीर्णे विनिवेश्य चक्षुः।

तां चैव दृष्ट्वा जनतां सहर्षां वाक्यं स संविग्न इदं जगाद ॥३.३५

लम्बी साँसे लेकर, अपना शिर कँपाकर, उस वृद्ध की ओर दृष्टि लगाये हुए, उस जनता को प्रसन्न देखकर, उस संविग्न ने यह वाक्य कहा:– ॥35॥

एवं जरा हन्ति च निर्विशेषं स्मृतिं च रूपं च पराक्रमं च।

न चैव संवेगमुपैति लोकः प्रत्यक्षतोऽपीदृशमीक्षमाणः ॥३.३६

"इस प्रकार जरा, स्मृति रूप और पराक्रम की बिना भेद-भाव के हत्या करती है; और प्रत्यक्ष ऐसा देखते हुए भी लोगों को संवेग नही होता ॥36॥

एवं गते सूत निवर्तयाश्वान् शीघ्रं गृहाण्येव भवान्प्रयातु।

उद्यानभूमौ हि कुतो रतिर्मे जराभये चेतसि वर्तमाने ॥३.३७

ऐसा होनेपर, हे सारथि, घोड़ों को लौटाइये, शीघ्र घर को ही आप चलें; चित्त में जरा का भय रहनेपर उद्यान-भूमि में मुझे कहाँ से आनन्द होगा?" ॥37॥

अथाज्ञया भर्तृसुतस्य तस्य निवर्तयामास रथं नियन्ता।

ततः कुमारो भवनं तदेव चिन्तावशः शून्यमिव प्रपेदे ॥३.३८

अनन्तर उस स्वामि पुत्र की आज्ञा से सारथि ने रथ को लौटाया। तब कुमार उसी महल में पहुँचा, जो उस चिन्तित के लिए शून्य-सा था ॥38॥

यदा तु तत्रैव न शर्म लेभे जरा जरेति प्रपरीक्षमाणः।

ततो नरेन्द्रानुमतः स भूयः क्रमेण तेनैव बहिर्जगाम ॥३.३९

"जरा-जरा (क्या है)" इस प्रकार (इसे) परखते हुए जब उसने वहाँ भी शान्ति नही पाई, तब राजा की अनुमति से वह फिर उसी क्रम से बाहर गया ॥39॥

अथापरं व्याधिपरीतदेहं त एव देवाः ससृजुर्मनुष्यम्।

दृष्ट्वा च तं सारथिमाबभाषे शौद्धोदनिस्तद्गतदृष्टिरेव ॥३.४०

तब उन्हीं देवों ने रोग से ग्रस्त देहवाले दूसरे मनुष्य का सृजन किया और उसे देखकर शुद्धोदन के पुत्र ने उसी की ओर दृष्टि किये हुए सारथि से कहा:– ॥40॥

स्थूलोदरः श्वासचलच्छरीरः स्रस्तांसबाहुः कृशपाण्डुगात्रः।

अम्बेति वाचं करुणं ब्रुवाणः परं समाश्रित्य नरः क एषः ॥३.४१

"यह कौन मनुष्य है? इसका पेट फूला हुआ है, साँस से शरीर काँप रहा है, कन्धे और बाहुएँ ढीली हैं, गात दुबला और पीला है। दूसरे का सहारा लेकर करुण स्वर से 'माँ माँ' कह रहा है" ॥41॥

ततोऽब्रवीत्सारथिरस्य सौम्य धातुप्रकोपप्रभवः प्रवृद्धः।

रोगाभिधानः सुमहाननर्थः शक्तोऽपि येनैष कृतोऽस्वतन्त्रः ॥३.४२

तब सारथि ने इसे कहा–"हे सौम्य (त्रि-) धातु-प्रकोप से उत्पन्न होकर बढ़ा हुआ यह रोगनामक महा-अनर्थ है, जिसने इस शक्तिमान् को भी परतन्त्र कर दिया है" ॥42॥[22]

इत्यूचिवान् राजसुतः स भूयस्तं सानुकम्पो नरमीक्षमाणः।

अस्यैव जातो पृथगेष दोषः सामान्यतो रोगभयं प्रजानाम् ॥३.४३

उस मनुष्य को अनुकम्पा के साथ देखते हुए उस नृपात्मज ने पुनः पूछा–"यह दोष केवल इसी को हुआ है या रोग का भय समान रूप से (सब) प्रजाओं को है?" ॥43॥

ततो बभाषे स रथप्रणेता कुमार साधारण एष दोषः।

एवं हि रोगैः परिपीड्यमानो रुजातुरो हर्षमुपैति लोकः ॥३.४४

तब वह सारथि बोला–"हे कुमार, यह दोष साधारण है। इस प्रकार रोगों से परिपीड़ित होता हुआ, कष्ट से आतुर संसार हर्ष को प्राप्त होता है" ॥44॥

इति श्रुतार्थः स विषणचेताः प्रावेपताम्बूर्मिगतः शशीव।

इदं च वाक्यं करुणायमानः प्रोवाच किञ्चिन्मृदुना स्वरेण ॥३.४५

यह व्याख्या सुनकर, वह विषण्ण-चित्त (हो गया और) जल-तरङ्ग में पड़ते चन्द्र (-प्रतिबिम्ब) के समान काँपने लगा और दया से द्रवीभूत होते हुए उसने कुछ मृदु स्वर से यह वाक्य कहा:– ॥45॥

इदं च रोगव्यसनं प्रजानां पश्यंश्च विश्रम्भमुपैति लोकः।

विस्तीर्णविज्ञानमहो नराणां हसन्ति ये रोगभयैरमुक्ताः ॥३.४६

"प्रजाओं की यह रोगरूप विपत्ति देखते हुए भी संसार विश्वस्त (=निर्भीक) रहता है। अहो, (कितना) विशाल अज्ञान है (इन) मनुष्यों का, जो रोग-भय से अमुक्त होकर भी हँस रहे हैं ॥46॥

निवर्त्यतां सूत बहिःप्रयाणान्नरेन्द्रसद्मैव रथः प्रयातु।

श्रुत्वा च मे रोगभयं रतिभ्यः प्रत्याहतं सङ्कुचतीव चेतः ॥३.४७

हे सारथि, बाहर जाने से रथ को लौटाइये, यह राज-महल को ही चले। और रोग-भय सुनकर विषयों से प्रत्याहत मेरा मन सिकुड़-सा रहा है" ॥47॥

---

[22]- त्रिधातु = कफ, पित्त, वायु।

ततो निवृत्तः स निवृत्तहर्षः प्रध्यानयुक्तः प्रविवेश वेश्म ।
तं द्विस्तथा प्रेक्ष्य च सन्निवृत्तं पर्येषणं भूमिपतिश्चकार ॥३.४८

तब हर्ष-रहित होकर वह लौटा, चिन्तित होकर अपने महल में घुसा। और, उसे दो बार उस प्रकार लौटा देखकर, राजा ने जिज्ञासा की ॥48 ॥

श्रुत्वा निमित्तं तु निवर्तनस्य सन्त्यक्तमात्मानमनेन मेने ।
मार्गस्य शौचाधिकृताय चैव चुक्रोश रुष्टोऽपि च नोग्रदण्डः ॥३.४९

लौटने का कारण सुनकर उसने अपने को उससे परित्यक्त माना। और मार्ग के शौचाधिकारी की भर्त्सना की, रुष्ट होनेपर भी वह उग्रदण्ड नही हुआ अर्थात् कठोर दण्ड नही दिया ॥49 ॥

भूयश्च तस्मै विदधे सुताय विशेषयुक्तं विषयप्रचारम् ।
चलेन्द्रियत्वादपि नाम सक्तो नास्मान्विजह्यादिति नाथमानः ॥३.५०

और फिर उस पुत्र के लिए विशेष विषय-सेवन का प्रबन्ध किया, इस आशा से कि—"शायद इन्द्रिय-चञ्चलता के कारण (विषयों में) आसक्त होकर (यह) हमें न छोड़े" ॥50 ॥

यदा च शब्दादिभिरिन्द्रियार्थैरन्तःपुरे नैव सुतोऽस्य रेमे ।
ततो बहिर्व्यादिशति स्म यात्रां रसान्तरं स्यादिति मन्यमानः ॥३.५१

और जब शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों से अन्त:पुर में उसके पुत्र को आनन्द नही हुआ, तब (राजा ने) बाहर यात्रा करने का आदेश दिया, यह समझते हुए कि (इससे कहीं) रुचि-परिवर्तन हो जाय ॥51 ॥

स्नेहाच्च भावं तनयस्य बुद्ध्वा स रागदोषानविचिन्त्य कांश्चित् ।
योग्याः समाज्ञापयति स्म तत्र कलास्वभिज्ञा इति वारमुख्याः ॥३.५२

और स्नेह से पुत्र का भाव समझकर तथा राग के किन्हीं दोषों का बिना विचार किए ही उसने कलाओं में निपुण योग्य वारमुख्यों (=सम्मानित वेश्याओं) को वहाँ (रहने की) आज्ञा दी ॥52 ॥

ततो विशेषेण नरेन्द्रमार्गे स्वलङ्कृते चैव परीक्षिते च ।
व्यत्यस्य सूतं च रथं च राजा प्रस्थापयामास बहिः कुमारम् ॥३.५३

तब विशेषता के साथ राज-मार्ग अलङ्कृत और परीक्षित होनेपर, सारथि एवं रथ को बदलकर राजा ने कुमार को बाहर प्रस्थान कराया ॥53 ॥

ततस्तथा गच्छति राजपुत्रे तैरेव देवैर्विहितो गतासुः ।
तं चैव मार्गे मृतमुह्यमानं सूतः कुमारश्च ददर्श नान्यः ॥३.५४

जब राजा का पुत्र उस प्रकार जा रहा था, तब उन्हीं देवों ने एक निष्प्राण (व्यक्ति) को बनाया। और, मार्ग में ढोये जाते उस मरे हुए को सारथि और कुमार ने देखा, दूसरे किसी ने नहीं ॥54 ॥

अथाब्रवीद्राजसुतः स सूतं नरैश्चतुर्भिर्ह्रियते क एषः ।
दीनैर्मनुष्यैरनुगम्यमानो (वि)भूषितश्चाप्यवरुद्यते च ॥३.५५

तब उस राज-कुमार ने सारथि से कहा—"यह कौन है? इसे चार पुरुष लिये जा रहे हैं, दीन मनुष्य इसके पीछे-पीछे जा रहे हैं, और विशेषता से भूषित होनेपर भी इसके लिए रोया जा रहा है" ॥55 ॥

ततः स शुद्धात्मभिरेव देवैः शुद्धाधिवासैरभिभूतचेताः ।
अवाच्यमप्यर्थमिमं नियन्ता प्रव्याजहारार्थवदीश्वराय ॥३.५६

तब शुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवास देवों ने जिसका चित्त अभिभूतकर दिया था उस सारथि ने यह अवाच्य बात भी (उस) पर-श्रेष्ठ से कही:— ॥56 ॥

बुद्धीन्द्रियप्राणगुणैर्वियुक्तः सुप्तो विसञ्ज्ञस्तृणकाष्ठभूतः ।
सम्वर्ध्य संरक्ष्य च यत्नवद्भिः प्रियाप्रियैस्त्यज्यत एष कोऽपि ॥३.५७

"यह कोई है, जो बुद्धि इन्द्रियों प्राणों और गुणों से वियुक्त, (सदा के लिए) सोया हुआ और सञ्ज्ञा-हीन है, तथा तृण एवं काष्ठ (के समान) हो गया है। प्रयत्नपूर्वक संवर्धन और संरक्षण करके भी प्रिय (स्व-) जन इसे छोड़ रहे हैं" ॥57 ॥

इति प्रणेतुः स निशम्य वाक्यं सञ्चुक्षुभे किञ्चिदुवाच चैनम् ।
किं केवलोऽस्यैव जनस्य धर्मः सर्वप्रजानामयमीदृशोऽन्तः ॥३.५८

सारथि का वाक्य सुनकर, वह कुछ संक्षुब्ध हुआ और उसे कहा—"क्या यह धर्म केवल इसी मनुष्य का है या सब प्रजाओं (=जीवों) का अन्त ऐसा ही है?" ॥58 ॥

ततः प्रणेता वदति स्म तस्मै सर्वप्रजानामिदमन्तकर्म ।
हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ॥३.५९

तब सारथि ने उससे कहा—"सब प्रजाओं (=जीवों) का यह अन्तिम कर्म है। हीन मध्य या महात्मा का, संसार मे सबका, विनाश नियत है" ॥59 ॥

ततः स धीरोऽपि नरेन्द्रसूनुः श्रुत्वैव मृत्युं विषसाद सद्यः ।
अंसेन संश्लिष्य च कूबराग्रं प्रोवाच निह्रादवता स्वरेण ॥३.६०

तब धीर होनेपर भी उस राजकुमार को, मृत्यु (की बात) सुनकर, तुरत विषाद हो गया। और कन्धे से कूबर[23] के अग्रभाग का सहारा लेकर, उसने गम्भीर स्वर से कहा:— ॥60 ॥

इयं च निष्ठा नियता प्रजानां प्रमाद्यति त्यक्तभयश्च लोकः ।
मनांसि शङ्के कठिनानि नृणां स्वस्थास्तथा ह्यध्वनि वर्तमानाः ॥३.६१

"प्रजाओं का यह विनाश नियत है और संसार भय छोड़कर असावधानी कर रहा है। मनुष्यों के मन, मैं सोचता हूँ, कठोर हैं, क्योंकि (मृत्यु-) मार्ग में रहते हुए वे उस प्रकार सुखी हैं ॥61 ॥

तस्माद्रथं सूत निवर्त्यतां नो विहारभूमेर्न हि देशकालः ।
जानन्विनाशं कथमार्त्तिकाले सचेतनः स्यादिह हि प्रमत्तः ॥३.६२

---

[23]- **कूबर = रथ का कोई भाग।**

इसलिए, हे सारथि, हमारे रथ को लौटाइये, विहार-भूमि (में जाने) का (यह) देश-काल नही है। अपना विनाश जानता हुआ (कोई भी) बुद्धिमान् सङ्कट-काल में कैसे असावधान हो सकता है?" ॥62॥

इति ब्रुवाणेऽपि नराधिपात्मजे निवर्तयामास स नैव तं रथम्।
विशेषयुक्तं तु नरेन्द्रशासनात्स पद्मषण्डं वनमेव निर्ययौ ॥३.६३

राज-पुत्र के ऐसा बोलते रहनेपर भी उसने रथ को नही लौटाया, किन्तु राजा की आज्ञा से वह पद्मषण्ड वन को निकल गया, जो विशेषता से युक्त था ॥63॥

ततः शिवं कुसुमितबालपादपं परिभ्रमत्प्रमुदितमत्तकोकिलम्।
विमानवत्स कमलचारुदीर्घिकं ददर्श तद्वनमिव नन्दनं वनम् ॥३.६४

तब उसने कुसुमित बाल-पादपों, घूमते हुए प्रमुदित मत्त कोकिलों, विमानों, तथा कमलों के सुन्दर पोखरों से युक्त उस भव्य वन को देखा, जो नन्दन-वन के समान था ॥64॥

वराङ्गनागणकलिलं नृपात्मजस्ततो बलाद्वनमतिनीयते स्म तत्।
वराप्सरोवृतमलकाधिपालयं नवव्रतो मुनिरिव विघ्नकातरः ॥३.६५

तब श्रेष्ठ स्त्रियों से भरे वन में राजा का पुत्र बलात् ले जाया गया, जैसे श्रेष्ठ अप्सराओं से पूर्ण कुबेर-प्रासाद में नया व्रतवाला विघ्न-कातर मुनि (बलात् ले जाया जा रहा हो) ॥65॥[24]

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये संवेगौत्पत्तिर्नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

चतुर्थ सर्ग

स्त्री-निवारण

ततस्तस्मात्पुरोद्यानात्कौतूहलचलेक्षणाः।
प्रत्युज्जग्मुर्नृपसुतं प्राप्तं वरमिव स्त्रियः ॥४.१

तब उस नगर-उद्यान से निकलकर कौतूहल से चञ्चल आँखोंवाली स्त्रियों ने राजा के पुत्र की, मानो आये हुए वर की, अगवानी की ॥1॥

अभिगम्य च तास्तस्मै विस्मयोत्फुल्ललोचनाः।
चक्रिरे समुदाचारं पद्मकोशनिभैः करैः ॥४.२

समीप आकर उन्होंने, जिनकी आँखें विस्मय से विकसित हो गईं, पद्मकोश-सदृश हाथों (के सम्पुटों) से उसका सत्कार किया ॥2॥

तस्थुश्च परिवार्यैनं मन्मथाक्षिप्तचेतसः।
निश्चलैः प्रीतिविकचैः पिबन्त्य इव लोचनैः ॥४.३

और काम से आकृष्ट चित्तवाली वे (स्त्रियाँ) उसे घेरकर प्रीति से विकसित हुइ निश्चल आँखों से उसे मानो पीती रहीं (अर्थात् उसकी रूप-सुधा का पान करती रहीं) ॥3॥

तं हि ता मेनिरे नार्यः कामो विग्रहवानिति।
शोभितं लक्षणैर्दीप्तैः सहजैर्भूषणैरिव ॥४.४

उज्जवल लक्षणों से, मानो स्वभाविक भूषणों से, शोभित उस (कुमार) को उन नारियों ने मूर्त्त कामदेव माना ॥4॥

सौम्यत्वाच्चैव धैर्याच्च काश्चिदेनं प्रजज्ञिरे।
अवतीर्णो महीं साक्षाद्गूढांशुश्चन्द्रमा इव ॥४.५

उसकी सौम्यता और धैर्य से कतिपयों ने उसे पृथ्वी पर अवतीर्ण साक्षात् चन्द्रमा माना, जिसकी किरणें गुप्त थीं ॥5॥

तस्य ता वपुषाक्षिप्ता निगृहीतुं जजृम्भिरे।
अन्योन्यं दृष्टिभिर्हत्वा शनैश्च विनिशश्वसुः ॥४.६

उसके रूप से आकृष्ट होकर, उन्होंने (हाथों से मुँह) पकड़े हुए जँभाई ली और एक दूसरे के ऊपर दृष्टि से प्रहार कर धीरे-धीरे साँसें लीं ॥6॥

एवं ता दृष्टिमात्रेण नार्यो ददृशुरेव तम्।
न व्याजह्रुर्न जहसुः प्रभावेणास्य यन्त्रिताः ॥४.७

इस प्रकार उन स्त्रियों ने केवल आँखों से उसे देखा और उसके प्रभाव के वश में होकर, वे न (कुछ) बोलीं, न हँसीं ॥7॥

तास्तथा तु निरारम्भा दृष्ट्वा प्रणयविक्लवाः।
पुरोहितसुतो धीमानुदायी वाक्यमब्रवीत् ॥४.८

उन्हें उस प्रकार से (कुछ) आरम्भ नहीं करती तथा प्रेमविह्वल देखकर, पुरोहित-पुत्र बुद्धिमान् उदायी ने ये वचन कहे:– ॥8॥

सर्वाः सर्वकलाज्ञाः स्थ भावग्रहणपण्डिताः।
रूपचातुर्यसम्पन्नाः स्वगुणैर्मुख्यतां गताः ॥४.९

"तुम सब सब कलाओं में निपुण हो, भाव जानने में निपुण हो, रूप और चतुराई से युक्त हो, अपने गुणों से मुख्यता को प्राप्त हो ॥9॥

शोभयेत गुणैरेभिरपि तानुत्तरान् कुरून्।
कुवेरस्यापि चाक्रीडं प्रागेव वसुधामिमाम् ॥४.१०

[24]- विघ्न-कातर = विघ्न (पड़ने के भय) से कातर।

इन गुणों से उत्तरकुरुओं को भी शोभित कर सकती हो, कुबेर के उद्यान को भी, इस वसुधा को तो पहले ही ॥10॥[25]

शक्ताश्चालयितुं यूयं वीतरागानृषीनपि ।
अप्सरोभिश्च कलितान् ग्रहीतुं विबुधानपि ॥४.११

तुम लोग वीतराग ऋषियों को भी चलायमान कर सकती हो और अप्सराओं के वशीभूत देवों को भी आकृष्ट कर सकती हो ॥11॥

भावज्ञानेन हावेन रूपचातुर्यसम्पदा ।
स्त्रीणामेव च शक्ताः स्थ संरागे किं पुनर्नृणाम् ॥४.१२

भाव-ज्ञान से, हाथ-भाव से, तथा रूप व चतुरता की सम्पत्ति से स्त्रियों को भी अनुरक्त कर सकती हो, फिर पुरुषों का क्या कहना ॥12॥

तासामेवंविधानां वो नियुक्तानां स्वगोचरे ।
इयमेवंविधा चेष्टा न तुष्टोऽस्म्यार्जवेन वः ॥४.१३

ऐसी तुम लोगों में से उनका, जो अपने अपने विषय (=अधिकार-क्षेत्र) में जुट नही रही हैं, यह ऐसा आचरण! तुम लोगों की सरलता से मैं सन्तुष्ट नही हूँ ॥13॥

इदं नववधूनां वो ह्रीनिकुञ्चितचक्षुषाम् ।
सदृशं चेष्टितं हि स्यादपि वा गोपयोषिताम् ॥४.१४

तुम लोगों का यह आचरण लाज से आँख मींचनेवाली नव-वधुओं या गोप-स्त्रियों के योग्य है ॥14॥

यदपि स्यादयं धीरः श्रीप्रभावान्महानिति ।
स्त्रीणामपि महत्तेज इतः कार्योऽत्र निश्चयः ॥४.१५

यद्यपि यह धीर तथा बड़ा ही श्रीमान् और तेजस्वी हो सकता है, स्त्रियों का भी तेज महान् है। इसलिए इस (विषय) में निश्चय करो ॥15॥

पुरा हि काशिसुन्दर्या वेशवध्वा महानृषिः ।
ताडितोऽभूत्पदा व्यासो दुर्धर्षो देवतैरपि ॥४.१६

प्राचीन काल में काशि-सुन्दरी (नामक) वेश्या ने महर्षि व्यास को, जो देवताओं के लिए भी दुर्धर्ष था, पाँव से मारा ॥16॥

मन्थालगौतमो भिक्षुर्जङ्घया वारमुख्यया ।
पिप्रीषुश्च तदर्थार्थं व्यसून्निरहरत्पुरा ॥४.१७

पूर्वकाल में जङ्घा नामक वेश्या से सम्भोग करने की इच्छा से और उसे प्रसन्न करने की इच्छा से, मन्थाल गौतम ने उसके धन के लिए लाशों को ढोया ॥17॥[26]

गौतमं दीर्घतपसं महार्षिं दीर्घजीविनम् ।
योषित्सन्तोषयामास वर्णस्थानावरा सती ॥४.१८

दीर्घतपस गौतम (नामक) महर्षि को, जो दीर्घकाल तक जीवन धारण कर चुका था, नीच वर्ण व स्थिति की स्त्री ने सन्तुष्ट किया ॥18॥

ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतं तथैव स्त्रीष्वपण्डितम् ।
उपायैर्विविधैः शान्ता जग्राह च जहार च ॥४.१९

उसी प्रकार मुनि-तनय ऋष्यश्रङ्ग को, जो स्त्रियों (के विषय) में अज्ञानी था, शान्ता विविध उपायों से पकड़कर ले गई ॥19॥

विश्वामित्रो महर्षिश्च विगाढोऽपि महत्तपः ।
दश वर्षाण्यहर्मेने घृताच्याप्सरसा हृतः ॥४.२०

महा-तपस्या में अवगाहन करनेपर भी महर्षि विश्वामित्र घृताची अप्सरा के द्वारा हरण किया गया और उस महर्षि ने उसके साथ (बिताये गये) दश वर्षों को एक दिन माना ॥20॥

एवमादीनृषींस्तांस्ताननयन्विक्रियां स्त्रियः ।
ललितं पूर्ववयसं किं पुनर्नृपतेः सुतम् ॥४.२१

इस प्रकार के उन अनेक ऋषियों को स्त्रियों ने विकृत किया। फिर राजा के सुन्दर और तरुण पुत्र का क्या कहना ॥21॥

तदेवं सति विश्रब्धं प्रयतध्वं तथा यथा ।
इयं नृपस्य वंशश्रीरितो न स्यात्पराङ्मुखी ॥४.२२

ऐसा होनेपर विश्वासपूर्वक वैसा प्रयत्न करो जिससे राजा की यह वंश-लक्ष्मी यहाँ से विमुख न हो जाय ॥22॥

या हि काश्चिद्युवतयो हरन्ति सदृशं जनम् ।
निकृष्टोत्कृष्टयोर्भावं या गृह्णन्ति ता तु स्त्रियः ॥४.२३

जो कोई भी युवतियाँ (अपने) सदृश जन का (चित्त) हरण कर सकती है; किन्तु निकृष्ट और उत्कृष्ट के (मनो-) भाव को जो आकृष्ट करती हैं वे ही (वास्तविक) स्त्रियाँ हैं" ॥23॥

इत्युदायिवचः श्रुत्वा ता विद्धा इव योषितः ।
समारुरुहुरात्मानं कुमारग्रहणं प्रति ॥४.२४

उदायी के ये वचन सुनकर (बाण-) विद्ध-सी वे स्त्रियाँ कुमार को आकृष्ट करने के लिए अपने ऊपर आरूढ़ हुई (तुल गई) ॥24॥

---

[25]- उत्तरकुरु एक वर्गाकार द्वीप है, जो मेरु के उत्तर भाग में स्थित है—अ० को० 3.55

[26]- भज् + सन् + ड = भिक्षुः। सम्भवतः उस वेश्या के यहाँ जानेवाले धनवान् पुरुषों की धन के लोभ से हत्या की जाती होगी और मन्थाल गौतम शवों को ढ़ोता होगा। यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है।

ता भ्रूभिः प्रेक्षितैर्हावैर्हसितैर्लडितैर्गतैः ।
चक्रुराक्षेपिकाश्चेष्टा भीतभीता इवाङ्गनाः ॥४.२५

भय-भीत सी उन स्त्रियों ने भौंहों, दृष्टि-पातों, हावों, हासों, विलासों और चालों से आकर्षण चेष्टाएँ कीं ॥25 ॥

राज्ञस्तु विनियोगेन कुमारस्य च मार्दवात् ।
जहुः क्षिप्रमविश्रम्भं मदेन मदनेन च ॥४.२६

राजा के आदेश और कुमार की मृदुता के कारण मद व मदन के वश होकर उन्होंने शीघ्र ही अविश्वास छोड़ा ॥26 ॥

अथ नारीजनवृतः कुमारो व्यचरद्वनम् ।
वासितायूथसहितः करीव हिमवद्वनम् ॥४.२७

तब स्त्रियों से घिरे कुमार ने वन में विचरण किया, जैसे हथिनियों के साथ हाथी हिमालय के वन में ॥27 ॥

स तस्मिन् कानने रम्ये जज्वाल स्त्रीपुरःसरः ।
आक्रीड इव विभ्राजे विवस्वानप्सरोवृतः ॥४.२८

उस रम्य कानन में स्त्रियों के आगे-आगे जानेवाला वह वैसे ही प्रज्वलित हुआ, जैसे विभ्राज (=वैभ्राज) उद्यान में अप्सराओं से घिरा विवस्वान् (=देवता या सूर्य) ॥28 ॥

मदेनावर्जिता नाम तं काश्चित्तत्र योषितः ।
कठिनैः पस्पृशुः पीनैः संहतैर्वल्गुभिः स्तनैः ॥४.२९

मद से अनवत कुछ स्त्रियों ने अपने कठिन, पीन, दृढ़ और सुन्दर स्तनों से उसे स्पर्श किया ॥29 ॥

स्रस्तांसकोमलालम्बमृदुबाहुलताबला ।
अनृतं स्खलितं काचित्कृत्वैनं सस्वजे बलात् ॥४.३०

झुके हुए कन्धे से कोमलतापूर्वक लटकती मृदु बाहुलताओंवाली किसी अबला ने बनावटी गिरना दिखाकर उसे बलात् आलिङ्गन किया ॥30 ॥

काचित्ताम्राधरोष्ठेन मुखेनासवगन्धिना ।
विनिशश्वास कर्णेऽस्य रहस्यं श्रूयतामिति ॥४.३१

किसी ने मदिरा गन्ध-युक्त मुख से, जिसका निचला होंठ ताम्रवर्ण का था, उसके कान में धीरे-धीरे कहा—“रहस्य सुनिये” ॥31 ॥[27]

काचिदाज्ञापयन्तीव प्रोवाचार्द्रानुलेपना ।
इह भक्तिं कुरुष्वेति हस्तसंश्लेषलिप्सया ॥४.३२

गीला अनुलेपवाली किसी ने (उसके) हाथ का स्पर्श पाने की इच्छा से मानो आज्ञा देते हुए कहा—“यहाँ भक्ति करो” ॥32 ॥[28]

मुहुर्मुहुर्मदव्याजस्रस्तनीलांशुकापरा ।
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा ॥४.३३

मद के बहाने बार-बार नीला अङ्कुश गिरानेवाली दूसरी स्त्री, जिसकी करधनी कुछ-कुछ दिखाई पड़ती थी, चमकती बिजलीवाली रात के समान शोभित हुई ॥33 ॥

काश्चित्कनककाञ्चीभिर्मुखराभिरितस्ततः ।
बभ्रमुर्दर्शयन्त्योऽस्य श्रोणीस्तन्वंशुकावृताः ॥४.३४

मुखर सुवर्ण कटि-भूषणों से, महीन कपड़ों से ढँके अपने नितम्बों को दिखाती हुई कोई इधर-उधर घूमीं ॥34 ॥

चूतशाखां कुसुमितां प्रगृह्यान्या ललम्बिरे ।
सुवर्णकलशप्रख्यान्दर्शयन्त्यः पयोधरान् ॥४.३५

दूसरी (स्त्रियाँ) आम की कुसुमित डाल पकड़कर, सुवर्ण-कलश सदृश अपने स्तनों को दिखाती हुई, लटकीं ॥35 ॥

काचित्पद्मवनादेत्य सपद्मा पद्मलोचना ।
पद्मवक्त्रस्य पार्श्वेऽस्य पद्मश्रीरिव तस्थुषी ॥४.३६

कोई कमलाक्षी कमल-वन से कमल के साथ आकर कमल-मुख के पास कमल की श्री के समान खड़ी हुई ॥36 ॥

मधुरं गीतमन्वर्थं काचित्साभिनयं जगौ ।
तं स्वस्थं चोदयन्तीव वञ्चितोऽसीत्यवेक्षितैः ॥४.३७

किसी ने स्पष्ट अर्थ से युक्त मधुर गीत अभिनयपूर्वक गाया, और उस स्वस्थ को दृष्टि-पातों से उत्तेजित करते हुए माना कहा—“तुम वञ्चित हो रहे हो” ॥37 ॥

शुभेन वदनेनान्या भ्रूकार्मुकविकर्षिणा ।
प्रावृत्यानुचकारास्य चेष्टितं धीरलीलया ॥४.३८

दूसरी ने लौटकर भौंहरूप तीर खींचनेवाले सुन्दर मुख से इसकी चेष्टा का स्थिर लीला से अनुकरण किया ॥38 ॥

---

[27]- **विनिशश्वास = साँसें छोड़ी, वचन से नही कहकर साँसों से कहा अर्थात् इतना धीरे-धीरे कहा कि केवल साँसें ही सुन पड़ती थीं।**

[28]- **भक्ति = शोभा के लिए शरीर पर की जानेवाली रेखा-रचना; श्रद्धा, प्रेम।**

पीनवल्गुस्तनी काचिद्धासाघूर्णितकुण्डला ।
उच्चैरवजहासैनं समाप्नोतु भवानिति ॥४.३९

परिपूर्ण एवं सुन्दर स्तनोंवाली किसी ने, जिसके कुण्डल उसकी हँसी से हिल रहे थे, "आप समाप्त करें," यह कहते हुए, जोरों से उसका उपहास किया ॥39 ॥

अपयान्तं तथैवान्या बबन्धुर्माल्यदामभिः ।
काश्चित्साक्षेपमधुरैर्जगृहुर्वचनाङ्कुशैः ॥४.४०

उसी प्रकार दूसरी ने (बाहों से) हटते हुए (कुमार) को मालाओं की डोरियों से बाँधा; किन्हीं ने आपेक्ष-युक्त मधुर वचनरूप अङ्कुशों से उसे रोका ॥40 ॥

प्रतियोगार्थिनी काचिद्गृहीत्वा चूतवल्लरीम् ।
इदं पुष्पं तु कस्येति पप्रच्छ मदविक्लवा ॥४.४१

प्रतियोग (=विरोध) चाहनेवाली किसी ने आम की मञ्जरी लेकर मद से विह्वल होते हुए पूछा—"यह फूल किसका है?" ॥41 ॥

काचित्पुरुषवत्कृत्वा गतिं संस्थानमेव च ।
उवाचैनं जितः स्त्रीभिर्जय भो पृथिवीमिमाम् ॥४.४२

किसी ने पुरुष के समान गति और आकृति बनाकर उसे कहा—"तुम स्त्रियों द्वारा जीते गये, अब इस पृथिवी को जीतो" ॥42 ॥

अथ लोलेक्षणा काचिज्जिघ्रन्ती नीलमुत्पलम् ।
किञ्चिन्मदकलैर्वाक्यैर्नृपात्मजमभाषत ॥४.४३

तब नीले कमल को सूँघती हुई किसी चञ्चलाक्षी ने मद से कुछ-कुछ अस्फुट वचनों में राजकुमार से कहा— ॥43 ॥

पश्य भर्तश्चितं चूतं कुसुमैर्मधुगन्धिभिः ।
हेमपञ्जररुद्धो वा कोकिलो यत्र कूजति ॥४.४४

"स्वामिन्, मधु-गन्ध-युक्त फूलों से भरे आम को देखिये, जहाँ कोकिल इस प्रकार (निश्चल होकर) कूज रहा है, जैसे सोने के पिजड़े में बन्द हो ॥44 ॥

अशोको दृश्यतामेष कामिशोकविवर्धनः ।
रुवन्ति भ्रमरा यत्र दह्यमाना इवाग्निना ॥४.४५

कामियों का शोक बढ़ानेवाले इस अशोक को देखिये, जहाँ भौंरे इस तरह गूँज रहे हैं, जैसे आग से जल रहे हों ॥45 ॥

चूतयष्ट्या समाश्लिष्टो दृश्यतां तिलकद्रुमः ।
शुक्लवासा इव नरः स्त्रिया पीताङ्गरागया ॥४.४६

आम की शाखा से आलिङ्गित होते तिलक-वृक्ष को देखिये, जैसे श्वेतवस्त्रधारी पुरुष पीत अङ्ग-रागवाली स्त्री से आलिङ्गित हो रहा हो ॥46 ॥

फुल्लं कुरुबकं पश्य निर्मुक्तालक्तकप्रभम् ।
यो नखप्रभया स्त्रीणां निर्भर्त्सित इवानतः ॥४.४७

निचोड़े हुए अलक्तक (=लाख) के समान प्रभावान् कुसुमित कुरुबक को देखिये, जो स्त्रियों को नख-प्रभा से मानो खूब फटकारा जाकर झुक गया है ॥47 ॥

बालाशोकश्च निचितो दृश्यतामेष पल्लवैः ।
योऽस्माकं हस्तशोभाभिर्लज्जमान इव स्थितः ॥४.४८

पल्लवों से भरे इस बाल अशोक को देखिये, जो हमारे हाथों की शोभा से मानो लजाता हुआ खड़ा है ॥48 ॥

दीर्घिकां प्रावृतां पश्य तीरजैः सिन्दुवारकैः ।
पाण्डुरांशुकसंवीतां शयानां प्रमदामिव ॥४.४९

तीर पर उत्पन्न होनेवाले सिन्दुवारों से आच्छादित दीर्घिका (जलाशय) को देखिये, जो श्वेत वस्त्र से ढँकी सो रही प्रमदा के समान है ॥49 ॥

दृश्यतां स्त्रीषु माहात्म्यं चक्रवाको ह्यसौ जले ।
पृष्ठतः प्रेष्यवद्भार्यामनुवर्त्यनुगच्छति ॥४.५०

स्त्रियों का माहात्म्य तो देखिये; वह आज्ञाकारी चक्रवाक जल में अपनी पत्नी के पीछे-पीछे नौकर के समान जा रहा है ॥50 ॥

मत्तस्य परपुष्टस्य रुवतः श्रूयतां ध्वनिः ।
अपरः कोकिलोऽन्वक्षं प्रतिश्रुत्केव कूजति ॥४.५१

मत्त होकर कूजते कोकिल की ध्वनि सुनिये; दूसरा कोकिल पीछे की ओर प्रतिध्वनि के समान कूज रहा है ॥51 ॥

अपि नाम विहङ्गानां वसन्तेनाहृतो मदः ।
न तु चिन्तयतोऽचिन्त्यं जनस्य प्राज्ञमानिनः ॥४.५२

क्या वसन्त पक्षिओं को मद ला सकता है और अचिन्त्य की चिन्ता करनेवाले प्राज्ञ एवं मानी मनुष्य को नहीं?" ॥52 ॥

इत्येवं ता युवतयो मन्मथोद्दामचेतसः ।
कुमारं विविधैस्तैस्तैरुपचक्रमिरे नयैः ॥४.५३

इस प्रकार काम से उच्छृङ्खल चित्तवाली उन युवतियों ने उन-उन विविध नीतियों से कुमार को (आकृष्ट करने का) उपक्रम किया ॥53 ॥

एवमाक्षिप्यमाणोऽपि स तु धैर्यावृतेन्द्रियः ।
मर्तव्यमिति सोद्वेगो न जहर्ष न विव्यथे ॥४.५४

इस प्रकार आकृष्ट किया जानेपर भी, वह धीर-इन्द्रियवाला (=जितेन्द्रिय) "मरना पड़ेगा" इस (विचार) से उद्वेग-युक्त होकर न आनन्दित हुआ और न व्यथित ॥54 ॥

तासां तत्त्वेनऽनवस्थानं दृष्ट्वा स पुरुषोत्तमः ।
समं विग्नेन धीरेण चिन्तयामास चेतसा ॥४.५५

तत्त्व में उसकी स्थिरता न देखकर उस पुरुषोत्तम ने एक ही साथ संविग्न व धीर चित्त से सोचा:– ॥55 ॥

किं विमा नावगच्छन्ति चपलं यौवनं स्त्रियः ।
यतो रूपेण सम्पत्तं जरा यन्नाशयिष्यति ॥४.५६

"क्या ये स्त्रियाँ यौवन का क्षणिक नही समझ रही हैं? ये उन्मत्त हैं अपने रूप से, जिसे जरा नष्ट कर देगी ॥56 ॥

नूनमेता न पश्यन्ति कस्यचिद्रोगसम्प्लवम् ।
तथा हृष्टा भयं त्यक्त्वा जगति व्याधिधर्मिणि ॥४.५७

निश्चय ही यह किसी को रोग से आक्रान्त नही देखती हैं; (इसलिए) व्याधि-धर्मा जगत् में भय छोड़कर ये इस प्रकार आनन्दित हैं ॥57 ॥[29]

अनभिज्ञाश्च सुव्यक्तं मृत्योः सर्वापहारिणः ।
ततः स्वस्था निरुद्विग्नाः क्रीडन्ति च हसन्ति च ॥४.५८

स्पष्ट ही सबको दूर ले जानेवाली मृत्यु से अनभिज्ञ हैं; इसीलिए स्वस्थ और और उद्वेग-रहित होकर ये खेलती व हँसती हैं ॥58 ॥

जरां व्याधिं च मृत्युं च को हि जानन्सचेतनः ।
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा शयेद्वा किं पुनर्हसेत् ॥४.५९

जरा, व्याधि व मृत्यु को जानता हुआ कौन बुद्धिमान् स्वस्थ होकर खड़ा हो या बैठे या सोये, फिर हँसे ही क्यों? ॥59 ॥

यस्तु दृष्ट्वा परं जीर्णं व्याधितं मृतमेव च ।
स्वस्थो भवति नोद्विग्नो यथाचेतास्तथैव सः ॥४.६०

जो दूसरे को वृद्ध, रोगी या मृत देखकर स्वस्थ रहता है, उद्विग्न नही होता, वह वैसा ही है जैसा कि अचेतन ॥60 ॥

वियुज्यमाने हि तरौ पुष्पैरपि फलैरपि ।
पतति च्छिद्यमाने वा तरुरन्यो न शोचते ॥४.६१

क्योंकि फूलों और फलों से अलग होकर अब (एक) वृक्ष गिरता है या काटा जाता है, तब दूसरा वृक्ष शोक नही करता है" ॥61 ॥

इति ध्यानपरं दृष्ट्वा विषयेभ्यो गतस्पृहम् ।
उदायी नीतिशास्त्रज्ञस्तमुवाच सुहृत्तया ॥४.६२

इस प्रकार उसे ध्यानमग्न और निरभिलाप देखकर नीति-शास्त्रज्ञ उदायी ने मित्रता से कहा:– ॥62 ॥

अहं नृपतिना दत्तः सखा तुभ्यं क्षमः किल ।
यस्मात्त्वयि विवक्षा मे तया प्रणयवत्तया ॥४.६३

"मैं राजा के द्वारा नियुक्त किया गया तुम्हारा योग्य मित्र हूँ, इसलिए प्रेमपूर्वक मैं तुम्हें (कुछ) कहना चाहता हूँ ॥63 ॥

अहितात्प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्तनम् ।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम् ॥४.६४

अहित से रोकना, हित में लगाना और विपत्ति में नही छोड़ना–मित्र के (ये) तीन लक्षण हैं ॥64 ॥

सोऽहं मैत्रीं प्रतिज्ञाय पुरुषार्थात्पराङ्मुखमः ।
यदि त्वां समुपेक्षेय न भवेन्मित्रता मयि ॥४.६५

मैत्री की प्रतिज्ञाकर, पुरुषार्थ (=पुरुष के काम) से विमुख हो, यदि मैं तुम्हारी उपेक्षा करूँ, तो मुझमें मित्रता नही होगी ॥65 ॥

तद्ब्रवीमि सुहृद्भूत्वा तरुणस्य वपुष्मतः ।
इदं न प्रतिरूपं ते स्त्रीष्वदाक्षिण्यमीदृशम् ॥४.६६

इसलिए मित्र होकर मैं कहता हूँ कि स्त्रियों के प्रति उदारता का यह ऐसा अभाव तुझ सुन्दर तरुण के अनुरूप नही है ॥66 ॥

अनृतेनापि नारीणां युक्तं समनुवर्तनम् ।
तद्व्रीडापरिहारार्थमात्मरत्यर्थमेव च ॥४.६७

स्त्रियों के लज्जा-परित्याग तथा अपने आनन्द के लिए असत्यता से भी उनके अनुकूल आचरण करना उचित है ॥67 ॥

सन्नतिश्चानुवृत्तिश्च स्त्रीणां हृदयबन्धनम् ।
स्नेहस्य हि गुणा योनिर्मानकामाश्च योषितः ॥४.६८

नम्रता व अनुकूल आचरण स्त्रियों के हृदय के लिए बन्धन हैं; क्योंकि सद्गुण ही स्नेह का उत्पत्ति-स्थान है और स्त्रियाँ सम्मान चाहती हैं ॥68 ॥

तदर्हसि विशालाक्ष हृदयेऽपि पराङ्मुखे ।
रूपस्यास्यानुरूपेण दाक्षिण्येनानुवर्तितुम् ॥४.६९

[29]- व्यधिधर्मा = व्याधि जिसका धर्म अर्थात् स्वभाव है ।

इसलिए, हे विशालाक्ष, हृदय विमुख होनेपर भी अपने रूप के अनुरूप उदारता से तुम्हें उनके अनुकूल आचरण करना चाहिए ॥69 ॥

दाक्षिण्यमौषधं स्त्रीणां दाक्षिण्यं भूषणं परम् ।

दाक्षिण्यरहितं रूपं निष्पुष्पमिव काननम् ॥४.७०

उदारता स्त्रियों के लिए औषध है, उदारता श्रेष्ठ भूषण है; उदारता-रहित रूप पुण्य-विहीन उद्यान के समान है ॥70 ॥

किं वा दाक्षिण्यमात्रेण भावेनास्तु परिग्रहः ।

विषयान्दुर्लभाँल्लब्ध्वा न ह्यवज्ञातुमर्हसि ॥४.७१

केवल उदारता से क्या? (भीतरी) भाव से ग्रहण करो। दुर्लभ विषयों को पाकर तुम्हें तिरस्कृत नही करना चाहिए ॥71 ॥

कामं परमिति ज्ञात्वा देवोऽपि हि पुरन्दरः ।

गौतमस्य मुनेः पत्नीमहल्यां चकमे पुरा ॥४.७२

प्राचीन काल में काम (प्रेम) को श्रेष्ठ जानकर, इन्द्रदेव ने गौतम मुनि की पत्नी अहल्या को चाहा ॥72 ॥

अगस्त्यः प्रार्थयामास सोमभार्यां च रोहिणीम् ।

तस्मात्तत्सदृशीं लेभे लोपामुद्रामिति श्रुतिः ॥४.७३

और, अगस्त्य ने सोम की भार्या रोहिणी के लिए प्रार्थना की। इस कारण उसने उसी (रोहिणी) के सदृश लोपामुद्रा पाई, ऐसी अनुश्रुति है ॥73 ॥

उतथ्यस्य च भार्यायां ममतायां महातपः ।

मारुत्यां जनयामास भरद्वाजं बृहस्पतिः ॥४.७४

और, उतथ्य की भार्या, मरुत की पुत्री ममता में, महातपस्वी बृहस्पति ने भरद्वाज को उत्पन्न किया ॥74 ॥

बृहस्पतेर्महिष्यां च जुह्वत्यां जुह्वतां वरः ।

बुधं विबुधधर्माणं जनयामास चन्द्रमाः ॥४.७५

और हवन करनेवाली बृहस्पति की पत्नी में हवन करनेवालों में श्रेष्ठ चन्द्रमा ने बुध को उत्पन्न किया, जिसके कर्म देवता के-से थे ॥75 ॥

कालीं चैव पुरा कन्यां जलप्रभवसम्भवाम् ।

जगाम यमुनातीरे जातरागः पराशरः ॥४.७६

और पूर्वकाल में काम (-वासना) उत्पन्न होनेपर, पराशर यमुना-तटपर मछली से उत्पन्न हुई कन्या काली के पास गया ॥76 ॥

मातङ्ग्यामक्षमालायां गर्हितायां रिरंसया ।

कपिञ्जलादं तनयं वसिष्ठोऽजनयन्मुनिः ॥४.७७

रमण करने की इच्छा से वशिष्ठ मुनि ने निन्दित चाण्डाल जाति की (कन्या) अक्षमाला में कपिञ्जलाद नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥77 ॥

ययातिश्चैव राजर्षिर्वयस्यपि विनिर्गते ।

विश्वाच्याप्सरसा सार्धं रेमे चैत्ररथे वने ॥४.७८

और, उम्र ढलने पर भी राजर्षि ययाति ने विश्वाची अप्सरा के साथ चैत्ररथ वन में रमण किया ॥78 ॥

स्त्रीसंसर्गं विनाशान्तं पाण्डुर्ज्ञात्वापि कौरवः ।

माद्रीरूपगुणाक्षिप्तः सिषेवे कामजं सुखम् ॥४.७९

स्त्री-संसर्ग को विनाशकारी जानकर भी कुरुवंश पाण्डु ने माद्री के रूप-गुण से आकृष्ट होकर काम-ज सुख का सेवन किया ॥79 ॥

करालजनकश्चैव हृत्वा ब्राह्मणकन्यकाम् ।

अवाप भ्रंशमप्येवं न तु सेजे न मन्मथम् ॥४.८०

और करालजनक ने ब्राह्मण-कन्या का हरण किया और इस प्रकार भ्रष्ट होकर भी वह काम में आसक्त ही रहा ॥80 ॥

एवमाद्या महात्मानो विषयान् गर्हितानपि ।

रतिहेतोर्बुभुजिरे प्रागेव गुणसंहितान् ॥४.८१

इस प्रकार आद्य महात्माओं ने रति (सम्भोग, आनन्द) हेतु निन्दित विषयों का भी उपभोग किया, निर्दोष विषयों का तो पहले ही ॥81 ॥

त्वं पुनर्न्यायतः प्राप्तान् बलवान्रूपवान्युवा ।

विषयानवजानासि यत्र सक्तमिदं जगत् ॥४.८२

तुम बलवान् रूपवान् युवा फिर न्याय से प्राप्त विषयों की अवहेलना करते हो, जिनमें कि यह जगत् आसक्त है" ॥82 ॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य श्लक्ष्णमागमसंहितम् ।

मेघस्तनितनिर्घोषः कुमारः प्रत्यभाषत ॥४.८३

शास्त्रों से एकत्र किये गए उसके मनोहर वचन सुनकर, मेघ-गर्जन की-सी वाणी में कुमार ने उत्तर दिया:— ॥83 ॥

उपपन्नमिदं वाक्यं सौहार्दव्यञ्जकं त्वयि ।

अत्र च त्वानुनेष्यामि यत्र मा दुष्टु मन्यसे ॥४.८४

"यह सौहार्द-सूचक बात तुम्हारे ही योग्य है। मैं तुमसे कुछ अनुनय करूँगा, जिन बातों में कि तुम मुझे बुरा मानते हो ॥84 ॥

नावजानामि विषयान् जाने लोकं तदात्मकम् ।

अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः ॥४.८५

मैं विषयों की अवज्ञा नही करता हूँ, संसार को उनमें रत जानता हूँ। जगत् को अनित्य मानकर मेरा मन इसमें नही रम रहा है ॥85 ॥

जरा व्याधिश्च मृत्युश्च यदि न स्यादिदं त्रयम् ।
ममापि हि मनोज्ञेषु विषयेषु रतिर्भवेत् ॥४.८६

यदि जरा, व्याधि व मृत्यु, ये तीनों नही रहते, तो मनोज्ञ विषयों में मुझे भी आनन्द होता ॥86 ॥

नित्यं यद्यपि हि स्त्रीणामेतदेव वपुर्भवेत् ।
दोषवत्स्वपि कामेषु कामं रज्यते मे मनः ॥४.८७

यदि स्त्रियाँ का यही रूप नित्य (चिरस्थायी) होता, तो इन दोषयुक्त विषयों में भी मेरा मन अवश्य लगता ॥87 ॥

यदा तु जरयापीतं रूपमासां भविष्यति ।
आत्मनोऽप्यनभिप्रेतं मोहात्तत्र रतिर्भवेत् ॥४.८८

जब इनका रूप जरा के द्वारा पिया (नष्ट किया) जायगा तब (वह रूप) अपने लिए भी घृणाजनक ही होगा, मोह से ही उसमें आनन्द हो ॥88 ॥

मृत्युव्याधिजराधर्मो मृत्युव्याधिजरात्मभिः ।
रममाणो ह्यसंविग्नः समानो मृगपक्षिभिः ॥४.८९

मृत्यु, व्याधि व जरा के अधीन रहनेवाला मनुष्य यदि मृत्यु-व्याधि-जरा के अधीन रहनेवालों के साथ रमण करता हुआ संविग्न (=विरक्त, भयभीत) न हो तो वह पशु-पक्षियों के समान है ॥89 ॥

यदप्यात्थ महात्मानस्तेऽपि कामात्मका इति ।
संवेगोऽत्रैव कर्तव्यो यदा तेषामपि क्षयः ॥४.९०

यह जो कहा है कि महात्मा भी कामी थे, इसमे तो संवेग ही करना चाहिए कि उनका भी विनाश हुआ ॥90 ॥

माहात्म्यं न च तन्मन्ये यत्र सामान्यतः क्षयः ।
विषयेषु प्रसक्तिर्वा युक्तिर्वा नात्मवत्तया ॥४.९१

मैं उसे माहात्म्य नही मानता हूँ जिसमें समान रूप से क्षय होता है। आत्मवान् (संयतात्मा) पुरुषों को विषयों में आसक्ति नहीं होती है और न वे विषयों के लिए युक्ति (तर्क या उपाय) ही करते हैं ॥91 ॥

यदप्यात्थानृतेनापि स्त्रीजने वर्त्यतामिति ।
अनृतं नावगच्छामि दाक्षिण्येनापि किञ्चन ॥४.९२

यह जो कहा है कि असत्यता से भी स्त्रियों से बरतना चाहिए, मैं असत्यता नही समझता हूँ, (और) न उदारता से भी कुछ ॥92 ॥

न चानुवर्तनं तन्मे रुचितं यत्र नार्जवम् ।
सर्वभावेन सम्पर्को यदि नास्ति धिगस्तु तत् ॥४.९३

वह अनुकूल आचरण मुझे नही रुचता है जिसमें सरलता (निष्कपटता) नही। यदि सर्वभाव (हृदय) से सम्पर्क नही है, तो उसे धिक्कार है ॥93 ॥

अनृते श्रद्दधानस्य सक्तस्यादोषदर्शिनः ।
किं हि वञ्चयितव्यं स्याज्जातरागस्य चेतसः ॥४.९४

अधीर, विश्वास करनेवाले, आसक्त, दोषों को नहीं देख सकनेवाले तथा अनुरक्त चित्त को क्या वञ्चित करना (=ठगना) चाहिए? ॥94 ॥

वञ्चयन्ति च यद्येव जातरागाः परस्परम् ।
ननु नैव क्षमं द्रष्टुं नराः स्त्रीणां नृणां स्त्रियः ॥४.९५

यदि कामासक्त (लोग) एक दूसरे को इसी तरह वञ्चित करते हैं, तो पुरुष स्त्रियों के देखने योग्य नही और न स्त्रियाँ पुरुषों के ॥95 ॥

तदेवं सति दुःखार्त्तं जरामरणभागिनम् ।
न मां कामेष्वनार्येषु प्रतारयितुमर्हसि ॥४.९६

ऐसा होनेपर मुझे, जो दुःख से आर्त हैं और जिनके भाग्य में जरा और मरण हैं, अनार्य विषयों में लगाकर तुम्हें नही ठगना चाहिए ॥96 ॥

अहोऽतिधीरं बलवच्च ते मनश्चलेषु कामेषु च सारदर्शिनः ।
भयेऽतितीव्रे विषयेषु सज्जसे निरीक्षमाणो मरणाध्वनि प्रजाः ॥४.९७

अहो! तुम्हारा मन अति धीर व बलवान् है जो चञ्चल कामोपभोगों में सार देखते हो। अति तीव्र भय के रहते हुए, मृत्यु-मार्ग पर प्रजाओं को देखते हुए तुम विषयों में आसक्त होते हो ॥97 ॥

अहं पुनर्भीरुरतीवविक्लवो जराविपद्व्याधिभयं विचिन्तयन् ।
लभे न शान्तिं न धृतिं कुतो रतिं निशामयन्दीप्तमिवाग्निना जगत् ॥४.९८

और, मैं जरा, मृत्यु व व्याधि की चिन्ता करता हुआ भयभीत और अति विकल हूँ। आग से मानो जलते जगत् को देखकर, न शान्ति पाता हूँ न धैर्य, आनन्द कहाँ से (पाऊँगा)? ॥98 ॥

असंशयं मृत्युरिति प्रजानतो नरस्य रागो हृदि यस्य जायते ।
अयोमयीं तस्य परैमि चेतनां महाभये रज्यति यो न रोदिति ॥४.९९

मृत्यु अवश्यंभावी है यह जानते हुए जिस मनुष्य के हृदय में काम पैदा होता है उसकी बुद्धि को लोहे की बनी समझता हूँ, क्योंकि (मृत्युरूपी) महाभय के रहते हुए, वह आनन्दित होता है, रोता नहीं" ॥99 ॥

अथौ कुमारश्च विनिश्चयात्मिकां चकार कामाश्रयघातिनीं कथाम् ।
जनस्य चक्षुर्गमनीयमण्डलो महीधरं चास्तमियाय भास्करः ॥४.१००

कुमार ने वैराग्य पैदा करनेवाली (=काम-आश्रय-विनाशिनी) ये निश्चयात्मक बातें कहीं और तब संसार का नेत्रस्वरूप सूर्य, जो कि दर्शनीय हो रहा था, अस्ताचल पर गया ॥100 ॥[30]

ततो वृथाधारितभूषणस्रजः कलागुणैश्च प्रणयैश्च निष्फलैः।

स्व एव भावे विनिगृह्य मन्मथं पुरं ययुर्भग्नमनोरथाः स्त्रियः ॥४.१०१

तब वे स्त्रियाँ, जिन्होंने व्यर्थ ही आभूषण और मालाएँ पहनी थीं, उत्कृष्ट कलाओं और प्रणय-चेष्टाओं के निष्फल होनेपर अपने ही मन में कामदेव का निग्रह कर, भग्नमनोरथ हो, नगर को लौट गईं ॥101 ॥[31]

ततः पुरोद्यानगतां जनश्रियं निरीक्ष्य सायं प्रतिसंहृतां पुनः।

अनित्यतां सर्वगतां विचिन्तयन्विवेश धिष्ण्यं क्षितिपालकात्मजः ॥४.१०२

तब नगर-उद्यान की जन-शोभा को फिर संध्या समय समेटी गई देखकर, सर्वव्यापिनी अनित्यता की चिन्ता करते हुए राज-कुमार ने महल में प्रवेश किया ॥102 ॥

ततः श्रुत्वा राजा विषयविमुखं तस्य तु मनो

न शिश्ये तां रात्रिं हृदयगतशल्यो गज इव।

अथ श्रान्तो मन्त्रे बहुविविधमार्गे ससचिवो

न सोऽन्यत्कामेभ्यो नियमनमपश्यत्सुतमतेः ॥४.१०३

तब उसका मन विषयों से विमुख हुआ सुनकर राजा (उस) हाथी के समान जिसकी छाती में बर्छी गड़ी हुई हो, उस रात को न सोया। तब सचिवों के साथ विविध उपायों की मन्त्रणा करने में थककर उसने पुत्र-बुद्धि के नियन्त्रण के लिए काम के अतिरिक्त दूसरा उपाय न देखा ॥103 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये स्त्रीविघातनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४ ॥

पञ्चम सर्ग

अभिनिष्क्रमण

स तथा विषयैर्विलोभ्यमानः परमार्हैरपि शाक्यराजसूनुः।

न जगाम धृतिं न शर्म लेभे हृदये सिंह इवातिदिग्धविद्धः ॥५.१

बहुमूल्य विषयों से उस प्रकार लुभाये जानेपर भी उस शाक्य-राज-पुत्र को (उस) सिंह के समान, जिनका हृदय विष-लिप्त तीर से अत्यन्त विद्ध हो, न धैर्य हुआ न चैन ॥1 ॥

अथ मन्त्रिसुतैः क्षमैः कदाचित्सखिभिश्चित्रकथैः कृतानुयात्रः।

वनभूमिदिदृक्षया शमेप्सुर्नरदेवानुमतो बहिः प्रतस्थे ॥५.२

तब एक बार शान्ति-प्राप्ति के उस इच्छुक ने, राजा से अनुमति पाकर, वन-भूमि देखने के लिए बाहर प्रस्थान किया; मन्त्रियों के पुत्र, जो उसके योग्य मित्र थे और जो चित्र-विचित्र कथाएँ जानते थे, उसके साथ गये ॥2 ॥

नवरुक्मखलीनकिङ्किणीकं प्रचलच्चामरचारुहेमभाण्डम्।

अभिरुह्य स कन्थकं सदश्वं प्रययौ केतुमिव द्रुमाब्जकेतुः ॥५.३

नये सोने की लगाम व घुँघुरूवाले तथा हिलते हुए चामरों से शोभित सुवर्ण अलङ्कारोंवाले अच्छे घोड़े कन्थक पर चढ़कर, वह बाहर गया, जैसे पताका दण्ड पर कनेल फूल का चिह्न विराजमान हो ॥3 ॥[32]

स विकृष्टतरां वनान्तभूमिं वनलोभाच्च ययौ महीगुणेच्च।

सलिलोर्मिविकारसीरमार्गां वसुधां चैव ददर्श कृष्यमाणाम् ॥५.४

जङ्गल की लालच व पृथ्वी की उत्कृष्टता से आकृष्ट होकर वह अत्यन्त दूर की जङ्गल भूमि की ओर गया और जोती जा रही धरती को देखा, जिसपर हलों (की जुताई) के मार्ग जलतरङ्गों के समान देख पड़ते थे ॥4 ॥

हलभिन्नविकीर्णशष्पदर्भां हतसूक्ष्मक्रिमिकीटजन्तुकीर्णाम्।

समवेक्ष्य रसां तथाविधां तां स्वजनस्येव वधे भृशं शुशोच ॥५.५

जिसपर हलों से कटे बाल-तृण व कुश तथा मरे हुए छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े बिखरे हुए थे वैसी उस धरती को देखकर उसने वैसे ही शोक किया, जैसे कि स्वजन की हत्या होनेपर ॥5 ॥

कृषतः पुरुषांश्च वीक्षमाणः पवनार्कांशुरजोविभिन्नवर्णान्।

वहनक्लमविक्लवांश्च धुर्यान् परमार्यः परमां कृपां चकार ॥५.६

हवा, सूर्यकिरण व धूल से विवर्ण हुए कृषक पुरुषों तथा हल में बहने के श्रम से विकल हुए बैलों को देखकर उस परम आर्य (कुमार) को बड़ी करुणा हुई ॥6 ॥

अवतीर्य ततस्तुरङ्गपृष्ठाच्छनकैर्गां व्यचरच्छुचा परीतः।

जगतो जननव्ययं विचिन्वन् कृपणं खल्विदमित्युवाच चार्त्तः ॥५.७

तब घोड़े की पीठ से उतरकर उसने पृथ्वी पर शोकित हो धीरे-धीरे विचरण किया और जगत् के जन्म और विनाश की छानबीन करते हुए, आर्त होकर कहा—"यह जगत् निश्चय ही दीन है।" ॥7 ॥

मनसा च विविक्ततामभीप्सुः सुहृदस्ताननुयायिनो निवार्य।

अभितश्चलचारुपर्णवत्या विजने मूलमुपेयिवान् स जम्ब्वाः ॥५.८

मानसिक पवित्रता (या एकान्त) पाने की इच्छा से उन अनुयायी मित्रों को रोककर, वह विजन भूमि में जम्बू-वृक्ष के मूल के समीप गया, जिसके सुन्दर पत्ते चारों ओर हिल रहे थे ॥8 ॥

---

[30]- गमनीयमण्डल = दर्शनीय मण्डलय दर्शनीय = सुन्दर होने के कारण देखने योग्य या तेज क्षीण होने के कारण आसानी से देखा जाने योग्य।

[31]- भाव = उत्पत्ति-स्थान; काम का उत्पत्ति-स्थान है मन।

[32]- केतुपर द्रुमाब्ज-केतु=पताका-दण्ड (या स्तम्भ) पर (द्रुमाब्ज=द्रुमोत्पल) कनेल फूल का चिह्न; वास्तव में इस वाक्यांश का अर्थ स्पष्ट नही है।

निषसाद स यत्र शौचवत्यां भुवि वैडूर्यनिकाशशाद्वलायाम् ।
जगतः प्रभवव्ययौ विचिन्वन्मनसश्च स्थितिमार्गमाललम्बे ॥५.९

वह वहा स्वच्छ भूमि पर बैठा गया, जिसके हरे तृण वैदूर्य-मणि के समान देख पड़ते थे। और, जगत् के जन्म और विनाश की खोज करते हुए उसने मानसिक स्थिरता के उपाय का अबलम्बन किया ॥9 ॥

समवाप्तमनः स्थितिश्च सद्यो विषयेच्छादिभिराधिभिश्च मुक्तः ।
सवितर्कविचारमाप शान्तं प्रथमं ध्यानमनास्रवप्रकारम् ॥५.१०

तुरन्त मानसिक स्थिरता प्राप्त कर वह विषयों की इच्छा आदि (मानसिक) आधियों से मुक्त हो गया। और, प्रथम शान्त ध्यान प्राप्त किया, जो वितर्क विचारों से युक्त और आस्रवों (राग, द्वेष आदि चित्त-मलों से) मुक्त था ॥10 ॥

अधिगम्य ततो विवेकजं तु परमप्रीतिसुखं मनःसमाधिम् ।
इदमेव ततः परं प्रदध्यौ मनसा लोकगतिं निशम्य सम्यक् ॥५.११

तब उसने विवेक से पैदा होनेवाली तथा परम प्रसन्नता व सुख से समन्वित मानसिक समाधि पाई। और, तब से मन द्वारा जगत् की गति को अच्छी तरह से देखते हुए इसी बात का ध्यान किया:– ॥11 ॥

कृपणं बत यज्जनः स्वयं सन्नवशो व्याधिजराविनाशधर्मा ।
जरयार्दितमातुरं मृतं वा परमज्ञो विजुगुप्सते मदान्धः ॥५.१२

"यह दुःख की बात है कि व्याधि-जरा-मरणशील मनुष्य, स्वयं पराधीन होता हुआ, अज्ञानी व मदान्ध होकर, जरा से पीड़ित, व्याधि से ग्रस्त तथा मरे हुए व्यक्ति की अवहेलना करता है ॥12 ॥

इह चेदहमीदृशः स्वयं सन्विजुगुप्सेय परं तथास्वभावम् ।
न भवेत्सदृशं हि तत्क्षमं वा परमं धर्ममिमं विजानतो मे ॥५.१३

इस संसार में स्वयं ऐसा होता हुआ यदि वैसे (=व्याधि आदि) स्वभाववाले दूसरे की अवहेलना करूँ तो इस परम धर्म को जाननेवाले इस व्यक्ति के सदृश या योग्य यह नही होगा।" ॥13 ॥

इति तस्य विपश्यतो यथावज्जगतो व्याधिजराविपत्तिदोषान् ।
बलयौवनजीवितप्रवृत्तो विजगामात्मगतो मदः क्षणेन ॥५.१४

जगत् के व्याधि जरा-मरणरूप दोषों को वह ठीक-ठीक देख ही रहा था कि बल, यौवन व जीवन से होनेवाला उसका आत्मगत मद (अहङ्कार) एक ही क्षण में विलीन हो गया ॥14 ॥

न जहर्ष न चापि चानुतेपे विचिकित्सां न ययौ न तन्द्रिनिद्रे ।
न च कामगुणेषु संररञ्जे न विदिद्वेष परं न चावमेने ॥५.१५

उसे ने हर्ष हुआ न विषाद, न संशय, न आलस्य, न नींद। और, काम के आकर्षणों (=कामोपभोगों से) अनुराग नहीं हुआ, (मन में) दूसरे से न द्वेष किया और न दूसरे की अवज्ञा ॥15 ॥

इति बुद्धिरियं च नीरजस्का ववृधे तस्य महात्मनो विशुद्धा ।
पुरुषैरपरैरदृश्यमानः पुरुषश्चोपससर्प भिक्षुवेषः ॥५.१६

उस महात्मा की यह निर्मल विशुद्ध बुद्धि बढ़ने लगी और दूसरे लोगों से नहीं देखा जाता हुआ एक मनुष्य सन्न्यासी के वेष में उसके समीप आ गया ॥16 ॥

नरदेवसुतस्तमभ्यपृच्छद्वद कोऽसीति शशंस सोऽथ तस्मै ।
नरपुङ्गव जन्ममृत्युभीतः श्रमणः प्रव्रजितोऽस्मि मोक्षहेतोः ॥५.१७

राजा के पुत्र ने उसे पूछा–"कहो कौन हो?" तब उसने उसे कहा–"हे नर-श्रेष्ठ, श्रमण (=सन्न्यासी) हूँ, जन्म व मरण से डरकर मोक्ष हेतु सन्न्यासी हुआ हूँ ॥17 ॥

जगति क्षयधर्मके मुमुक्षुर्मृगयेऽहं शिवमक्षयं पदं तत् ।
स्वजनेऽन्यजने च तुल्यबुद्धिर्विषयेभ्यो विनिवृत्तरागदोषः ॥५.१८

क्षयशील जगत् में मैं मोक्ष चाहनेवाला अक्षय एवं कल्याणकारी पद की खोज करता हूँ। स्वजन और पराये में मेरी बुद्धि तुल्य है, विषयों से अनुराग और द्वेष, दोनों ही मुझसे चले गये हैं ॥18 ॥

निवसन् क्वचिदेव वृक्षमूले विजने वायतने गिरौ वने वा ।
विचराम्यपरिग्रहो निराशः परमार्थाय यथोपपन्नभैक्षुः ॥५.१९

जहाँ कहीं–वृक्ष के मूल में या विजन मन्दिर में, पर्वत पर या वन में–रहता हूँ। परिवार-हीन और तृष्णा-रहित होकर, परमार्थ (=मोक्ष) के लिए विचरण करता हूँ; जो कुछ भी भिक्षा मिलती है उसे ही ग्रहण करता हूँ" ॥19 ॥

इति पश्यत एव राजसूनोरिदमुक्त्वा स नभः समुत्पपात ।
स हि तद्वपुरन्यबुद्धदर्शी स्मृतये तस्य समेयिवान्दिवौकाः ॥५.२०

राजकुमार के समक्ष ही इतना कह वह आकाश में उड़ गया। वह देवता, जिसने उस शरीर से अन्य बुद्धों को देखा था, उसकी स्मृति (जगाने) के लिए आया था ॥20 ॥

गगनं खगवद्गते च तस्मिन्नृवरः सञ्जहृषे विसिस्मिये च ।
उपलभ्य ततश्च धर्मसञ्ज्ञामभिनिर्याणविधौ मतिं चकार ॥५.२१

पक्षी के समान उसके आसमान में उड़ जानेपर, उस नरश्रेष्ठ को हर्ष और विस्मय हुआ। और, उसके धर्म का ज्ञान पाकर उसने "(घर से) कैसे निकलूँ" इसपर विचार किया ॥21 ॥

तत इन्द्रसमो जितेन्द्रियाश्च प्रविविक्षुः परमाश्वमारुरोह ।
परिवारजनं त्ववेक्षमाणस्तत एवाभिमतं वनं न भेजे ॥५.२२

तब वह इन्द्र-तुल्य, जिसने इन्द्रिय-रूप अश्वों को जीत लिया था, नगर में प्रवेश करने की इच्छा से घोड़े पर चढ़ा। साथियों का खयाल करता हुआ वह वहीं से इच्छित वन को नही चला गया ॥22 ॥

स जरामरणक्षयं चिकीर्षुर्वनवासाय मतिं स्मृतौ निधाय ।
प्रविवेश पुनः पुरं न कामाद्वनभूमेरिव मण्डलं द्विपेन्द्रः ॥५.२३

जरा मरण का विनाश करने की इच्छा से वन में रहने का अपना निश्चय याद रखते हुए उसने उसी प्रकार अनिच्छा से नगर मे प्रवेश किया, जिस प्रकार जङ्गल से हाथी (घरेलू हाथियों के) घेर में ॥23 ॥

सुखिता बत निर्वृता च सा स्त्री पतिरीदृक्ष इहायताक्ष यस्याः ।
इति तं समुदीक्ष्य राजकन्या प्रविशन्तं पथि साञ्जलिर्जगाद ॥५.२४

उसे मार्ग में प्रवेश करते देखकर (किसी) राज-कन्या ने हाथ जोड़कर कहा—"सुखी और धन्य (नर्वृत) है वह स्त्री, जिसका पति इस संसार में, हे विशालाक्ष, ऐसा है" ॥24 ॥

अथ घोषमिमं महाभ्रघोषः परिशुश्राव शमं परं च लेभे ।
श्रुतवान्स हि निर्वृतेति शब्दं परिनिर्वाणविधौ मतिं चकार ॥५.२५

तब महामेघ की-सी ध्वनिवाले ने यह शब्द सुना और परम शान्ति पाई। "धन्य (निर्वृत)" यह शब्द सुनकर, उसने "परिनिर्वाण कैसे प्राप्त करूँ" इसपर विचार किया ॥25 ॥

अथ काञ्चनशैलशृङ्गवर्ष्मा गजमेघर्षभबाहुनिस्वनाक्षः ।
क्षयमक्षयधर्मजातरागः शशिसिंहाननविक्रमः प्रपेदे ॥५.२६

तब सुवर्ण-गिरि-शिखर के समान (कान्तिमान्) शरीरवाला, हाथी की-सी बाहुवाला, मेघ की-सी ध्वनिवाला वृषभ की-सी आँखोंवाला, चन्द्रमा का-सा मुखवाला तथा सिंह के समान पराक्रमी कुमार, जिसे अक्षय धर्म से अनुराग हो गया था, महल में गया ॥26 ॥

मृगराजगतिस्ततोऽभ्यगच्छन्नृपतिं मन्त्रिगणैरुपास्यमानम् ।
समितौ मरुतामिव ज्वलन्तं मघवन्तं त्रिदिवे सनत्कुमारः ॥५.२७

तब सिंह-गति (कुमार) मन्त्रियो से सेवित होते नृपति के समीप गया, जैसे स्वर्ग में मरुतों की सभा में प्रज्वलित होते इन्द्र के समीप सनत्कुमार (जा रहा हो) ॥27 ॥

प्रणिपत्य च साञ्जलिर्बभाषे दिश मह्यं नरदेव साध्वनुज्ञाम् ।
परिविव्रजिषामि मोक्षहेतोर्नियतो ह्यस्य जनस्य विप्रयोगः ॥५.२८

और, हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए उसने कहा—"हे राजन्' कृपाकर मुझे आज्ञा दीजिए। मोक्ष के हेतु मैं परिब्राजक होना चाहता हूँ; क्योंकि इस व्यक्ति का वियोग नियत है" ॥28 ॥

इति तस्य वचो निशम्य राजा करिणेवाभिहतो द्रुमश्चचाल ।
कमलप्रतिमेऽञ्जलौ गृहीत्वा वचनं चेदमुवाच बाष्पकण्ठः ॥५.२९

उसका वचन सुनकर राजा वैसे ही काँपा, जैसे हाथी से आहत वृक्ष। और कमल-सदृश हाथों से उसे पकड़कर बाष्प से रुकती वाणी में यह वचन कहा:— ॥29 ॥

प्रतिसंहर तात बुद्धिमेतां न हि कालस्तव धर्मसंश्रयस्य ।
वयसि प्रथमे मतौ चलायां बहुदोषां हि वदन्ति धर्मचर्याम् ॥५.३०

"हे तात, इस बुद्धि का रोको, धर्म की शरण (में जाने) का समय तुम्हारा नही है; क्योंकि प्रथम वयस में बुद्धि चञ्चल होने के कारण धर्माचरण में बहुत दोष बताये हैं ॥30 ॥

विषयेषु कुतूहलेन्द्रियस्य व्रतखेदेष्वसमर्थनिश्चयस्य ।
तरुणस्य मनश्चलत्यरण्यादनभिज्ञस्य विशेषतो विवेके ॥५.३१

विषयों के प्रति उत्सुक इन्द्रियवाले, व्रत के श्रम सहने में असमर्थ निश्चयवाले तरुण का मन वन से चलायमान होता है, विशेषत: जब कि वह विवेक (=एकान्त) से अनभिज्ञ रहता है ॥31 ॥

मम तु प्रियधर्म धर्मकालस्त्वयि लक्ष्मीमवसृज्य लक्ष्मभूते ।
स्थिरविक्रम विक्रमेण धर्मस्तव हित्वा तु गुरुं भवेदधर्मः ॥५.३२

हे प्रियधर्म, योग्य हुए तुझपर लक्ष्मी को छोड़कर मेरा धर्म (करने) का समय (आ गया) है। हे स्थिरपराक्रम पराक्रम (के कार्य) से तुम्हें धर्म होगा, पिता को छोड़ने से तो अधर्म ही होगा ॥32 ॥

तदिमं व्यवसायमुत्सृज त्वं भव तावन्निरतो गृहस्थधर्मे ।
पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः ॥५.३३

इसलिए इस निश्चय को तुम छोड़ो। तबतक के लिए गृहस्थ-धर्म में लगो। जवानी के सुख भोगने के बाद मनुष्य का तपोवन-प्रवेश रमणीय होता है।" ॥33 ॥

इति वाक्यमिदं निशम्य राज्ञः कलविङ्कस्वर उत्तरं बभाषे ।
यदि मे प्रतिभूश्चतुर्षु राजन् भवसि त्वं न तपोवनं श्रयिष्ये ॥५.३४

राजा का यह वचन सुनकर, कलविङ्क-(नामक पक्षी के) कण्ठ से उसने उत्तर दिया—"हे राजन्, यदि आप चार (बातों) में मेरा प्रतिभू होइये, तो मैं तपोवन की शरण न जाऊँगा ॥34 ॥

न भवेन्मरणाय जीवितं मे विहरेत्स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः ।
न च यौवनमाक्षिपेज्जरा मे न च सम्पत्तिमिमां हरेद्विपत्तिः ॥५.३५

मेरा जीवन मरण के लिए न हो, और न रोग मेरे इस स्वास्थ्य का हरण करे, और न जरा मेरे यौवन को नष्ट करे, और न विपत्ति मेरी इस सम्पत्ति को हरे" ॥35 ॥

इति दुर्लभमर्थमूचिवांसं तनयं वाक्यमुवाच शाक्यराजः ।
त्यज बुद्धिमिमामतिप्रवृत्तामवहास्योऽतिमनोरथोऽक्रमश्च ॥५.३६

अपने पुत्र को, जिसने ये दुर्लभ बातें कहीं, शाक्यराज ने यह वचन कहा—"इस अत्यन्त बढ़ी हुई बुद्धि को तजो, क्रम-हीन (अनुचित) मनोरथ का उपहास होता है" ॥36 ॥[33]

अथ मेरुगरुर्गुरुं बभाषे यदि नास्ति क्रम एष नास्मि वार्यः ।
शरणाज्ज्वलनेन दह्यमानान्न हि निश्चिक्रमिषुं क्षमं ग्रहीतुम् ॥५.३७

तब मेरु-सदृश गौरवपूर्ण कुमार ने पिता से कहा—"यदि यह क्रम नही है तो मुझे न रोकिये; क्योंकि आग से जलते घर से निकलने की इच्छा करनेवाले को पकड़ना उचित नही ॥37 ॥

जगतश्च यदा ध्रुवो वियोगो ननु धर्माय वरं स्वयंवियोगः ।
अवशं ननु विप्रयोजयेन्मामकृतस्वार्थमतृप्तमेव मृत्युः ॥५.३८

---

[33]- **क्रमहीनः—जवानी में अर्थ और काम का सेवन न करके धर्म-अर्जन करने का मथोरथ क्रमहीन है।**

जब जगत् का वियोग ध्रुव है, तब (अपने परिवार से) धर्म के लिए स्वयं पृथक् हो जाना अवश्य श्रेष्ठ है। मृत्यु मुझ विवश को अतृप्त ही स्वार्थ (=निज लक्ष्य)-पूर्ति से पूर्व ही अवश्य अच्छी तरह पृथक् कर देगी" ॥38॥

इति भूमिपतिर्निशम्य तस्य व्यवसायं तनयस्य निर्मुमुक्षोः ।
अभिधाय न यास्यतीति भूयो विदधे रक्षणमुत्तमांश्च कामान् ॥५.३९

मोक्ष की इच्छा करनेवाले उस पुत्र का निश्चय सुनकर, राजा ने कहा–"न जायगा" और फिर पहरे तथा उत्तम कापोपभोगों का प्रबन्ध किया ॥39॥

सचिवैस्तु निदर्शितो यथावद्बहुमानात्प्रणयाच्च शास्त्रपूर्वम् ।
गुरुणा च निवारितोऽश्रुपातैः प्रविवेशावसथं ततः स शोचन् ॥५.४०

सचिवों द्वारा सम्मान और प्यार से शास्त्रानुसार उचित रीति से समझाये जानेपर और पिता के द्वारा आँसू गिराकर रोके जानेपर, उसने शोक करते हुए अपने निवास (=महल) में प्रवेश किया ॥40॥

चलकुण्डलचुम्बिताननाभिर्घननिश्वासविकम्पितस्तनीभिः ।
वनिताभिरधीरलोचनाभिर्मृगशावाभिरिवाभ्युदीक्ष्यमाणः ॥५.४१

हिलते कुण्डनों से चुम्बित मुखोंवाली, घनी साँसों से कम्पित स्तनोंवाली तथा मृग-शावों के समान अधीर आँखोंवाली वनिताओं ने उसे देखा ॥41॥

स हि काञ्चनपर्वतावदातो हृदयोन्मादकरो वराङ्गनानाम् ।
श्रवणाङ्गविलोचनात्मभावान्वचनस्पर्शवपुर्गुणैर्जहार ॥५.४२

काञ्चन-पर्वत के समान कान्तिमान् वह (कुमार) उत्तम अङ्गनाओं के हृदयों के लिए उन्मादकारी था। उसने उसके कान, अङ्ग, आँखें व मनोभाव क्रमशः अपने वचन, स्पर्श, रूप व गुणों से हर लिये ॥42॥

विगते दिवसे ततो विमानं वपुषा सूर्य इव प्रदीप्यमानः ।
तिमिरं विजिघांसुरात्मभासा रविरुद्यन्निव मेरुमारुरोह ॥५.४३

तब दिन बीतनेपर अपने शरीर से सूर्य के समान चमकता हुआ वह प्रासाद पर चढ़ा, जैसे आत्म-प्रकाश के द्वारा तिमिर-नाश करने की इच्छा से उगता हुआ सूर्य मेरु-पर्वत पर (चढ़ता है) ॥43॥

कनकोज्ज्वलदीप्तदीपवृक्षं वरकालागुरुधूपपूर्णगर्भम् ।
अधिरुह्य स वज्रभक्तिचित्रं प्रवरं काञ्चनमासनं सिषेवे ॥५.४४

जिसमें सोने-सी चमकती दोयट जल रही थी और जिसका भीतरी भाग उत्तम कृष्ण-अगुर के धूप से भरा था उस (प्रासाद) पर चढ़कर, उसने हीरे के टुकड़ों से मढ़े श्रेष्ठ सुवर्ण-आसन का सेवन किया ॥44॥

तत उत्तममुत्तमाङ्गनास्तं निशि तूर्यैरुपतस्थुरिन्द्रकल्पम् ।
हिमवच्छिरसीव चन्द्रगौरे द्रविणेन्द्रात्मजमप्सरोगणौघाः ॥५.४५

तब उत्तम अङ्गनाओं ने इन्द्र-तुल्य उस उत्तम कुमार को रात में तूर्य बाजों से सेवा की, जैसे चन्द्र-सदृश उज्ज्वल हिमालय शिखरपर अप्सराओं के झुण्ड कुबेर के पुत्र की (सेवा करते हैं) ॥45॥

परमैरपि दिव्यतूर्यकल्पैः स तु तैर्नैव रतिं ययौ न हर्षम् ।
परमार्थसुखाय तस्य साधोरभिनिश्चिक्रमिषा यतो न रेमे ॥५.४६

दिव्य-तूर्य-सदृश उन उत्तम बाजों से भी उसे न प्रीति हुई, न हर्ष। परमार्थ सुख के लिए उस साधु कुमार की अभिनिष्क्रमण करने की इच्छा थी, इसलिए उसे प्रीति नही हुई ॥46॥

अथ तत्र सुरैस्तपोवरिष्ठैरकनिष्ठैर्व्यवसायमस्य बुद्धा ।
युगपत्प्रमदाजनस्य निद्रा विहितासीद्विकृताश्च गात्रचेष्टाः ॥५.४७

तब उसका निश्चय जानकर, तपस्या में श्रेष्ठ अकनिष्ठ देवों ने वहाँ एक ही बार (सब) प्रमदाओं को निद्रित और उनकी गात्र-चेष्टाओं को विकृत कर दिया ॥47॥

अभवच्छयिता हि तत्र काचिद्विनिवेश्य प्रचले करे कपोलम् ।
दयितामपि रुक्मपत्त्रचित्रां कुपितेवाङ्कगतां विहाय वीणाम् ॥५.४८

वहाँ कोई तो, काँपते हाथ पर कपोल रखकर, सोने के पत्तों से मढ़ी प्यारी वीणा को भी मानो कुपित होकर गोद में छोड़कर सो रही थी ॥48॥

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना ।
ऋजुषट्पदपङ्क्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥५.४९

दूसरी सोई हुई (स्त्री), जिसके हाथ में वंशी लगी हुई थी और जिसके स्तनों पर से श्वेत अंशुक गिरा हुआ था, (उस) नदी के समान शोभित हुई जिसके कमल भौरों की सीधी पंक्ति से सेवित हों और जिसके तट जल-फेन (की धवलता) से हँस रहे हों ॥49॥[34]

नवपुष्करगर्भकोमलाभ्यां तपनीयोज्ज्वलसङ्गताङ्गदाभ्याम् ।
स्वपिति स्म तथापरा भुजाभ्यां परिरभ्य प्रियवन्मृदङ्गमेव ॥५.५०

उसी प्रकार तीसरी (स्त्री) अपनी भुजाओं से, जो नये कमल के भीतरी भाग के समान कोमल थी और जिसके सुवर्ण-उज्जवल बाहुभूषण (एक दूसरे से) मिले हुए थे, मृदङ्ग को ही प्रियतम की भाँति आलिङ्गन किये सो रही थी ॥50॥

नवहाटकभूषणास्तथान्या वसनं पीतमनुत्तमं वसानाः ।
अवशा घननिद्रया निपेतुर्गजभग्ना इव कर्णिकारशाखाः ॥५.५१

उसी प्रकार नव-सुवर्ण-भूषणवाली अन्य स्त्रियाँ, जो उत्तम पीत वसन पहने हुई थीं, गाढ़ी नींद से विवश होकर गिरीं, जैसे हाथी द्वारा तोड़ी गईं कर्णिकार की डालें (गिरती हैं) ॥51॥

अवलम्ब्य गवाक्षपार्श्वमन्या शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः ।
विरराज विलम्बिचारुहारा रचिता तोरणशालभञ्जिकेव ॥५.५२

---

[34]- कमल है हाथ, भौंरा है वंशी, तट हैं स्तन और फेन है अंकुश।

खिड़की की बगल के सहारे सोई हुई दूसरी स्त्री, जिसकी देह धनुष के समान झुकी हुई थी और जिसके सुन्दर हार लटक रहे थे, इस प्रकार विराजी जैसे तोरण पर बनी कठपुतली हो ॥52॥

मणिकुण्डलदष्टपत्रलेखं मुखपद्मं विनतं तथापरस्याः ।

शतपत्रमिवार्धवक्रनाडं स्थितकारण्डवघट्टितं चकाशे ॥५.५३

उसी प्रकार दूसरी का झुका हुआ मुख-पद्म, जिसके पत्रलेख (=कपोल आदि पर बने चित्र) को रत्न-कुण्डल मिटा रहे थे, (उस) कमल के समान शोभित हुआ जिसका नाल आधा झुका हो और जो कारण्डव पक्षी के बैठने से हिल रहा हो ॥53॥

अपराः शयिता यथोपविष्टाः स्तनभारैरवनम्यमानगात्राः ।

उपगुह्य परस्परं विरेजुर्भुजपाशैस्तपनीयपारिहार्यैः ॥५.५४

दूसरी बैठी-बैठी ही सो गईं, उनके गात्र स्तनों के भार से झुके हुए थे। वे सुवर्ण-वलय युक्त बाहु-लताओं से एक दूसरे का आलिङ्गन किये शोभ रही थीं ॥54॥

महतीं परिवादिनीं च काचिद्वनितालिङ्ग्य सखीमिव प्रसुप्ता ।

विजुघूर्ण चलत्सुवर्णसूत्रां वदनेनाकुलयोक्त्रकेण ॥५.५५

और, कोई वनिता एक बड़ी सात तारवाली वीणा का सखी के समान आलिङ्गन कर सोई हुई थी। हिलते सुवर्ण-सूत्रोंवाली वह स्त्री अस्त-व्यस्त योक्त्र (=सूत्र ?) वाले मुख से घूम (=चक्कर खा) रही थी ॥55॥

पणवं युवतिर्भुजांसदेशादवविस्रंसितचारुपाशमन्या ।

सविलासरतान्ततान्तमूर्वोर्विवरे कान्तमिवाभिनीय शिश्ये ॥५.५६

दूसरी स्त्री पणव (बाजे) को, जिसकी सुन्दर डोरी काँख से गिर गई थी, सविलास सम्भोग के अन्त में थके प्रियतम के समान, दोनों जाँघों के बीच लाकर सोई ॥56॥

अपरा बभुर्निमीलिताक्ष्यो विपुलाक्ष्योऽपि शुभभ्रुवोऽपि सत्यः ।

प्रतिसङ्कुचितारविन्दकोशाः सवितर्यस्तमिते यथा नलिन्यः ॥५.५७

सुन्दर भौंहोंवाली व बड़ी-बड़ी आँखोंवाली होनेपर भी दूसरी (स्त्रियों) की आँखें बन्द हो गईं, जैसे सूर्यास्त होनेपर कमलिनियों के कमल-कोश बन्द हो जाते हैं ॥57॥

शिथिलाकुलमूर्धजा तथान्या जघनस्रस्तविभूषणांशुकान्ता ।

अशयिष्ट विकीर्णकण्ठसूत्रा गजभग्ना प्रतियातनाङ्गनेव ॥५.५८

उसी प्रकार दूसरी (स्त्रियाँ), जिनके केश शिथिल व अस्त-व्यस्त थे और जाँघों से जिनके गहने व कपड़े के छोर गिर गये थे, और जिनके कण्ठ-सूत्र बिखरे हुए थे, इस तरह (बेहोश होकर) सोईं, जैसे हाथी द्वारा तोड़ी गई स्त्री की प्रतिमा (पड़ी हो) ॥58॥

अपरास्त्ववशा ह्रिया वियुक्ता धृतिमत्योऽपि वपुर्गुणैरुपेताः ।

विनिशश्वसुरुल्बणं शयाना विकृताः क्षिप्तभुजा जजृम्भिरे च ॥५.५९

दूसरी (स्त्रियाँ) अत्यन्त रूपवती तथा धीर होनेपर भी विवशता के कारण लाज-रहित हो असभ्य ढङ्ग से सोती हुई, जोरों से साँसें छोड़ रही थीं; वे विकृत थीं, भुजाएँ फेंक रही थीं और जँभाई ले रही थीं ॥59॥

व्यपविद्धविभूषणस्रजोऽन्या विसृताग्रन्थनवाससो विसञ्ज्ञाः ।

अनिमीलितशुक्लनिश्चलाक्ष्यो न विरेजुः शयिता गतासुकल्पाः ॥५.६०

दूसरी, जिनके गहने व मालाएँ अलग फेंकी हुई थीं और जिनके वस्त्रों की ग्रन्थियाँ खुली हुई थीं, बेहोश पड़ी थीं। उनकी निश्चल आँखों की सफेदी दिखाई पड़ती थी। मुर्दों के समान सोई हुई वे शोभित नहीं हुईं ॥60॥

विवृतास्यपुटा विवृद्धगात्री प्रपतद्वक्त्रजला प्रकाशगुह्या ।

अपरा मदघूर्णितेव शिश्ये न बभाषे विकृतं वपुः पुपोष ॥५.६१

दूसरी मदमाती की भाँति सोई। उसका मुख-पुट खुला था, गात्र फैले हुए थे, (अत: क्रमश:) उसके मुख से जल गिर रहा था और गुह्य भाग प्रकाशित हो रहे थे। वह शोभित नही हुई उसने विकृत रूप धारण किया ॥61॥

इति सत्त्वकुलान्वयानुरूप विविधं स प्रमदाजनः शयानः ।

सरसः सदृशं बभार रूपं पवनावर्जितरुग्नपुष्करस्य ॥५.६२

स्वभाव, कुल, एवं अन्वय के अनुसार भाँति-भाँति से सोये हुए उस प्रमदावृन्द ने उस सरोवर के सदृश रूप धारण किया, जिसके कमल हवा में झुकाये और टेढ़े किये गये हों ॥62॥

समवेक्ष्य तथा तथा शयाना विकृतास्ता युवतीरधीरचेष्टाः ।

गुणवद्वपुषोऽपि वल्गुभाषा नृपसूनुः स विगर्हयांबभूव ॥५.६३

उस उस प्रकार से सोती हुई चञ्चल चेष्टाओंवाली युवतियों को, यद्यपि उनके शरीर रूपवान् और वचन मनोहर थे, बीभत्स देखकर उस राजकुमार ने यों निन्दा की:– ॥63॥

अशुचिर्विकृतश्च जीवलोके वनितानामयमीदृशः स्वभावः ।

वसनाभरणैस्तु वञ्च्यमानः पुरुषः स्त्रीविषयेषु रागमेति ॥५.६४

"जीव-लोक में वनिताओं का यह ऐसा स्वभाव बीभत्स और अपवित्र है; किन्तु वस्त्रों और आभूषणों से ठगा जाता पुरुष स्त्रियों से अनुराग करता है ॥64॥

विमृशेद्यदि योषितां मनुष्यः प्रकृतिं स्वप्नविकारमीदृशं च ।

ध्रुवमत्र न वर्धयेत्प्रमादं गुणसङ्कल्पहतस्तु रागमेति ॥५.६५

यदि मनुष्य स्त्रियों के स्वभाव तथा स्वप्नावस्था के ऐसे विकार का विचार करे, तो अवश्य ही उसमें वह अपनी असावधानी न बढ़ावे; किन्तु, स्त्री में गुण हैं, इस विचार से अभिभूत होकर वह उनसे अनुराग करता है" ॥65॥

इति तस्य तदन्तरं विदित्वा निशि निश्चिक्रमिषा समुद्बभूव ।

अवगम्य मनस्ततोऽस्य देवैर्भवनद्वारमपावृतं बभूव ॥५.६६

यह अन्तर जानकर रात को निष्क्रमण करने की उसकी इच्छा हुई। तब उसका मन जानकर देवों द्वारा गृहद्वार खोल दिया गया ॥66 ॥

अथ सोऽवततार हर्म्यपृष्ठाद्युवतीस्ताः शयिता विगर्हमाणः ।
अवतीर्य ततश्च निर्विशङ्को गृहकक्ष्यां प्रथमां विनिर्जगाम ॥५.६७

तब सोई हुई उन युवतियों की निन्दा करते हुआ वह प्रासाद पर से उतरा। और वहाँ से उतरकर, निश्शङ्क हो घर की पहली कक्ष्या (आङ्गन) में गया ॥67 ॥

तुरगावचरं स बोधयित्वा जविनं छन्दकमित्थमित्युवाच ।
हयमानय कन्थकं त्वरावानमृतं प्राप्तुमितोऽद्य मे यियासा ॥५.६८

वेगवान् छन्दक नामक अश्व-रक्षक को जगाकर, उसने इस प्रकार कहा:—"शीघ्रता से कन्थक घोड़े को लाओ, आज यहाँ से अमरत्व प्राप्त करने के लिए मेरी जाने की इच्छा है ॥68 ॥

हृदि या मम तुष्टिरद्य जाता व्यवसायश्च यथा मतौ निविष्टः ।
विजनेऽपि च नाथवानिवास्मि ध्रुवमर्थोऽभिमुखः समेत इष्टः ॥५.६९

आज मेरे हृदय में जो सन्तोष हुआ है, और बुद्धि जिस प्रकार निश्चयात्मक हुई है और विजन में भी जिस प्रकार नाथवान् के समान हूँ, निश्चय ही इष्ट लक्ष्य सामने आ गया है ॥69 ॥

ह्रियमेव च सन्नतिं च हित्वा शयिता मत्प्रमुखे यथा युवत्यः ।
विवृते च यथा स्वयं कपाटे नियतं यातुमतो ममाद्य कालः ॥५.७०

लाज व विनय को छोड़कर युवतियों जिस प्रकार मेरे सामने सोई हुई हैं, और किवाड़ जिस प्रकार स्वयं खुल गये हैं, निश्चय ही आज यहाँ से जाने का मेरा समय है" ॥70 ॥

प्रतिगृह्य ततः स भर्तुराज्ञां विदितार्थोऽपि नरेन्द्रशासनस्य ।
मनसीव परेण चोद्यमानस्तुरगस्यानयने मतिं चकार ॥५.७१

तब राजा के आदेश का अर्थ जानते हुए भी उसने स्वामी की आज्ञा मान ली। और, मन में मानो दूसरे से प्रेरित होते हुए उसने घोड़ा लाने का विचार किया ॥71 ॥

अथ हेमखलीनपूर्णवक्त्रं लघुशय्यास्तरणोपगूढपृष्ठम् ।
बलसत्त्वजवान्वयोपपन्नं स वराश्वं तमुपानिनाय भर्त्रे ॥५.७२

तब स्वामी के लिए वह उस श्रेष्ठ घोड़े को ले आया, जिसका मुँह सोने की लगाम से भरा हुआ था, जिसकी पीठ हलकी पलान व झूले से आलिङ्गित (=ढँकी) थी, जो बल, सत्त्व, वेग व वंश से युक्त था ॥72 ॥

प्रततत्रिकपुच्छमूलपार्ष्णिं निभृतह्रस्वतनूजपुच्छकर्णम् ।
विनतोन्नतपृष्ठकुक्षिपार्श्वं विपुलप्रोथललाटकट्युरस्कम् ॥५.७३

जिसके त्रिक (=रीढ़ का निचला भाग), पुच्छ-मूल व पार्ष्णि (एँड़ी, पाँव का पिछला भाग) विस्तीर्ण थे, जिसके बाल पुच्छ व कान छोटे तथा निश्चल थे, जिसकी पीठ व बगल दबे हुए और उठे हुए थे, जिसकी नाक, ललाट, कमर व छाती विशाल थी ॥73 ॥

उपगुह्य स तं विशालवक्षाः कमलाभेन च सान्त्वयन् करेण ।
मधुराक्षरया गिरा शशास ध्वजिनीमध्यमिव प्रवेष्टुकामः ॥५.७४

उस विशाल वक्ष:स्थलवाले कमल के समान कान्तिमान् हाथ से उसे छूकर सान्त्वना देते हुए मधुर अक्षरों-भरी वाणी में ऐसे आदेश दिया, जैसे (विपक्षी) सेना के बीच प्रवेश करने की इच्छा (तैयारी) कर रहा हो:— ॥74 ॥

बहुशः किल शत्रवो निरस्ताः समरे त्वामधिरुह्य पार्थिवेन ।
अहमप्यमृतं पदं यथावत्तुरगश्रेष्ठ लभेय तत्कुरुष्व ॥५.७५

"तुझपर चढ़कर राजा ने युद्ध में शत्रुओं को अनेक बार परास्त किया। हे तुरगश्रेष्ठ, मैं भी उस अमर पद को जिस प्रकार पाऊँ वैसा करो ॥75 ॥

सुलभाः खलु संयुगे सहाया विषयावाप्तसुखे धनार्जने वा ।
पुरुषस्य तु दुर्लभाः सहायाः पतितस्यापदि धर्मसंश्रये वा ॥५.७६

युद्ध में, विषयों से प्राप्त होनेवाले सुख में, या धन-अर्जन में साथी सुलभ होते हैं; किन्तु आपत्ति में पड़ने पर या धर्म का आश्रय लेने में पुरुष के साथी दुर्लभ हैं ॥76 ॥

इह चैव भवन्ति ये सहायाः कलुषे धर्मणि धर्मसंश्रये वा ।
अवगच्छति मे यथान्तरात्मा नियतं तेऽपि जनास्तदंशभाजः ॥५.७७

और, इस संसार में पाप-कर्म में या धर्म का आश्रय लेने में जो साथी होते हैं, मेरी अन्तरात्मा जैसा समझती है, अवश्य ही वे लोग भी उस कर्म-फल के हिस्सेदार होते हैं ॥77 ॥

तदिदं परिगम्य धर्मयुक्तं मम निर्याणमितो जगद्धिताय ।
तुरगोत्तम वेगविक्रमाभ्यां प्रयतस्वात्महिते जगद्धिते च ॥५.७८

तब यहाँ से जगत् के हित के लिए मेरे इस निष्क्रमण को धर्म-युक्त जानकर, हे तुरग-श्रेष्ठ, आत्म-हित व जगत्-हित के लिए वेग और पराक्रमपूर्वक प्रयत्न करो।" ॥78 ॥

इति सुहृदमिवानुशिष्य कृत्ये तुरगवरं नृवरो वनं यियासुः ।
सितमसितगतिद्युतिर्वपुष्मान् रविरिव शारदमभ्रमारुरोह ॥५.७९

वन जाने के इच्छुक उस नर-श्रेष्ठ ने उस उत्तम घोड़े को कर्तव्य करने के लिए ऐसे आदेश दिया, जैसे कि वह उसका मित्र हो; अग्नि के समान कान्तिमान् वह रूपवान् राजकुमार उजले घोड़े पर इस प्रकार चढ़ा, जैसे शरत्कालीन मेघ पर सूर्य ॥79 ॥

अथ स परिहरन्निशीथचण्डं परिजनबोधकरं ध्वनिं सदश्वः ।
विगतहनुरवः प्रशान्तहेषश्चकितविमुक्तपदक्रमो जगाम ॥५.८०

तब वह अच्छा घोड़ा रात्रिकाल की प्रचण्ड तथा परिजनों को जगानेवाली ध्वनि को रोकता हुआ चला; उसके जबड़े निश्शब्द थे, उसकी हिनहिनाहट शान्त थी, और उसके पग निर्भय थे ॥80 ॥

कनककवलयभूषितप्रकोष्ठैः कमलनिभैः कमलानिव प्रविध्य ।
अवनततनवस्ततोऽस्य यक्षाश्चकितगतैर्दधिरे खुरान् कराग्रैः ॥५.८१

देह झुकाकर यक्षों ने अपने पुलकित हाथों के अग्रभागों से इसके खुर पकड़ लिये; और कमल-सदृश हाथों से, जिनके प्रकोष्ठ सुवर्ण-कङ्कणों से भूषित थे, वे मानो कमल बिखेर रहे थे ॥81 ॥

गुरुपरिघकपाटसंवृता या न सुखमपि द्विरदैरपाव्रियन्ते ।
व्रजति नृपसुते गतस्वनास्ताः स्वयमभवन्विवृताः पुरः प्रतोल्यः ॥५.८२

फाटक के भारी किवाड़ों से बन्द जो नगर-द्वार हाथियों से भी सुखपूर्वक नहीं खुलते थे, वे राजा के पुत्र के जानेपर स्वयं निश्शब्द खुल गये ॥82 ॥

पितरमभिमुखं सुतं च बालं जनमनुरक्तमनुत्तमां च लक्ष्मीम् ।
कृतमतिरपहाय निर्व्यपेक्षः पितृनगरात्स ततो विनिर्जगाम ॥५.८३

तब वह कृतनिश्चय निरपेक्ष होकर स्नेही पिता को, बालपुत्र को, अनुरक्त लोगों को, और अनुपम लक्ष्मी को छोड़कर, पितृ नगर से निकल गया ॥83 ॥

अथ स विमलपङ्कजायताक्षः पुरमवलोक्य ननाद सिंहनादम् ।
जननमरणयोरदृष्टपारो न पुनरहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा ॥५.८४

तब विमल कमलों के समान विशाल आँखोंवाले उस कुमार ने नगर को देखकर सिंहनाद किया:—"जन्म व मृत्यु को पार देखे बिना कपिल नाम के इस नगर में फिर प्रवेश न करूँगा।" ॥84 ॥

इति वचनमिदं निशम्य तस्य द्रविणपतेः परिषद्गणा ननन्दुः ।
प्रमुदितमनसश्च देवसङ्घा व्यवसितपारणमाशंसिरेऽस्मै ॥५.८५

उसका यह वचन सुनकर, द्रविण-पति (=कुबेर) की परिषद् के गण आनन्दित हुए; और प्रसन्नचित्त देव-सङ्घों ने उसकी निश्चय-पूर्ति की इच्छा की ॥85 ॥

हुतवहवपुषो दिवौकसोऽन्ये व्यवसितमस्य सुदुष्करं विदित्वा ।
अकृषत तुहिने पथि प्रकाशं घनविवरप्रसृता इवेन्दुपादाः ॥५.८६

उसके अति दूष्कर निश्चय को जानकर अग्नि के समान रूपवान् अन्य देवों ने, जैसे बादलों के बीच फैली चन्द्र-किरणों ने, उसके बर्फीले रास्ते में प्रकाश किया ॥86 ॥

हरितुरगतुरङ्गवत्तुरङ्गः स तु विचरन्मनसीव चोद्यमानः ।
अरुणपरुषतारमन्तरीक्षं स च सुबहूनि जगाम योजनानि ॥५.८७

सूर्य के घोड़े के समान वह घोड़ा, जो मानो मन में प्रेरित होता हुआ चल रहा था, और वह कुमार, उषा के आगमन से आसमान के तारों के फीके होने से पहले ही बहुत योजन चले गये ॥87 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽभिनिष्क्रमणो नाम पञ्चमः सर्गः ॥५ ॥

षष्ठ सर्ग

छन्दक-विसर्जन

ततो मुहूर्ताभ्युदिते जगच्चक्षुषि भास्करे ।
भार्गवस्याश्रमपदं स ददर्श नृणां वरः ॥६.१

तब एक मुहूर्त में जगत्-चक्षु सूर्य के उगनेपर उस नर-श्रेष्ठ ने भार्गव का आश्रम देखा ॥1 ॥

सुप्तविश्वस्तहरिणं स्वस्थस्थितविहङ्गम् ।
विश्रान्त इव यद्दृष्ट्वा कृतार्थ इव चाभवत् ॥६.२

जहाँ विश्वस्त (=निर्भय) होकर हरिण सोये हुए थे और स्वस्थ (=शान्त) होकर पक्षी बैठे हुए थे, जिस (आश्रम) को देखकर उसकी थकावट मानो चली गई और वह मानो कृतार्थ हुआ ॥2 ॥

स विस्मयनिवृत्त्यर्थं तपःपूजार्थमेव च ।
स्वां चानुवर्तितां रक्षन्नश्वपृष्ठादवातरत् ॥६.३

औद्धत्य छोड़ने के लिए और तपस्या के सम्मान के लिए अपने आचरण की रक्षा करता हुआ वह घोड़े की पीठ से उतरा गया ॥3 ॥

अवतीर्य च पस्पर्श निस्तीर्णमिति वाजिनम् ।
छन्दकं चाब्रवीत्प्रीतः स्नापयन्निव चक्षुषा ॥६.४

और, उतरकर "पार लगाया" यह कहते हुए घोड़े को स्पर्श किया। और, प्रसन्न होकर छन्दक को आँखों से मानो नहवाते हुए कहा:— ॥4 ॥

इमं तार्क्ष्योपमजवं तुरङ्गमनुगच्छता ।
दर्शिता सौम्य मद्भक्तिर्विक्रमश्चायमात्मनः ॥६.५

"गरुड के समान वेगवान् इस घोड़े का अनुसरण करते हुए, हे सौम्य, तुमने मेरे प्रति भक्ति और अपना पराक्रम दिखाये ॥5 ॥

सर्वथास्म्यन्यकार्योऽपि गृहीतो भवता हृदि ।
भर्तृस्नेहश्च यस्यायमीदृशः शक्तिरेव च ॥६.६

यद्यपि सब प्रकार से अन्य कार्यों में लगा (अन्यमनस्क) हूँ, तथापि तुमने इस स्वामि-स्नेह और शक्ति के द्वारा मेरा हृदय हरण कर लिया है ॥6 ॥

अस्निग्धोऽपि समर्थोऽस्ति निःसामर्थ्योऽपि भक्तिमान् ।
भक्तिमांश्चैव शक्तश्च दुर्लभस्त्वद्विधो भुवि ॥६.७

स्नेह-हीन होनेपर भी आदमी समर्थ होता है; सामर्थ्य-हीन होनेपर भी भक्तिमान् होता है। तुम्हारे-जैसा भक्तिमान् और शक्तिमान् पुरुष पृथ्वी पर दुर्लभ है ॥7 ॥

तत्प्रीतोऽस्मि तवानेन महाभागेन कर्मणा ।

यस्य ते मयि भावोऽयं फलेभ्योऽपि पराङ्मुखः ॥६.८

इसलिए तुम्हारे इस उत्तम कर्म से प्रसन्न हूँ। मेरे प्रति तुम्हारा यह भाव निस्वार्थ और निष्काम है ॥8 ॥

को जनस्य फलस्थस्य न स्यादभिमुखो जनः ।

जनीभवति भूयिष्ठं स्वजनोऽपि विपर्यये ॥६.९

फल में स्थित (=फल देनेवाले व्यक्ति के) अनुकूल कौन नही होगा? विपरीत में (अर्थात् फल न मिलने की आशा नही रहनेपर) स्वजन भी प्राय: पराया हो जाता है ॥9 ॥

कुलार्थं धार्यते पुत्रः पोषार्थं सेव्यते पिता ।

आशयाशक्ष्लिष्यति जगन्नास्ति निष्कारणा स्वता ॥६.१०

वंश-वृद्धि के लिए पुत्र का पालन किया जाता है और पोषण के लिए पिता की सेवा की जाती है। आशय से ही जगत् मेल करता है, बिना कारण के अपनापन नही होता है ॥10 ॥

किमुक्त्वा बहु सङ्क्षेपात्कृतं मे सुमहत्प्रियम् ।

निवर्तस्वाश्वमादाय सम्प्राप्तोऽस्मीप्सितं पदम् ॥६.११

बहुत कहने से क्या? सङ्क्षेप में, तुमने मेरा बड़ा प्रिय किया। घोड़े को लेकर लौट जाओ। मैं इच्छित स्थान को पहुँच गया हूँ।" ॥11 ॥

इत्युक्त्वा स महाबाहुरनुशंसचिकीर्षया ।

भूषणान्यवमुच्यास्मै सन्तप्तमनसे ददौ ॥६.१२

इतना कहकर प्रिय (उपकार) करने की इच्छा से, उस महाबाहु ने अपने आभूषण खोलकर उस संतप्त-चित्त को दिये ॥12 ॥

मुकुटादीपकर्माणं मणिमादाय भास्वरम् ।

ब्रुवन्वाक्यमिदं तस्थौ सादित्य इव मन्दरः ॥६.१३

दोए का काम करनेवाली चमकीली मणि को मुकुट से लेकर, मन्दराचल के समान जिसके ऊपर सूर्य स्थित हो, शोभित होते हुए, उसने ये वचन कहे:– ॥13 ॥

अनेन मणिना छन्द प्रणम्य बहुशो नृपः ।

विज्ञाप्योऽमुक्तविश्रम्भं सन्तापविनिवृत्तये ॥६.१४

"इस मणि से, हे छन्दक, राजा का बार-बार प्रणाम कर उनका सन्ताप दूर करने के लिए विश्वासपूर्वक (यह सन्देश) निवेदन करना:– ॥14 ॥

जन्ममरणनाशार्थं प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम् ।

न खलु स्वर्गतर्षेण नास्नेहेन न मन्युना ॥६.१५

जरा और मरण का विनाश करने के लिए मैंने तपोवन में प्रवेश किया है, अवश्य ही स्वर्ग की तृष्णा से नही, स्नेह के अभाव से नही, क्रोध से नही ॥15 ॥

तदेवमभिनिष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।

भूत्वापि हि चिरं श्लेषः कालेन न भविष्यति ॥६.१६

अत: इस तरह मुझे निकले हुए के लिए आपको शोक नही करना चाहिए; क्योंकि संयोग (=मिलन) चिरकाल तक होकर भी समय पाकर नही रहेगा ॥16 ॥

ध्रुवो यस्माच्च विश्लेषस्तस्मान्मोक्षाय मे मतिः ।

विप्रयोगः कथं न स्याद्भूयोऽपि स्वजनादिति ॥६.१७

और, क्योंकि वियोग निश्चित है, इसलिए मोक्ष (पाने) के लिए मेरा विचार है, जिसमें फिर भी स्वजन से वियोग न हो ॥17 ॥

शोकत्यागाय निष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि ।

शोकहेतुषु कामेषु सक्ताः शोच्यास्तु रागिणः ॥६.१८

शोक-त्याग के मुझ निकले हुए के लिए आपको शोक नही करना चाहिए। शोक के हेतु-स्वरूप काम भोगों में आसक्त रागी व्यक्तियों के लिए शोक करना चाहिए ॥18 ॥

अयं च किल पूर्वेषामस्माकं निश्चयः स्थिरः ।

इति दायाद्यभूतेन न शोच्योऽस्मि पथा व्रजन् ॥६.१९

और, यह तो हमारे पूर्वपुरुषों का दृढ़ निश्चय था; (इस) पैतृक (=पूर्वजों के) मार्गपर चल रहा हूँ, अत: मेरे लिए शोक नही किया जाना चाहिए ॥19 ॥

भवन्ति ह्यर्थदायादाः पुरुषस्य विपर्यये ।

पृथिव्यां धर्मदायादा दुर्लभास्तु न सन्ति वा ॥६.२०

उलट-पुलट (=मृत्यु) होनेपर पुरुष के धन के दायाद होते हैं; किन्तु पृथिवी पर धर्म के दायाद दुर्लभ हैं या हैं ही नहीं ॥20 ॥

यदपि स्यादसमये यातो वनमसाविति ।

अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति ॥६.२१

यह कि वह (कुमार) असमय में वन गया है, तो (कहूँगा कि) जीवन चञ्चल होने के कारण धर्म के लिए असमय नही है ॥21 ॥

तस्मादद्यैव मे श्रेयश्चेतव्यमिति निश्चयः ।

जीविते को हि विश्रम्भो मृत्यौ प्रत्यर्थिनि स्थिते ॥६.२२

इसलिए कल्याण का चयन (=अर्जन) मैं आज ही करूँगा, यही निश्चय है; क्योंकि मृत्युरूप शत्रु के रहनेपर जीवन में क्या विश्वास? ॥22 ॥

एवमादि त्वया सौम्य विज्ञाप्यो वसुधाधिपः ।

प्रयतेथास्तथा चैव यथा मां न स्मरेदपि ॥६.२३

इस प्रकार, हे सौम्य, तुम्हें राजा से निवेदन करना चाहिए और वैसा ही प्रयत्न करो जिससे वह मुझे स्मरण भी न करें ॥23 ॥

अपि नैर्गुण्यमस्माकं वाच्यं नरपतौ त्वया ।
नैर्गुण्यात्त्यज्यते स्नेहः स्नेहत्यागान्न शोच्यते ॥६.२४

तुम्हें नरपति से हमारी निर्गुणता (=दोष) भी कहना चाहिए। निर्गुणता के कारण स्नेह छोड़ते हैं, स्नेह छोड़ने से शोक नही होता है।" ॥24 ॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा छन्दः सन्तापविक्लवः ।
बाष्पग्रथितया वाचा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥६.२५

यह वाक्य सुनकर सन्ताप से विकल छन्दक ने हाथ जोड़कर बाष्प-ग्रथित वाणी में रोकर उत्तर दिया:— ॥25 ॥

अनेन तव भावेन बान्धवायासदायिना ।
भर्तः सीदति मे चेतो नदीपङ्क इव द्विपः ॥६.२६

"बान्धवों को कष्ट देनेवाले आपके इस मनोभाव से, हे स्वामिन, मेरा चित्त नदी-पङ्क में (फँसे) हाथी के समान दुख रहा है ॥26 ॥

कस्य नोत्पादयेद्बाष्पं निश्चयस्तेऽयमीदृशः ।
अयोमयेऽपि हृदये किं पुनः स्नेहविक्लवे ॥६.२७

आपका यह ऐसा निश्चय किसके लोहे से भी बने हृदय को द्रवीभूत नही करेगा, फिर स्नेह-विकल (हृदय) का क्या कहना? ॥27 ॥

विमानशयनार्हं हि सौकुमार्यमिदं क्व च ।
खरदर्भाङ्कुरवती तपोवनमही क्व च ॥६.२८

कहाँ प्रासाद की शय्या के योग्य यह सुकुमारता और कहाँ तीक्ष्ण तृण-अङ्कुरों से युक्त तवोवन की भूमि! ॥28 ॥

श्रुत्वा तु व्यवसायं ते यदश्वोऽयं मयाहृतः ।
बलात्कारेण तन्नाथ दैवेनैवास्मि कारितः ॥६.२९

आपका निश्चय सुनकर मैं घोड़ा जो ले आया, हे नाथ, वह तो दैव ने मुझसे बलात् कराया ॥29 ॥

कथं ह्यात्मवशो जानन् व्यवसायमिमं तव ।
उपानयेयं तुरगं शोकं कपिलवास्तुनः ॥६.३०

यदि मैं अपने वश में होता तो आपका यह निश्चय जानकर मैं कपिलवस्तु का शोक—(यह) घोड़ा—(आपके समीप) कैसे लाता? ॥30 ॥

तन्नार्हसि महाबाहो विहातुं पुत्रलालसम् ।
स्निग्धं वृद्धं च राजानं सद्धर्ममिव नास्तिकः ॥६.३१

इसलिए, हे महाबाहो, पुत्र के लिए उत्सुक स्नेही और वृद्ध राजा को, जैसे सद्धर्म को नास्तिक (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥31 ॥

संवर्धनपरिश्रान्तां द्वितीयां तां च मातरम् ।
देवीं नार्हसि विस्मर्तुं कृतघ्न इव सत्क्रियाम् ॥६.३२

और, पालन-पोषण करने में थकी उस दूसरी माता रानी को, जैसे सत्क्रिया को कृतघ्न (भूलता है), आपको न भूलना चाहिए ॥32 ॥

बालपुत्रां गुणवतीं कुलश्लाघ्यां पतिव्रताम् ।
देवीमर्हसि न त्यक्तुं क्लीबः प्राप्तामिव श्रियम् ॥६.३३

बाल-पुत्रवाली, गुणवती, तथा श्लाघ्य कुलवाली पतिव्रता देवी (=पत्नी) को, जैसे क्लीब आई हुई लक्ष्मी को (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥33 ॥

पुत्रं याशोधरं श्लाघ्यं यशोधर्मभृतां वरम् ।
बालमर्हसि न त्यक्तुं व्यसनीवोत्तमं यशः ॥६.३४

यशोधरा के बालपुत्र को, जो प्रशंसा के योग्य है और जो यश एवं धर्म धारण करनेवालों में श्रेष्ठ है, जैसे उत्तम यश को व्यसनी (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥34 ॥

अथ बन्धुं च राज्यं च त्यक्तुमेव कृता मतिः ।
मां नार्हसि विभो त्यक्तुं त्वत्पादौ हि गतिर्मम ॥६.३५

अथवा यदि बन्धु एवं राज्य को छोड़ने का ही विचार है, तो हे विभो, आपको मुझे न छोड़ना चाहिए; क्योंकि मेरी गति तो आपके ही चरणों में है ॥35 ॥

नास्मि यातुं पुरं शक्तो दह्यमानेन चेतसा ।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम् ॥६.३६

आपको जङ्गल में, जैसे सुमन्त्र ने राघव को (छोड़ा था), छोड़कर जलते चित्त से मैं नगर को नही जा सकता हूँ ॥36 ॥

किं हि वक्ष्यति मां राजा त्वदृते नगरं गतम् ।
वक्ष्याम्युचितदर्शित्वात्किं तवान्तःपुराणि वा ॥६.३७

आपके बिना नगर में जानेपर राजा मुझे क्या कहेंगे? या उचित (=शुभ) के दर्शन का अभ्यास होने के कारण अन्त:पुर में मैं क्या कहूँगा? ॥37 ॥

यदप्यात्थापि नैर्गुण्यं वाच्यं नरपताविति ।
किं तद्वक्ष्याम्यभूतं ते निर्दोषस्य मुनेरिव ॥६.३८

यह जो कहा है कि "राजा से मेरी निर्गुणता कहना; तो क्या मुनि के समान आप निर्दोष के बारे में असत्य कहूँगा? ॥38 ॥

हृदयेन सलज्जेन जिह्वया सज्जमानया।
अहं यद्यपि वा ब्रूयां कस्तच्छ्रद्धातुमर्हति ॥६.३९

लज्जा-युक्त हृदय से और (किसी किसी तरह) सज्जित (=उद्यत) होती जीभ से यदि मैं कहूँ भी, तो कौन विश्वास करेगा? ॥39 ॥

यो हि चन्द्रमसस्तैक्ष्ण्य कथयेच्छ्रद्दधीत वा।
स दोषांस्तव दोषज्ञ कथयेच्छ्रद्दधीत वा ॥६.४०

जो चन्द्रमा की तीक्ष्णता कहेगा या उसपर विश्वास करेगा, हे दोषज्ञ, वही आपके दोष कहे या उसपर विश्वास करे ॥40 ॥

सानुक्रोशस्य सततं नित्यं करुणवेदिनः।
स्निग्धत्यागो न सदृशो निवर्तस्व प्रसीद मे ॥६.४१

जो सदा दयावान् है, नित्य करुणा अनुभव करता है, उसके लिए स्नेही का त्याग योग्य नही। लौटिये, मुझपर प्रसन्न होइये" ॥41 ॥

इति शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा छन्दस्य भाषितम्।
स्वस्थः परमया धृत्या जगाद वदतां वरः ॥६.४२

शोक से अभिभूत छन्द (=छन्दक) का वचन सुनकर, वक्ताश्रेष्ठ ने स्वस्थ (=शान्त) होकर अत्यन्त धैर्यपूर्वक कहा:— ॥42 ॥

मद्वियोगं प्रति च्छन्द सन्तापस्त्यज्यतामयम्।
नानाभावो हि नियतं पृथग्जातिषु देहिषु ॥६.४३

"मेरे वियोग के प्रति, हे छन्दक, यह सन्ताप छोड़ो; देह-धारियों का पृथक् होना नियत है, क्योंकि (मृत्यु के बाद) उनका पृथक् जन्म होता है ॥43 ॥

स्वजनं यद्यपि स्नेहान्न त्यजेयमहं स्वयम्।
मृत्युरन्योन्यमवशानस्मान् सन्त्याजयिष्यति ॥६.४४

यदि स्नेह के कारण स्वजन को मैं स्वयं न भी छोड़ूँ, तो मृत्यु हम विवशों से एक दूसरे को त्याग करावेगी ॥44 ॥

महत्या तृष्णया दुःखैर्गर्भेणास्मि यया धृतः।
तस्या निष्फलयत्नायाः क्वाहं मातुः क्व सा मम ॥६.४५

बड़ी तृष्णा से कष्ट-पूर्वक जिसके द्वारा मैं गर्भ में धारण किया गया, उस निष्फल-यत्ना माता का मैं कहाँ, मेरी वह कहाँ? ॥45 ॥

वासवृक्षे समागम्य विगच्छन्ति यथाण्डजाः।
नियतं विप्रयोगान्तस्तथा भूतसमागमः ॥६.४६

जिस प्रकार वास-वृक्षपर समागम होने के बाद पक्षी पृथक्-पृथक् दिशा में चले जाते हैं, अवश्य ही उसी प्रकार प्राणियों के समागम का अन्त वियोग है ॥46 ॥

समेत्य च यथा भूयो व्यपयान्ति बलाहकाः।
संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः ॥६.४७

और, जिस प्रकार बादल एकत्र होकर, फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियों का संयोग और वियोग है, (ऐसा) मैं समझता हूँ ॥47 ॥

यस्माद्याति च लोकोऽयं विप्रलभ्य परंपरम्।
ममत्वं न क्षमं तस्मात्स्वप्नभूते समागमे ॥६.४८

और, क्योकि लोग एक-दूसरे को ठगकर चले जाते हैं, इसलिए स्वप्न-सदृश समागम में ममता उचित नही ॥48 ॥

सहजेन वियुज्यन्ते पर्णरागेण पादपाः।
अन्येनान्यस्य विश्लेषः किं पुनर्न भविष्यति ॥६.४९

साथ पैदा होनेवाली पत्तों की लाली से पोधों का वियोग होता है, फिर क्या दूसरे से दूसरे का वियोग न होगा? ॥49 ॥

तदेवं सति सन्तापं मा कार्षीः सौम्य गम्यताम्।
लम्बते यदि तु स्नेहो गत्वापि पुनराव्रज ॥६.५०

तब ऐसा होनेपर, हे सौम्य, सन्ताप मत करो, जाओ। यदि स्नेह बना ही रहे तो जाकर भी फिर आओ ॥50 ॥

ब्रूयाश्चास्मत्कृतापेक्षं जनं कपिलवास्तुनि।
त्यज्यतां तद्गतः स्नेहः श्रूयतां चास्य निश्चयः ॥६.५१

कपिलवस्तु में मेरी आशा (=प्रतीक्षा) करनेवाले लोगों से कहना—उसके प्रति स्नेह छोड़िये और उसका निश्चय सुनिये ॥51 ॥

क्षिप्रमेष्यति वा कृत्वा जन्ममृत्युक्षयं किल।
अकृतार्थो निरारम्भो निधनं यास्यतीति वा ॥६.५२

जन्म और मृत्यु का क्षय करके या तो वह शीघ्र ही आवेगा, या प्रयत्नहीन और असफल होकर मृत्यु को प्राप्त होगा" ॥52 ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा कन्थकस्तुरगोत्तमः।
जिह्वया लिलिहे पादौ बाष्पमुष्णं मुमोच च ॥६.५३

उसका वचन सुनकर, तुरग-श्रेष्ठ कन्थक ने जीभ से उसके पाँव चाटे और गर्म आँसू बहाये ॥53 ॥

जालिना स्वस्तिकाङ्केन चक्रमध्येन पाणिना।
आममर्श कुमारस्तं बभाषे च वयस्यवत् ॥६.५४

(रेखा-) जाल-युक्त और स्वस्तिक-चिह्न-युक्त हाथ से, जिसके बीच चक्र (का चिह्न) था, कुमार ने उसे स्पर्श किया और समवयस्क के समान कहा:– ॥54 ॥

मुञ्च कन्थक मा बाष्पं दर्शितेयं सदश्वता ।
मृष्यतां सफलः शीघ्रं श्रमस्तेऽयं भविष्यति ॥६.५५

"हे कन्थक आँसू मत बहाओ, तुमने यह सदश्वता (=अच्छे घोड़े का गुण) दिखाई। धैर्य रखो, शीघ्र ही तुम्हारा यह श्रम सफल होगा" ॥55 ॥

मणित्सरुं छन्दकहस्तसंस्थं ततः स धीरो निशितं गृहीत्वा ।
कोशादसिं काञ्चनभक्तिचित्रं बिलादिवाशीविषमुद्बवर्ह ॥६.५६

तब उस धीर (कुमार) ने मणियों की बेंटवाली, सोने से मढ़ी तेज तलवार, जो छन्दक के हाथों में थी, (अपने हाथ में) ले ली और उसे म्यान से ऐसे निकाला जैसे बिल से साँप को (निकाल रहा हो) ॥56 ॥

निष्कास्य तं चोत्पलपत्त्रनीलं चिच्छेद चित्रं मुकुटं सकेशम् ।
विकीर्यमाणांशुकमन्तरीक्षे चिक्षेप चैनं सरसीव हंसम् ॥६.५७

और, उत्पल के पत्तों के समान नीलवर्ण उस (तलवार) को निकालकर, केश-सहित चित्र-विचित्र मुकुट को काटा; और फैलती किरणों के साथ उसे आकाश में फेंका, जैसे हंस को सरोवर में (फेंक रहा हो) ॥57 ॥

पूजाभिलाषेण च बाहुमान्यादिवौकसस्तं जगृहुः प्रविद्धम् ।
यथावदेनं दिवि देवसङ्घा दिव्यैर्विशेषैर्महयां च चक्रुः ॥६.५८

और, देवताओं ने उस फेंके हुए (मुकुट) को सम्मान के कारण पूजा (करने) की अभिलाषा से ले लिया और स्वर्ग में देव-सङ्घों ने दिव्य विशेषताओं के साथ उसकी यथावत् पूजा की ॥58 ॥

मुक्त्वा त्वलङ्कारकलत्रवत्तां श्रीविप्रवासं शिरसश्च कृत्वा ।
दृष्ट्वांशुकं काञ्चनहंसचिह्नं वन्यं स धीरोऽभिचकाङ्क्ष वासः ॥६.५९

अलङ्काररूप कलत्र का स्वामित्व छोड़कर और शिर की शोभा को निर्वासित कर, सुवर्ण-हंसों से चित्रित अपने अंशुक को देखकर, उस धीर ने तपोवन के योग्य वस्त्र की आकाङ्क्षा की ॥59 ॥

ततो मृगव्याधवपुर्दिवौका भावं विदित्वास्य विशुद्धभावः ।
काषायवस्त्रोऽभिययौ समीपं तं शाक्यराजप्रभवोऽभ्युवाच ॥६.६०

तब उसका भाव जानकर, विशुद्धभाव देवता मृगों के व्याध के रूप में काषाय वस्त्र पहने हुए, उसके समीप गया; शाक्यराज के पुत्र ने उसे कहा:– ॥60 ॥

शिवं च काषायमृषिध्वजस्ते न युज्यते हिंस्रमिदं धनुश्च ।
तत्सौम्य यद्यस्ति न सक्तिरत्र मह्यं प्रयच्छेदमिदं गृहाण ॥६.६१

"इस हिंसक धनुष के साथ तुम्हारा यह मङ्गलमय काषाय वस्त्र, जो ऋषियों का चिह्न है, मेल नही खाता। इसलिए, हे सौम्य, यदि इसमें आसक्ति नही है, तो मुझे यह (अपना) दो, और यह (मेरा) लो।" ॥61 ॥

व्याधोऽब्रवीत्कामद काममारादनेन विश्वास्य मृगान्निहन्मि ।
अर्थस्तु शक्रोपम यद्यनेन हन्त प्रतीच्छानय शुक्लमेतत् ॥६.६२

व्याध ने कहा–"हे कामनाओं की पूर्ति करनेवाले, समीप से इसके द्वारा विश्वास पैदाकर मृगों को मारता हूँ। किन्तु, हे इन्द्र-तुल्य, यदि इससे प्रयोजन हो, तो लो और यह श्वेत (वस्त्र) लाओ" ॥62 ॥

परेण हर्षेण ततः स वन्यं जग्राह वासोंऽशुकमुत्ससर्ज ।
व्याधस्तु दिव्यं वपुरेव बिभ्रत्तच्छुक्लमादाय दिवं जगाम ॥६.६३

तब परम हर्ष से उसने वन-योग्य वस्त्र ग्रहण किया और अंशुक को छोड़ दिया। व्याध दिव्य शरीर धारण कर, श्वेत (वस्त्र) ले, स्वर्ग को चला गया ॥63 ॥

ततः कुमारश्च स चाश्वगोपस्तस्मिंस्तथा याति विसिस्मियाते ।
आरण्यके वाससि चैव भूयस्तस्मिन्नकार्ष्टां बहुमानमाशु ॥६.६४

तब उसके उस प्रकार जानेपर, कुमार और वह अश्व-रक्षक विस्मित हुए और उन्होंने वन-योग्य वस्त्र के प्रति (मन में) बड़ा सम्मान किया ॥64 ॥

छन्दं ततः साश्रुमुखं विसृज्य काषायसंभृद्धृतिकीर्तिभृत्सः ।
येनाश्रमस्तेन ययौ महात्मा सन्ध्याभ्रसंवीत इवोडुराजः ॥६.६५

तब अश्रुमुख छन्द को विदाकर, काषाय-धारी धृतिमान् कीर्तिमान् वह महात्मा, सन्ध्या-कालीन मेघों से आवृत चन्द्रमा के समान, जहाँ आश्रम था वहाँ गया ॥65 ॥

ततस्तथा भर्तरि राज्यनिःस्पृहे तपोवनं याति विवर्णवाससि ।
भुजौ समुत्क्षिप्य ततः स वाजिभृद्भृशं विचुक्रोश पपात च क्षितौ ॥६.६६

राज्य (-भोग की) इच्छा से मुक्त हुआ उसका स्वामी जब विवर्ण वस्त्र पहनकर वहाँ से तपोवन की ओर गया, तब भुजाओं को फैलाकर रोते-रोते वह अश्व-रक्षक पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥66 ॥

विलोक्य भूयश्च रुरोद सस्वरं हयं भुजाभ्यामुपगुह्य कन्थकम् ।
ततो निराशो विलपन्मुहुर्मुहुर्ययौ शरीरेण पुरं न चेतसा ॥६.६७

फिर (पीछे) देखकर, भुजाओं से कन्थक घोड़े को पकड़कर जोर-जोर से रोया। तब निराश होकर बार-बार रोता हुआ वह, शरीर से, न कि चित्त से, नगर की ओर गया ॥67 ॥

क्वचित्प्रदध्यौ विललाप च क्वचित् क्वचित्प्रचस्खाल पपात च क्वचित् ।
अतो व्रजन् भक्तिवशेन दुःखितश्चचार बह्वीरवशःपथि क्रियाः ॥६.६८[35]

कहीं ध्यान किया और कहीं विलाप, कहीं फिसला और कहीं गिरा। अत: भक्ति-वश दु:खी होकर जाते हुए, उस बेबस ने मार्ग में बहुत-सी क्रियाएँ कीं ॥68 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये चन्दकनिवर्तनं नाम षष्ठः सर्गः ॥६ ॥

---

[35]- चतुर्थ पाद में "अवस:" की जगह "अवश:" रक्खा गया है।

सप्तम सर्ग

तपोवन-प्रवेश

ततो विसृज्याश्रुमुखं रुदन्तं छन्दं वनच्छन्दतया निरास्थः।
सर्वार्थसिद्धो वपुषाभिभूय तमाश्रमं सिद्ध इव प्रपेदे ॥७.१

तब वन (जाने) की इच्छा के कारण आसक्तियों से मुक्त होकर, अश्रुमुख रोते छन्द को विदा कर, सिद्ध के समान अपने रूप से उस आश्रम को अभिभूत करता हुआ सर्वार्थसिद्ध (=सिद्धार्थ) वहाँ गया ॥1 ॥

स राजसूनुर्मृगराजगामी मृगाजिरं तन्मृगवत्प्रविष्टः।
लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्म्या चक्षूंषि सर्वाश्रमिणां जहार ॥७.२

मृगराजगामी उस नृपात्मज ने मृगों के उस आङ्गन में मृग के समान प्रवेश किया। (वस्त्राभूषणों की) लक्ष्मी (=शोभा) से रहित होनेपर भी शरीर की लक्ष्मी से उसने सब आश्रमवासियों की आँखें हर लीं ॥2 ॥

स्थिता हि हस्तस्थयुगास्तथैव कौतूहलाच्चक्रधराः सदाराः।
तमिन्द्रकल्पं ददृशुर्न जग्मुर्धुर्या इवार्धावनतैः शिरोभिः ॥७.३

चक्रधर तपस्वी पत्नियों के साथ कुतूहल-वश उसी प्रकार हाथों में जुए रखकर (भार-वाहक) बैलों के समान आधे-झुके शिरों से उस इन्द्र-तुल्य को देखते रहे, (वहाँ से) गये नहीं ॥3 ॥[36]

विप्राश्च गत्वा बहिरिध्महेतोः प्राप्ताः समित्पुष्पपवित्रहस्ताः।
तपःप्रधानाः कृतबुद्धयोऽपि तं द्रष्टुमीयुर्न मठानभीयुः ॥७.४

होम की लकड़ी के लिए बाहर गये विप्र लौट चुके थे, समिधा और फूलों से उनके हाथ पवित्र थे। महातपस्वी एवं बुद्धिमान् होनेपर भी वे देखने के लिए गये, मठों में नहीं गये ॥4 ॥

हृष्टाश्च केका मुमुचुर्मयूरा दृष्ट्वाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तम्।
शष्पाणि हित्वाभिमुखाश्च तस्थुर्मृगाश्चलाक्षा मृगचारिणश्च ॥७.५

प्रसन्न होकर उठते हुए मोर वैसे ही बोलने लगे, जैसे नीले बादल को देखकर। तृण छोड़कर चञ्चल आँखोंवाले मृग व मृगों के समान (तृण) चरनेवाले तपस्वी सामने खड़े हुए ॥5 ॥

दृष्ट्वा तमिक्ष्वाकुकुलप्रदीपं ज्वलन्तमुद्यन्तमिवांशुमन्तम्।
कृतेऽपि दोहे जनितप्रमोदाः प्रसुस्रुवुर्होमदुहश्च गावः ॥७.६

उदय होते हुए सूर्य के समान प्रज्वलित होते उस इक्ष्वाकु-कुल-प्रदीप को देखकर, प्रसन्न हुई गाएँ जो होम के लिए दूही जाती थीं, दूही जानेपर भी (फिर) प्रस्रवित हुईं (उनके थनों से दूध चूने लगा) ॥6 ॥

कच्चिद्वसूनामयमष्टमः स्यात्स्यादश्विनोरन्यतरश्च्युतो वा।
उच्चेरुरुच्चैरिति तत्र वाचस्तद्दर्शनाद्विस्मयजा मुनीनाम् ॥७.७

"क्या यह वसुओं में से अष्टम है या अश्विनों में से गिरा हुआ एक?" उसके दर्शन से मुनियों के ऐसे ही विस्मय-जनक वचन वहाँ जोर जोर से उच्चारित हुए ॥7 ॥

लेखर्षभस्येव वपुर्द्वितीयं धामेव लोकस्य चराचरस्य।
स द्योतयामास वनं हि कृत्स्नं यदृच्छया सूर्य इवावतीर्णः ॥७.८

इन्द्र के दूसरे शरीर के समान, चराचर संसार की ज्योति के समान, उसने समस्त वन को भासित किया, जैसे स्वेच्छया से उतरा हुआ सूर्य ॥8 ॥

ततः स तैराश्रमिभिर्यथावदभ्यर्चितश्चोपनिमन्त्रितश्च।
प्रत्यर्चयां धर्मभृतो बभूव स्वरेण साम्भोऽम्बुधरोपमेन ॥७.९

तब उस आश्रम-वासियों द्वारा यथावत् पूजित और निमन्त्रित होनेपर, उसने सजल जल के समान स्वर से उन धार्मिकों की प्रतिपूजा की ॥9 ॥

कीर्णं तथा पुण्यकृता जनेन स्वर्गाभिकामेन विमोक्षकामः।
तमाश्रमं सोऽनुचचार धीरस्तपांसि चित्राणि निरीक्षमाणः ॥७.१०

पुण्य (अर्जन) करनेवाले स्वर्गाभिलाषी लोगों से भरे उस आश्रम में मोक्ष के इच्छुक उस धीर ने, विविध तपस्याओं को देखते हुए, विचरण किया ॥10 ॥

तपःप्रकारांश्च निरीक्ष्य सौम्यस्तपोवने तत्र तपोधनानाम्।
तपस्विनं कञ्चिदनुव्रजन्तं तत्त्वं विजिज्ञासुरिदं बभाषे ॥७.११[37]

वहाँ तपोवन में तपस्वियों की विविध तपस्याएँ देखकर, उस सौम्य ने पीछे-पीछे जाते हुए किसी तपस्वी से, तत्त्व जानने की इच्छा से, यह कहा– ॥11 ॥

तत्पूर्वमद्याश्रमदर्शनं मे यस्मादिमं धर्मविधिं न जाने।
तस्माद्भवानर्हति भाषितुं मे यो निश्चयो यत्प्रति वः प्रवृत्तः ॥७.१२

"मेरा यह प्रथम आश्रम-दर्शन है, जिस कारण मैं इस धर्म-विधि को नही जानता हूँ। इसलिए आप मुझे कहें कि आप लोगों का निश्चय क्या है, (और) किसके प्रति (यह निश्चय) प्रवृत्त है।" ॥12 ॥

ततो द्विजातिः स तपोविहारः शाक्यर्षभायर्षभविक्रमाय।
क्रमेण तस्मै कथयाञ्चकार तपोविशेषांस्तपसः फलं च ॥७.१३

तब उस तपस्वी द्विज ने उत्तम पराक्रमवाले उस शाक्य-श्रेष्ठ से क्रमशः तपस्या की विशेषताएँ और तपस्या का फल बताये:– ॥13 ॥

अग्राम्यमन्नं सलिले प्ररूढं पर्णानि तोयं फलमूलमेव।
यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां भिन्नास्तु ते ते तपसां विकल्पाः ॥७.१४

---

[36]- चक्रधर तपस्वी हाथों में जुए रखकर हल चलाते होंगे।

[37]- "तपोविकारांश्च" की जगह "तपःप्रकारांश्च" रक्खा गया है।

"जल में उत्पन्न अग्राम्य (=जङ्गली) अन्न, पत्ते, जल, फल और मूल, जैसा कि शास्त्र कहता है, यही मुनियों की वृत्ति (=आहार) है; तपस्याओं के भिन्न-भिन्न बहुत से प्रकार हैं ॥14 ॥

उञ्छेन जीवन्ति खगा इवान्ये तृणानि केचिन्मृगवच्चरन्ति ।
केचिद्भुजङ्गैः सह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन ॥७.१५

दूसरे (तपस्वी) चिड़ियों की तरह चुने हुए (अन्न) पर जीते हैं, (तो) कुछ मृगों के समान तृण चरते हैं। बल्मीक (मिट्टी के ढेर) हुए कुछ (तपस्वी) साँपों के साथ जङ्गली हवा पर रहते हैं ॥15 ॥

अश्मप्रयत्नार्जितवृत्तयोऽन्ये केचित्स्वदन्तापहतान्नभक्षाः ।
कृत्वा परार्थं श्रपणं तथान्ये कुर्वन्ति कार्यं यदि शेषमस्ति ॥७.१६

दूसरे पत्थरों से कूटकर जीविका चलाते हैं, कोई अपने दाँतों से छिले अन्न खाते हैं। तथा दूसरे दूसरों के लिए पाक करते हैं और यदि शेष रहता है, तो (अपना) कार्य (=भोजन आदि) करते हैं ॥16 ॥

केचिज्जलक्लिन्नजटाकलापा द्विः पावकं जुह्वति मन्त्रपूर्वम् ।
मीनैः समं केचिदपो विगाह्य वसन्ति कूर्मोल्लिखितैः शरीरैः ॥७.१७

कोई जल से जटा-कलाप भिंगोकर दो बार मन्त्रपूर्वक अग्नि में हवन करते हैं। कोई जल में प्रवेश कर मछलियों के साथ रहते हैं, कछुओं से उनके शरीर विद्ध होते रहते हैं ॥17 ॥

एवंविधैः कालचितैस्तपोभिः परैर्दिवं यान्त्यपरैर्नृलोकम् ।
दुःखेन मार्गेण सुखं ह्युपैति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम् ॥७.१८

(उचित) काल में अर्जित ऐसी उत्तम तपस्याओं से वे स्वर्ग जाते हैं और निकृष्ट तपस्याओं से मर्त्यलोक। दु:ख के मार्ग में सुख प्राप्त होता है; (लोग) सुख को ही धर्म का मूल (=उद्देश्य) कहते हैं" ॥18 ॥

इत्येवमादि द्विपदेन्द्रवत्सः श्रुत्वा वचस्तस्य तपोधनस्य ।
अदृष्टतत्त्वोऽपि न सन्तुतोष शनैरिदं चात्मगतं बभाषे ॥७.१९

उस तपस्वी का ऐसा वचन सुनकर, राज-कुमार को, यद्यपि उसने तत्त्व को नही देखा था, सन्तोष नही हुआ और उसने धीरे-धीरे अपने को यों कहा:— ॥19 ॥

दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च ।
लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः स्वल्पे श्रमः खल्वयमाश्रमाणाम् ॥७.२०

"अनेक प्रकार की तपस्याएँ दु:खात्मक हैं, और तपस्या का प्रधान फल स्वर्ग है, और सब लोक विकारवान् (परिवर्तनशील) है; (तब) आश्रमों (=आश्रमवासियों) का यह श्रम निश्चय ही स्वल्प (उद्देश्य) के लिए है ॥20 ॥

श्रियांश्च बन्धून्विषयांश्च हित्वा ये स्वर्गहेतोर्नियमं चरन्ति ।
ते विप्रयुक्ताः खलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः ॥७.२१

जो प्रिय बन्धुओं और विषयों को छोड़कर स्वर्ग प्राप्त करने के लिए नियम का पालन करते हैं; वे उससे बिछुड़कर फिर भी बड़े बन्धन में जाना चाहते हैं ॥21 ॥

कायक्लमैर्यश्च तपोऽभिधानैः प्रवृत्तिमाकाङ्क्षति कामहेतोः ।
संसारदोषानपरीक्षमाणो दुःखेन सोऽन्विच्छति दुःखमेव ॥७.२२

जो तप नामक शरीरिक क्लेशों से कामोपभोग के हेतु प्रवृत्ति (जीवन) की आकाङ्क्षा करता है, वह भव-चक्र के दोषों को नही देखता हुआ (तपरूप) दु:ख से (जीवनरूप) दु:ख की ही इच्छा करता है ॥22 ॥

त्रासश्च नित्यं मरणात्प्रजानां यत्नेन चेच्छन्ति पुनःप्रसूतिम् ।
सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युस्तत्रैव मग्नो यत एव भीताः ॥७.२३

मृत्यु से जीव बराबर डरते हैं और यत्नपूर्वक पुनर्जन्म चाहते हैं। प्रवृत्ति होनेपर मृत्यु निश्चित है। अत: वे जिससे डरते हैं उसी मे डूबते हैं ॥23 ॥

इहार्थमेके प्रविशन्ति खेदं स्वर्गार्थमन्ये श्रमाप्नुवन्ति ।
सुखार्थमाशाकृपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थे खलु जीवलोकः ॥७.२४

कोई इस लोक के लिए कष्ट करते हैं, दूसरे स्वर्ग के लिए श्रम करते हैं। निश्चय ही सुख की आशा से दीन प्राणि-जगत् अकृतार्थ होकर विपत्ति में पड़ता है ॥24 ॥

न खल्वयं गर्हित एव यत्नो यो हीनमुत्सृज्य विशेषगामी ।
प्राज्ञैः समानेन परिश्रमेण कार्यं तु तद्यत्र पुनर्न कार्यम् ॥७.२५

अवश्य ही यह यत्न निन्दित नही जो हीन को छोड़कर विशेष (=उत्तम) की ओर जाता है। बुद्धिमानों को समान परिश्रम से वह करना चाहिए जिसमें फिर उन्हें (कुछ) न करना पड़े ॥25 ॥

शरीरपीडा तु यदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः ।
धर्मेण चाप्नोति सुखं परत्र तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः ॥७.२६

यदि इस लोक में शरीर-पीड़ा (क्लेश, तप) धर्म है, तो शरीर का सुख अधर्म। धर्म से पर-लोक में (जीव) सुख प्राप्त करता है, इसलिए धर्म, इस लोक में, अधर्म को फल धारण करता है ॥26 ॥

यतः शरीरं मनसो वशेन प्रवर्तते चापि निवर्तते च ।
युक्तो दमश्चेतस एव तस्माच्चित्तादृते काष्ठसमं शरीरम् ॥७.२७

क्योंकि मन की प्रभुता से शरीर (कर्म में) प्रवृत्त और (कर्म से) निवृत्त होता है; इसलिए चित्त का ही दमन उचित है, चित्त के बिना शरीर काठ के समान है ॥27 ॥

आहारशुद्ध्या यदि पुण्यमिष्टं तस्मान्मृगाणामपि पुण्यमस्ति ।
ये चापि बाह्याः पुरुषाः फलेभ्यो भाग्यापराधेन पराङ्मुखार्थाः ॥७.२८

आहार की शुद्धि से यदि अभिलषित पुण्य हो, तब मृगों को भी पुण्य होता है और उन लोगों को भी, जो (धर्म के) फल (=सुख) से रहित हैं और भाग्य-दोष से धन जिनसे विमुख है (क्योंकि ऐसे दु:खी तथा निर्धन मनुष्य तपस्वी ही आहार करते हैं) ॥28 ॥

दुःखेऽभिसन्धिस्त्वथ पुण्यहेतुः सुखेऽपि कार्यो ननु सोऽभिसन्धिः ।
अथ प्रमाणं न सुखेऽभिसन्धिर्दुःखे प्रमाणं ननु नाभिसन्धिः ॥७.२९

दुःख (तपस्या) में यदि सङ्कल्प पुण्य का कारण है तो सुख में भी वह सङ्कल्प करना चाहिए (जो कि-पुण्य का कारण है)। यदि सुख में सङ्कल्प प्रमाण नही है, तो दुःख में भी सङ्कल्प प्रमाण नही है ॥29 ॥[38]

तथैव ये कर्मविशुद्धिहेतोः स्पृशन्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः ।
तत्रापि तोषो हृदि केवलोऽयं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः ॥७.३०

उसी प्रकार कर्म की शुद्धि के लिए जो लोग जल को तीर्थ समझकर स्पर्श करते हैं, उनके हृदय मे यह केवल सन्तोष ही है; क्योंकि पानी पाप को पवित्र नही कर सकता ॥30 ॥

स्पृष्टं हि यद्यद्गुणवद्भिरम्भस्तत्तत्पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम् ।
तस्माद्गुणानेव परैमि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव ॥७.३१

गुणवान् जिस-जिस जल का स्पर्श करते हैं यदि पृथिवी पर वही इष्ट तीर्थ है, तब गुणों को ही मैं तीर्थ समझता हूँ, पानी तो निस्सन्देह पानी ही है" ॥31 ॥

इति स्म तत्तद्बहुयुक्तियुक्तं जगाद चास्तं च ययौ विवस्वान् ।
ततो हविर्धूमविवर्णवृक्षं तपःप्रशान्तं स वनं विवेश ॥७.३२

इस तरह उसने युक्ति-युक्त बहुत कुछ कहा और तब सूर्य अस्त हुआ। उसके बाद उसने वन में प्रवेश किया, जिसके वृक्ष होम के धुएँ से विवर्ण थे और तपस्या की शान्ति थी ॥32 ॥

अभ्युद्धृतप्रज्वलिताग्निहोत्रं कृताभिषेकर्षिजनावकीर्णम् ।
जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठं धर्मस्य कर्मान्तमिव प्रवृत्तम् ॥७.३३

वहाँ प्रज्वलित अग्निहोत्र उठाये जा रहे थे, स्नान किये ऋषियों से वह वन भर रहा था, जप के शब्द से देव-मन्दिर कूजित थे, मानो वह वन धर्म का कर्मान्त हो गया था ॥33 ॥[39]

काश्चिन्निशास्तत्र निशाकराभः परीक्षमाणश्च तपांस्युवास ।
सर्वं परिक्षेप्य तपश्च मत्वा तस्मात्तपःक्षेत्रतलाज्जगाम ॥७.३४

वह चन्द्रोपम तपों की परीक्षा करता हुआ कई रातों तक वहाँ रहा। चारों ओर से सब तप को समझकर, वह उस तपोभूमि से चला गया ॥34 ॥

अन्वव्रजन्नाश्रमिणस्ततस्तं तद्रूपमाहात्म्यगतैर्मनोभिः ।
देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम् ॥७.३५

उसके रूप तथा माहात्म्य से आकृष्टचित्त आश्रम-वासी उसके पीछे-पीछे गये, जैसे अनार्यों से जीते जाते देश से हटते धर्म के पीछे-पीछे महर्षिगण जा रहे हों ॥35 ॥

ततो जटावल्कलचीरखेलांस्तपोधनांश्चैव स तान्ददर्श ।
तपांसि चैषामनुरुध्यमानस्तस्थौ शिवे श्रीमति वृक्षमूले ॥७.३६

तब उसने जटा-वल्कल-चीर-वस्त्र-धारी उन तपस्वियों को आते देखा और उनके तपों का सम्मान करता हुआ वह मङ्गलमय सुन्दर वृक्ष के नीचे ठहर गया ॥36 ॥

अथोपसृत्याश्रमवासिनस्तं मनुष्यवर्यं परिवार्य तस्थुः ।
वृद्धश्च तेषां बहुमानपूर्वं कलेन साम्ना गिरमित्युवाच ॥७.३७

तब समीप जाकर, आश्रम-वासी उस नर-श्रेष्ठ को घेरकर खड़े हो गये और उनमें से वृद्ध ने अति सम्मानपूर्वक मधुरता एवं सान्त्वना से यह वचन कहा:– ॥37 ॥

त्वय्यागते पूर्ण इवाश्रमोऽभूत्सम्पद्यते शून्य इव प्रयाते ।
तस्मादिमं नार्हसि तात हातुं जिजीविषोर्देहमिवेष्टमायुः ॥७.३८

"आपके आनेपर आश्रम मानो पूर्ण हो गया था, जानेपर मानो शून्य हो रहा है। इसलिए, हे तात, आपको इसे न छोड़ना चाहिए, जैसे जीने की इच्छा करनेवाले की देह को अभिलषित आयु (न छोड़े) ॥38 ॥

ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिजुष्टः पुण्यः समीपे हिमवान् हि शैलः ।
तपांसि तान्येव तपोधनानां यत्सन्निकर्षाद्बहुलीभवन्ति ॥७.३९

ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों और देवर्षियों से सेवित पवित्र हिमवान् पर्वत समीप में है, जिसकी निकटता से तपस्वियों की ये तपस्याएँ (प्रभाव में) बढ़ जाती हैं ॥39 ॥

तीर्थानि पुण्यान्यभितस्तथैव सोपानभूतानि नभस्तलस्य ।
जुष्टानि धर्मात्मभिरात्मवद्भिर्देवर्षिभिश्चैव महर्षिभिश्च ॥७.४०

उसी प्रकार स्वर्ग के सोपान-स्वरूप ये पवित्र तीर्थ चारों ओर हैं, जो धर्मात्मा तथा आत्मवान् देवर्षियों और महर्षियों से सेवित है ॥40 ॥

इतश्च भूयः क्षममुत्तरैव दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः ।
न तु क्षमं दक्षिणतो बुधेन पदं भवेदेकमपि प्रयातुम् ॥७.४१

और, यहाँ से फिर विशेष धर्म के हेतु उत्तर दिशा का ही सेवन करना उचित है, बुद्धिमान् के लिए दक्षिण की ओर एक पग भी जाना उचित नही होगा ॥41 ॥

तपोवनेऽस्मिन्नथ निष्क्रियो वा सङ्कीर्णधर्मापतितोऽशुचिर्वा ।
दृष्टस्त्वया येन न ते विवत्सा तद्ब्रूहि यावद्रुचितोऽस्तु वासः ॥७.४२

यदि आपने इस तपोवन में (किसी को) निष्क्रिय, या सङ्कीर्ण धर्म में गिरा हुआ अपवित्र देखा है, जिससे आपकी यहाँ रहने की इच्छा नही, तो वैसा कहिये, और तबतक आप यहाँ रहें ॥42 ॥

---

[38]- इस श्लोक की व्याख्या यह होगी:–"तपस्या करते हुए जो पुण्य प्राप्त होता है उसका कारण यदि मानसिक संकल्प (intention) है, तो सुखोपभोग करते हुए भी वही संकल्प करना चाहिए जिससे पुण्य प्राप्त हो। यदि सुखोपभोग करते हुए संकल्प करने से पुण्य नहीं मिल सकता है तो तपस्या करते हुए भी संकल्प करने से पुण्य नहीं मिलना चाहिए।"

[39]- कर्मान्त = खलिहान, कारखाना, स्थली।

इमे हि वाञ्छन्ति तपःसहायं तपोनिधानप्रतिमं भवन्तम्।
वास्त्वया हीन्द्रसमेन सार्धं बृहस्पतेरभ्युदयावहः स्यात् ॥७.४३

क्योंकि ये (तपस्वी) आप तप-निधान सदृश को तप का साथी (बनाना) चाहते हैं, क्योंकि इन्द्र-तुल्य आपके साथ निवास करना बृहस्पति के लिए भी उदयप्रद होगा।" ॥43॥

इत्येवमुक्ते स तपस्विमध्ये तपस्विमुख्येन मनीषिमुख्यः।
भवप्रणाशाय कृतप्रतिज्ञः स्वं भावमन्तर्गतमाचचक्षे ॥७.४४

तपस्वियों के बीच उस प्रकार तपस्वी द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस श्रेष्ठ मनीषी ने, जिसने जन्म-विनाश के लिए प्रतीक्षा की थी, अपना आन्तरिक भाव बताया:– ॥44॥

ऋज्वात्मनां धर्मभृतां मुनीनामिष्टातिथित्वात्स्वजनोपमानाम्।
एवंविधैर्मां प्रति भावजातैः प्रीतिः परा मे जनितश्च मानः ॥७.४५

"सरल तथा धर्मपालक मुनि अपनी आतिथ्य प्रियता के कारण स्वजनों के समान है, मेरे प्रति उनके ऐसे भावों से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैं सम्मानित हुआ ॥45॥

स्निग्धाभिराभिर्हृदयङ्गमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः।
रतिश्च मे धर्मनवग्रहस्य विस्पन्दिता सम्प्रति भूय एव ॥७.४६

सङ्क्षेप में, सनेह-भरे हृदय-स्पर्शी इन वचनों से मैंने मानो स्नान किया; और हाल में ही धर्म को ग्रहण करनेपर भी (धर्म के प्रति) मेरा आनन्द इस समय फिर बढ़ रहा है ॥46॥

एवं प्रवृत्तान् भवतः शरण्यानतीव सन्दर्शितपक्षपातान्।
यास्यामि हित्वेति ममापि दुःखं यथैव बन्धूंस्त्यजतस्तथैव ॥७.४७

इस प्रकार (तपस्या में) लगे हुए आप लोगों को, जो आश्रय देनेवाले हैं और जिन्होंने मेरे प्रति अत्यन्त पक्षपात (ममत्व) दिखाया है, छोड़कर जाऊँगा—इससे मुझे भी वैसा ही दुःख है जैसा कि बन्धुओं को छोड़ते समय मुझे (हुआ था) ॥47॥

स्वर्गाय युष्माकमयं तु धर्मो ममाभिलाषस्त्वपुनर्भवाय।
अस्मिन्वने येन न मे विवत्सा भिन्नः प्रवृत्त्या हि निवृत्तिधर्मः ॥७.४८

आप लोगों का यह धर्म स्वर्ग के लिए है, मेरी अभिलाषा पुनर्जन्म के अभाव के लिए (=पुनर्जन्म न हो, इसके लिए) है, इसी कारण इस वन में मेरी रहने की इच्छा नहीं; क्योंकि निवृत्ति-धर्म प्रवृत्ति से भिन्न है ॥48॥

तन्नारतिर्मे न परापचारो वनादितो येन परिव्रजामि।
धर्मे स्थिताः पूर्वयुगानुरूपे सर्वे भवन्तो हि महार्षिकल्पाः ॥७.४९

यह न मेरी अरुचि है न दूसरों की आचार-हीनता, जिससे मैं इस वन से जा रहा हूँ; क्योंकि महर्षि-तुल्य आप सब पूर्व युग के अनुरूप धर्म में स्थित हैं।" ॥49॥

ततो वचः सूनृतमर्थवच्च सुश्लक्ष्णमोजस्वि च गर्वितं च।
श्रुत्वा कुमारस्य तपस्विनस्ते विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः ॥७.५०

तब कुमार का प्रिय, अर्थ-पूर्ण, स्निग्ध, ओजस्वी तथा गौरव-पूर्ण वचन सुनकर वे तपस्वी अत्यन्त सम्मानित हुए ॥50॥

कश्चिद्द्विजरतत्र तु भस्मशायी प्रांशुः शिखी दारवचीरवासाः।
आपिङ्गलाक्षस्तनुदीर्घघोणः कुण्डैकहस्तो गिरमित्युवाच ॥७.५१

वहाँ राख में सोनेवाले, लम्बा शरीरवाले, शिखावाले, वल्कल वस्त्रवाले, पीली आँखोंवाले, पतली व लम्बी नाकवाले, किसी द्विज ने, जिसके हाथ में पात्र था, यह वचन कहा:– ॥51॥

धीमन्नुदारः खलु निश्चयस्ते यस्त्वं युवा जन्मनि दृष्टदोषः।
स्वर्गापवर्गौ हि विचार्य सम्यग्यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥७.५२

"हे मेधाविन्, आपका निश्चय उदार (उत्तम) है, आपने युवा होकर जन्म में दोष देखा है; क्योंकि स्वर्ग व अपवर्ग का सम्यक् विचार कर अपवर्ग में जिसकी बुद्धि है, (वास्तव में) वही है ॥52॥

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तैः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः।
रागेण सार्धं रिपुणेव युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥७.५३

रागी (पुरुष) उन उन यज्ञों, तपों और नियमों से स्वर्ग जाने की इच्छा करते हैं; किन्तु सत्त्ववान् (पुरुष) राग के साथ, शत्रु के समान, युद्ध कर मोक्ष पाने की इच्छा करते हैं ॥53॥

तद्बुद्धिरेषा यदि निश्चिता ते तूर्णं भवान् गच्छतु विन्ध्यकोष्ठम्।
असौ मुनिस्तत्र वसत्यराडो यो नैष्ठिके श्रेयसि लब्धचक्षुः ॥७.५४

इसलिए यदि आपकी यह निश्चित बुद्धि है, तो शीघ्र ही आप विन्ध्यकोष्ठ जाइये। वहाँ वह मुनि अराड रहता है जिसने नैष्ठिक कल्याण में दृष्टि पाई है ॥54॥

तस्माद्भवाञ्छ्रोष्यति तत्त्वमार्गं सत्यां रुचौ सम्प्रतिपत्स्यते च।
यथा तु पश्यामि मतिस्तथैषा तस्यापि यास्यत्यवधूय बुद्धिम् ॥७.५५

उससे आप तत्त्व-मार्ग सुनेंगे और रुचि होनेपर स्वीकार करेंगे; किन्तु जैसा मैं देखता हूँ, आपकी यह बुद्धि ऐसी है कि उसकी भी बुद्धि का तिरस्कार कर आप चले जायँगे ॥55॥

स्पष्टोच्चघोणं विपुलायताक्षं ताम्राधरौष्ठं सिततीक्ष्णदंष्ट्रम्।
इदं हि वक्त्रं तनुरक्तजिह्वं ज्ञेयार्णवं पास्यति कृत्स्नमेव ॥७.५६

स्पष्ट व ऊँची नाकवाला, बड़ी व लम्बी आँखोंवाला, लाल ओठवाला, सफेद व तेज दाँतोंवाला, पतली व लाल जीभवाला (आपका) यह मुख सम्पूर्ण ही ज्ञान-सागर का पान करेगा ॥56॥

गम्भीरता या भवतस्त्वगाधा या दीप्तता यानि च लक्षणानि।
आचार्यकं प्राप्स्यसि तत्पृथिव्यां यन्नर्षिभिः पूर्वयुगेऽप्यवाप्तम् ॥७.५७

आपकी जो अगाध गम्भीरता है, जो दीप्ति है, और जो लक्षण हैं (इनसे प्रकट है कि) आप पृथिवी पर वह आचार्य-पद प्राप्त करेंगे, जो ऋषियों ने पूर्व युग में भी नही पाया" ॥57 ॥

परममिति ततो नृपात्मजस्तमृषिजनं प्रतिनन्द्य निर्ययौ ।

विधिवदनुविधाय तेऽपि तं प्रविविशुराश्रमिणस्तपोवनम् ॥७.५८

तब "अच्छा" कह और उन ऋषियों को प्रणाम कर, राजा का पुत्र चला गया। उन आश्रम-वासियों ने भी उसका विधिवत् सम्मान कर तपोवन में प्रवेश किया ॥58 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये तपोवनप्रवेशो नाम सप्तमः सर्गः ॥७ ॥

अष्टम सर्ग

अन्तःपुर-विलाप

ततस्तुरङ्गावचरः स दुर्मनास्तथा वनं भर्तरि निर्ममे गते ।

चकार यत्नं पथि शोकनिग्रहे तथापि चैवाश्रु न तस्य चिक्षिये ॥८.१

तब निर्मम स्वामी के उस प्रकार वन चले जानेपर उस उदास अश्व-रक्षक ने रास्ते में अपने शोक-निग्रह का यत्न किया; तो भी उसका आँसू क्षीण नही हुआ ॥1 ॥

यमेकरात्रेण तु भर्तुराज्ञया जगाम मार्गं सह तेन वाजिना ।

इयाय भर्तुर्विरहं विचिन्तयंस्तमेव पन्थानमहोभिरष्टभिः ॥८.२

स्वामी की आज्ञा से उस घोड़े के साथ जिस मार्ग से वह एक दिन में गया था, स्वामि-वियोग की चिन्ता करता हुआ उसी रास्ते से वह आठ दिनों में आया ॥2 ॥

हयश्च सौजा विचचार कन्थकस्तताम भावेन बभूव निर्मदः ।

अलङ्कृतश्चापि तथैव भूषणैरभूद्गतश्रीरिव तेन वर्जितः ॥८.३

ओजस्वी घोड़ा कन्थक चला, (दुःख के) भाव से थक गया, मद-रहित हो गया। भूषणों से उसी प्रकार अलङ्कृत होनेपर भी अपने स्वामी के बिना वह मानो श्री-हीन था ॥3 ॥

निवृत्य चैवाभिमुखस्तपोवनं भृशं जिहेषे करुणं मुहुर्मुहुः ।

क्षुधान्वितोऽप्यध्वनि शष्पमम्बु वा यथा पुरा नाभिननन्द नाददे ॥८.४

और, तपोवन की ओर मुड़कर वह दुःख के साथ बार-बार खूब हिनहिनाया। रास्ते में भूख लगनेपर भी वह तृण या जल से पहले की तरह न आनन्दित हुआ न उसे ग्रहण किया ॥4 ॥

ततो विहीनं कपिलाह्वयं पुरं महात्मना तेन जगद्धितात्मना ।

क्रमेण तौ शून्यमिवोपजग्मतुर्दिवाकरेणेव विनाकृतं नभः ॥८.५

तब वे दोनों, जगत् के हित में ही जिसकी आत्मा थी, उस महात्मा से रहित कपिल नामक नगर के समीप क्रम से गये, जो (नगर) सूर्य-रहित आकाश के समान सूना-सा था ॥5 ॥

सपुण्डरीकैरपि शोभितं जलैरलङ्कृतं पुष्पधरैर्नगैरपि ।

तदेव तस्योपवनं वनोपमं गतप्रहर्षैर्न रराज नागरैः ॥८.६

कमल-युक्त जलाशयों से शोभित होनेपर भी, पुष्पयुक्त वृक्षों से अलङ्कृत रहनेपर भी उसका वही उपवन जङ्गल के समान जान पड़ा; आनन्द-रहित नगर-निवासियों से वह दीप्त नही हुआ ॥6 ॥

ततो भ्रमद्भिर्दिशि दीनमानसैरनुज्ज्वलैर्बाष्पहतेक्षणैर्नरैः ।

निवार्यमाणाविव तावुभौ पुरं शनैरपस्नातमिवाभिजग्मतुः ॥८.७

तब चारों ओर घूमते हुए उदास लोगों से, जिनके चित्त दुःखी थे और आँखें आँसू से आकुल थीं, मानो मना किये जानेपर भी वे दोनों धीरे-धीरे उस नगर में गये जो मृत-स्नात (=किसी के मरनेपर स्नान किये हुए पुरुष) के समान था ॥7 ॥

निशम्य च स्रस्तशरीरगामिनौ विनागतौ शाक्यकुलर्षभेण तौ ।

मुमोच बाष्पं पथि नागरो जनः पुरा रथे दाशरथेरिवागते ॥८.८

शिथिल शरीर से जानेवाले वे दोनों शाक्य-कुल के बिना ही आये, यह देखकर नगर की जनता ने मार्ग में आँसू बहाये, जैसे प्राचीन काल में राम का रथ (वन से खाली लौट) आनेपर (आँसू बहाये थे) ॥8 ॥

अथ ब्रुवन्तः समुपेतमन्यवो जनाः पथि च्छन्दकमागताश्रवः ।

क्व राजपुत्रः पुरराष्ट्रनन्दनो हृतस्त्वयासाविति पृष्ठतोऽन्वयुः ॥८.९

तब शोकित लोग, जिन्हें आँसू आ गये थे, रास्ते में छन्दक से कहने लगे—"नगर व राष्ट्र को आनन्दित करनेवाला राज-पुत्र कहाँ है? तुमने उसका हरण किया है।" इस तरह कहते हुए वे उसके पीछे-पीछे चले ॥9 ॥

ततः स तान् भक्तिमतोऽब्रवीज्जनान्नरेन्द्रपुत्रं न परित्यजाम्यहम् ।

रुदन्नहं तेन तु निर्जने वने गृहस्थवेशश्च विसर्जिताविति ॥८.१०

तब उसने उन भक्त लोगों से कहा—"मैंने राजा के पुत्र को नही छोड़ा, किन्तु निर्जन वन में उसने ही मुझे रोते हुए को और अपने गृहस्थ वेश को विसर्जित किया" ॥10 ॥

इदं वचस्तस्य निशम्य ते जनाः सुदुष्करं खल्विति निश्चयं ययुः ।

पतद्धि जहुः सलिलं न नेत्रजं मनो निनिन्दुश्च फलोत्थमात्मनः ॥८.११

उसका यह वचन सुनकर, उन लोगों ने विचारा—"निश्चय ही (राजकुमार का) यह दुष्कर काम है।" वे अपने आँसू न रोक सके और फलासक्ति (स्वार्थपरता) से उत्पन्न अपनी मानसिक स्थिति की उन्होंने निन्दा की ॥11 ॥

अथोचुरद्यैव विशाम तद्वनं गतः स यत्र द्विपराजविक्रमः ।

जिजीविषा नास्ति हि तेन नो विना यथेन्द्रियाणां विगमे शरीरिणाम् ॥८.१२

तब वे बोले–"आज ही हम उस वन में जा रहे हैं, जहाँ गजराज के समान पराक्रमी वह (राजकुमार) गया है। उसके बिना हमारी जीने की इच्छा नही है, जैसे इन्द्रियों (की शक्ति) के नष्ट होनेपर देह-धारियों की (जीने की इच्छा नही होती) ॥12॥

इदं पुरं तेन विवर्जितं वनं वनं च तत्तेन समन्वितं पुरम् ।
न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम् ॥८.१३

उससे रहित यह नगर वन है और उससे युक्त वह वन नगर है; क्योंकि उसके बिना हमारा नगर उसी प्रकार शोभा-हीन है, जिस प्रकार वृत्र-वध के समय इन्द्र के बिना स्वर्ग" ॥13॥

पुनः कुमारो विनिवृत्त इत्यथो गवाक्षमालाः प्रतिपेदिरेऽङ्गनाः ।
विविक्तपृष्ठं च निशम्य वाजिनं पुनर्गवाक्षाणि पिधाय चुक्रुशुः ॥८.१४

"कुमार फिर लौट आये हैं" यह सोचकर स्त्रियाँ खिड़कियों के सामने आ गईं; और घोड़े की पीठ खाली देखकर फिर खिड़कियों को बन्द कर के राने लगीं ॥14॥

प्रविष्टदीक्षस्तु सुतोपलब्धये व्रतेन शोकेन च खिन्नमानसः ।
जजाप देवायतने नराधिपश्चकार तास्ताश्च यथाशयाः क्रियाः ॥८.१५

पुत्र की प्राप्ति के लिए दीक्षा ग्रहण कर, व्रत व शोक से खिन्नचित्त राजा ने देव-मन्दिर में जप किया और अपने आशय के अनुरूप भाँति-भाँति की क्रियाएँ कीं ॥15॥

ततः स बाष्पप्रतिपूर्णलोचनस्तुरङ्गमादाय तुरङ्गमानुसः ।
विवेश शोकाभिहतो नृपक्षयं युधापिनीते रिपुणेव भर्तरि ॥८.१६

तब आँसू-भरी आँखों से उस अश्वरक्षक ने घोड़े को लिवाते हुए कातर होकर राज-महल में प्रवेश किया, जैसे योद्धा शत्रु के द्वारा उसके स्वामी का अपहरण कर लिया गया हो ॥16॥

विगाहमानश्च नरेन्द्रमन्दिरं विलोकयन्नश्रुवहेन चक्षुषा ।
स्वरेण पुष्टेन रुराव कन्थको जनाय दुःखं प्रतिवेदयन्निव ॥८.१७

राज-महल में प्रवेश करता हुआ, आँसू-भरी आँखों से देखता हुआ कन्थक जोर से हिनहिनाया, मानो लोगों से वह (अपना) दु:ख निवेदन कर रहा हो ॥17॥

ततः खगाश्च क्षयमध्यगोचराः समीपबद्धास्तुरगाश्च सत्कृताः ।
हयस्य तस्य प्रतिसस्वनुः स्वनं नरेन्द्रसूनोरुपयानशङ्किनः ॥८.१८

तब महल के बीच रहनेवाले पक्षियों ने और समीप में बँधे हुए सत्कृत (=प्रिय) घोड़ों ने उस घोड़े के हिनहिनाने के प्रति शब्द किया, यह जानकर कि शायद राजकुमार आ रहा है ॥18॥

जनाश्च हर्षातिशयेन वञ्चिता जनाधिपान्तःपुरसन्निकर्षगाः ।
यथा हयः कन्थक एष हेषते ध्रुवं कुमारो विशतीति मेनिरे ॥८.१९

"यह कन्थक घोड़ा जिस प्रकार से हिनहिना रहा है, इससे यह प्रकट है कि कुमार निश्चय ही प्रवेश कर रहा है"– ऐसा मानकर राजा के अन्त:पुर के समीप जानेवाले लोग अतिशय हर्ष से उछलने लगे ॥19॥

अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्छिताः कुमारसन्दर्शनलोललोचनाः ।
गृहाद्विनिश्चक्रमुराशया स्त्रियः शरत्पयोदादिव विद्युतश्चलाः ॥८.२०

स्त्रियाँ, जो शोक से मूर्छित थीं, अति आनन्दित हुईं। कुमार को देखने की लालसा से उनकी आँखें चञ्चल हो उठीं, आशा के साथ वे घर से निकल आईं, जैसे शरत्काल के बादल से चपल बिजली (निकल आवे) ॥20॥

विलम्बवेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाष्पहतेक्षणैर्मुखैः ।
स्त्रियो न रेजुर्मृजया विनाकृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणाः ॥८.२१

उनके केशपाश लटक रहे थे, बारीक कपड़े मलिन थे, मुखों में अंजन नही था, आँखें आँसूओं से आकुल थीं; सिङ्गार किये बिना स्त्रियाँ शोभित नहीं हुईं, जैसे रात बीतनेपर आकाश में फीके तारे ॥21॥

अरक्तताम्रैश्चरणैरनूपुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैर्मुखैः ।
स्वभावपीनैर्जघनैरमेखलैरहारयोक्त्रैर्मुषितैरिव स्तनैः ॥८.२२

उनके पाँव महावर से रङ्गे नही थे, उनके नूपुर भी नही थे, मुख (कानों के) कुण्डलों से रहित थे, गले अनलङ्कृत थे, स्वभाव से मोटी जाँघें मेखला रहित थीं, हार व योक्त्र (=सूत्र ?) से रहित स्तन लुटे-से थे ॥22॥

निरीक्ष्य ता बाष्परीतलोचना निराश्रयं छन्दकमश्वमेव च ।
विषण्णवक्त्रा रुरुदुर्वराङ्गना वनान्तरे गाव इवर्षभोज्झिताः ॥८.२३

अश्रु-पूर्ण आँखों से छन्दक और घोड़े को स्वामी के बिना देखकर वे उत्तम स्त्रियाँ विषण्णवदन होकर रोईं, जैसे वन के भीतर साँड़ से परित्यक्त गाएँ ॥23॥

ततः सबाष्पा महिषी महीपतेः प्रनष्टवत्सा महिषीव वत्सला ।
प्रगृह्य बाहू निपपात गौतमी विलोलपर्णा कदलीव काञ्चनी ॥८.२४

तब रोती हुई राजा की पटरानी गौतमी, जो उस महिषी के समान (अपने पुत्र के लिए) वत्सल थी जिसका बछड़ा नष्ट हो गया हो, भुजाएँ फेंककर, हिलते पत्तेवाली सोने की कदली के समान गिर पड़ी ॥24॥

हतात्विषोऽन्याः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशुर्नाश्रु जहुर्न शश्वसुर्न चेलुरासुर्लिखिता इव स्थिताः ॥८.२५

अन्य निष्प्रभ स्त्रियों ने, जिनके कन्धे व भुजाएँ शिथिल थीं, विषाद से मानो बेहोश होकर न विलाप किया, न आँसू बहाये, न साँसें लीं, और न हिली-डुलीं ही; केवल चित्रित-सी खड़ी रहीं ॥25॥

अधीरमन्याः पतिशोकमूर्छिता विलोचनप्रस्रवणैर्मुखैः स्त्रियः ।
सिषिचिरे प्रोषितचन्दनान् स्तनान्धराधरः प्रस्रवणैरिवोपलान् ॥८.२६

दूसरी स्त्रियों ने, जो अधीर होकर पति के शोक से मूर्छित थीं, नेत्र-निर्झर मुखों से चन्दन-शून्य स्तनों को सींचा, जैसे पर्वत अपने झरनों से शिलाओं को (सींचता है) ॥26॥

मुखैश्च तासां नयनाम्बुताडितैः रराज तद्राजनिवेशनं तदा ।

नवाम्बुकालेऽम्बुदवृष्टिताडितैः स्रवज्जलैस्तामरसैर्यथा सरः ॥८.२७

तब उनके अश्रुपूर्ण मुखों से वह राज-भवन वैसे ही शोभित हुआ, जैसे कि सरोवर, जो वर्षों के आरम्भ में वृष्टि-जल से ताड़ित हुए जल-स्रावी कमलों से भरा हो ॥27 ॥

सुवृत्तपीनाङ्गुलिभिर्निरन्तरैरभूषणैर्गूढसिरैर्वराङ्गनाः ।

उरांसि जघ्नुः कमलोपमैः करैः स्वपल्लवैर्वातचला लता इव ॥८.२८

उत्तम स्त्रियों ने गोल, मोटी व सटी अङ्गुलियोंवाले कमलोपम करों से, जो भूषण-रहित थे और जिनकी सिराएँ (=धमनियाँ) छिपी हुई थीं, छाती पीटी, जैसे हवा से हिलती लताएँ अपने पल्लवों से (अपने को ही पीटती हैं) ॥28 ॥

करप्रहारप्रचलैश्च ता बभुस्तथापि नार्यः सहितोन्नतैः स्तनैः ।

वनानिलाघूर्णितपद्मकम्पितै रथाङ्गनाम्नां मिथुनैरिवापगाः ॥८.२९

हाथों की चोटों से हिलते हुए कठोर व उन्नत स्तनोंवाली वे स्त्रियाँ उन नदियों के समान शोभित हुईं जिनके चक्रवाक-युगल जङ्गल की हवा से हिलाये गये कमलों से काँप रहे हों ॥29 ॥

यथा च वक्षांसि करैरपीडयंस्तथैव वक्षोभिरपीडयन् करान् ।

अकारयंस्तत्र परस्परं व्यथाः कराग्रवक्षांस्यबला दयालसाः ॥८.३०

और, जैसे हाथों से छातियों को पीड़ित किया, वैसे ही छातियों से भी हाथों को पीड़ित किया। निर्दय होकर अबलाओं ने हाथों व छातियों द्वारा एक दूसरे को व्यथित कराया ॥30 ॥

ततस्तु रोषप्रविरक्तलोचना विषादसम्बन्धिकषायगद्गदम् ।

उवाच निश्वासचलत्पयोधरा विगाढशोकाश्रुधरा यशोधरा ॥८.३१

तब रोष से लाल आँखोंवाली, साँसों से हिलते स्तनोंवाली गाढ़ शोक से आँसू बहानेवाली यशोधरा ने विषाद-सम्बन्धी कसैलेपन (=कटुता से) गद्गद होकर कहा:– ॥31 ॥

निशि प्रसुप्तामवशां विहाय मां गतः क्व स च्छन्दक मन्मनोरथः ।

उपागते च त्वयि कन्थके च मे समं गतेषु त्रिषु कम्पते मनः ॥८.३२

"रात को सोई हुई मुझ विवश को छोड़कर, हे छन्दक, मेरा वह मनोरथ (=प्रियतम) कहाँ गया? तीनों साथ गये थे, और कन्थक व तुम आ गये, मेरा मन काँप रहा है ॥32 ॥

अनार्यमस्निग्धममित्रकर्म मे नृशंस कृत्वा किमिहाद्य रोदिषि ।

नियच्छ बाष्पं भव तुष्टमानसो न संवदत्यश्रु च तच्च कर्म ते ॥८.३३

मेरे लिए अनार्य, अस्निग्ध और शत्रुतापूर्ण काम करके, हे क्रुर, क्यों आज यहाँ रो रहे हो? आँसू रोको, सन्तुष्टचित्त होओ, आँसू और तुम्हारा वह काम (परस्पर) मेल नहीं खाते ॥33 ॥

प्रियेण वश्येन हितेन साधुना त्वया सहायेन यथार्थकारिणा ।

गतोऽर्यपुत्रो ह्यपुनर्निवृत्तये रमस्व दिष्ट्या सफलः श्रमस्तव ॥८.३४

प्रिय, वशवर्ती, हित, साधु और यथार्थकारी तुझ साथी के साथ आर्यपुत्र गये, फिर लौटने के लिए नहीं। आनन्द करो, सौभाग्य से तुम्हारा श्रम सफल (हुआ) ॥34 ॥

वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिपुर्न मित्रमप्राज्ञमयोगपेशलम् ।

सुहृद्ब्रुवेण ह्यविपश्चिता त्वया कृतः कुलस्यास्य महाननुप्लवः ॥८.३५

मनुष्य का चतुर शत्रु अच्छा है, न कि मूर्ख मित्र जो वियोग (कराने) में निपुण होता है। मित्र कहे जानेवाले तुझ मूर्ख ने इस कुल का बड़ा ही अनर्थ किया ॥35 ॥[40]

इमा हि शोच्या व्यवमुक्तभूषणाः प्रसक्तबाष्पाविलरक्तलोचनाः ।

स्थितेऽपि पत्यौ हिमवन्महीसमे प्रनष्टशोभा विधवा इव स्त्रियः ॥८.३६

हिमालय और पृथिवी के समान (धैर्यशाली) स्वामी के रहनेपर भी, विधवाओं के सदृश शोभा-हीन हुई ये स्त्रियाँ दयहीन हैं, जिन्होंने गहने फेंक दिये हैं और जिनकी आँखें निरन्तर बहते अश्रु-जल से मलिन और लाल हैं ॥36 ॥

इमाश्च विक्षिप्तविटङ्कबाहवः प्रसक्तपारावतदीर्घनिस्वनाः ।

विनाकृतास्तेन सहावरोधनैर्भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तयः ॥८.३७

और कपोत-पालिका भुजाएँ फैलाये हुए ये प्रासाद-पङ्क्तियाँ, जो आसक्त कपातों से लम्बी साँसे ले रही हैं रनिवासों के साथ उनके वियोग में मानो खूब रो रही हैं ॥37 ॥

अनर्थकामोऽस्य जनस्य सर्वथा तुरङ्गमोऽपि ध्रुवमेष कन्थकः ।

जहार सर्वस्वमितस्तथा हि मे जने प्रसुप्ते निशि रत्नचौरवत् ॥८.३८

निश्चय ही यह कन्थक घोड़ा भी इस व्यक्ति के अनर्थ का सर्वथा इच्छुक था; क्योंकि लोगों के सोये रहनेपर रात में रत्न-चोर के समान इसने मेरे सर्वस्व का यहाँ से उस प्रकार हरण किया है ॥38 ॥

यदा समर्थः खलु सोढुमागतानिषुप्रहारानपि किं पुनः कशाः ।

गतः कशापातभयात्कथं न्वयं श्रियं गृहीत्वा हृदयं च मे समम् ॥८.३९

जब तीरों के आये हुए प्रहार सहने में वह समर्थ है, कोड़ों का क्या कहना, तब कोड़े के भय से यह मेरे हृदय और सौभाग्य को साथ लेकर कैसे गया? ॥39 ॥

अनार्यकर्मा भृशमद्य हेषते नरेन्द्रधिष्ण्यं प्रतिपूरयन्निव ।

यदा तु निर्वाहयति स्म मे प्रियं तदा हि मूकस्तुरगाधमोऽभवत् ॥८.४०

(यह) अनार्यकर्मा आज खूब हिनहिना रहा है, मानो राज-भवन को भर रहा हो। किन्तु जब मेरे प्रियतम को ले जा रहा था, तब यह अधम अश्व गूँगा हो गया था ॥40 ॥

यदि ह्यहेषिष्यत बोधयन् जनं खुरैः क्षितौ वाप्यकरिष्यत ध्वनिम् ।

हनुस्वनं वाजनिष्यदुत्तमं न चाभविष्यन्मम दुःखमीदृशम् ॥८.४१

---

[40]- **"अयोग-पेशल" का दूसरा अर्थ होगा–"अनुचित करने में निपुण" ।**

यदि हिनहिनाकर लोगों को जगाता, या खुरों से पृथिवी पर शब्द करता, या जबड़ों से जोरों का शब्द करता, तो मुझे ऐसा दुःख न होता" ॥41 ॥

इतीह देव्याः परिदेविताश्रयं निशम्य बाष्पग्रथिताक्षरं वचः ।

अधोमुखः साश्रुकलः कृताञ्जलिः शनैरिदं छन्दक उत्तरं जगौ ॥८.४२

देवी का यह शोक-मूलक वचन, जिसके अक्षर आँसुओं से ग्रथित थे, सुनकर अधोमुख छन्दक ने, रोते हुए, हाथ जोड़कर, धीरे-धीरे यह उत्तर दिया:– ॥42 ॥

विगर्हितुं नार्हसि देवि कन्थकं न चापि रोषं मयि कर्तुमर्हसि ।

अनागसौ स्वः समवेहि सर्वशो गतो नृदेवः स हि देवि देवत् ॥८.४३

"हे देवि, आपको न कन्थक की निन्दा करनी चाहिए और न मुझपर ही रोष करना चाहिए। हम दोनों को सर्वथा निर्दोष समझिये, हे देवि, वह नरदेव देवता के समान गये ॥43 ॥

अहं हि जानन्नपि राजशासनं बलात्कृतः कैरपि दैवतैरिव ।

उपानयं तूर्णमिमं तुरङ्गमं तथान्वगच्छं विगतश्रमोऽध्वनि ॥८.४४

यद्यपि मैं राजा की आज्ञा को जानता था, तो भी मानो किन्हीं देवताओं ने मुझसे बलात् कराया। जल्दी से मैं इस घोड़े का समीप ले आया। मार्ग में बिना थके ही उस प्रकार उसके पीछे-पीछे गया ॥44 ॥

व्रजन्नयं वाजिवरोऽपि नास्पृशन्महीं खुराग्रैर्विधृतैरिवान्तरा ।

तथैव दैवादिव संयताननो हनुस्वनं नाकृत नाप्यहेषत ॥८.४५

जाते हुए इस अवश-श्रेष्ठ ने भी खुरों के अग्रभाग से, जो मानो बीच में ही (किसी के द्वारा) पकड़े हुए थे, धरती का स्पर्श नही किया। उसी प्रकार मानो दैव-वंश संयत-मुख होकर न जबड़ों से शब्द किया और न हिनहिनाया ॥45 ॥

यतो बहिर्गच्छति पार्थिवात्मजे तदाभवद्द्वारमपावृतं स्वयम् ।

तमश्च नैशं रविणेव पाटितं ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥८.४६

क्योंकि जब राजा का पुत्र बाहर जा रहा था, तब द्वार आप ही आप खुल गया और रात्रि का अन्धकार दूर हो गया, जैसे सूर्य द्वारा विदीर्ण हुआ हो, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥46 ॥

यदप्रमत्तोऽपि नरेन्द्रशासनाद्गृहे पुरे चैव सहस्रशो जनः ।

तदा स नाबुध्यत निद्रया हृतस्ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥८.४७

क्योंकि राजा की आज्ञा से सावधान रहनेपर भी महल और नगर में हजार-हजार लोग नहीं जागे, नींद से अभिभूत थे, इसस भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥47 ॥

यतश्च वासो वनवाससम्मतं निसृष्टमस्मै समये दिवौकसा ।

दिवि प्रविद्धं मुकुटं च तद्धृतं ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥८.४८

और, क्योंकि वन-वास-योग्य वस्त्र देवता ने उन्हें समय पर दिया और आकाश में फेंका गया वह मुकुट पकड़ा गया, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥48 ॥

तदेवमावां नरदेवि दोषतो न तत्प्रयातं प्रति गन्तुमर्हसि ।

न कामकारो मम नास्य वाजिनः कृतानुयात्रः स हि दैवतैर्गतः ॥८.४९

इसलिए, हे नर-देवि, इनके जाने के बारे में आपको हमें दोषी नहीं समझना चाहिए। न मेरी इच्छा से (कुछ) हुआ और न इस घोड़े की इच्छा से ही। दैवों से अनुसृत होकर वह गये" ॥49 ॥

इति प्रयाणं बहुदेवमद्भुतं निशम्य तास्तस्य महात्मनः स्त्रियः ।

प्रनष्टशोका इव विस्मयं ययुर्मनोज्वरं प्रव्रजनात्तु लेभिरे ॥८.५०

इस तरह उस महात्मा का अनेक देवों से युक्त अद्भुत प्रयाण सुनकर वे स्त्रियाँ विस्मित हुईं, जैसे उनका शोक नष्ट हो गया हो; किन्तु उसके प्रव्रज्या ग्रहण करने से उन्हें मानसिक ताप हुआ ॥50 ॥

विषादपारिप्लवलोचना ततः प्रनष्टपोता कुररीव दुःखिता ।

विहाय धैर्यं विरुराव गौतमी तताम चैवाश्रुमुखी जगाद च ॥८.५१

तब विषाद से चञ्चल आँखोंवाली गौतमी, उस कुररी के समान जिसके बच्चे खो गये हों, दुःखी और अधीर होकर रोई। वह मूर्छित हुई और रोती हुई बोली:– ॥51 ॥

महोर्मिमन्तो मृदवोऽसिताः शुभाः पृथक्पृथङ्मूलरुहाः समुद्गताः ।

प्रवेरितास्ते भुवि तस्य मूर्धजा नरेन्द्रमौलीपरिवेष्टनक्षमाः ॥८.५२

"क्या उसके वे अत्यन्त तरङ्गित कोमल काले और मङ्गलमय केश, जो पृथक्-पृथक् मूल से उत्पन्न होकर ऊपर उठे थे और जो राजमुकुट के परिवेष्टन के योग्य थे, पृथिवी पर गिराये गये? ॥52 ॥

प्रलम्बबाहुर्मृगराजविक्रमो महर्षभाक्षः कनकोज्ज्वलद्युतिः ।

विशालवक्षा घनदुन्दुभिस्वनस्तथाविधोऽप्याश्रमवासमर्हति ॥८.५३

उसकी भुजाएँ लम्बी हैं, मृगराज की-सी गति है, महा वृषभ की-सी आँखें हैं। सोने की-सी उज्जवल द्युति है, वक्षःस्थल विशाल है, मेघरूपी दुन्दुभी की-सी ध्वनि है; क्या ऐसा (कुमार) भी आश्रम-वास के योग्य है? ॥53 ॥

अभागिनी नूनमियं वसुन्धरा तमार्यकर्माणमनुत्तमं पतिम् ।

गतस्ततोऽसौ गुणवान् हि तादृशो नृपः प्रजाभाग्यगुणैः प्रसूयते ॥८.५४

निश्चय ही वह आर्यकर्मा अद्वितीय पति इस वसुन्धरा के भाग्य में नही है, इसीलिए तो वह चला गया। ऐसा गुणवान् राजा प्रजा के सौभाग्य से ही जन्म लेता है ॥54 ॥

सुजातजालावतताङ्गुली मृदू निगूढगुल्फौ बिषपुष्पकोमलौ ।

वनान्तभूमिं कठिनां कथं नु तौ सचक्रमध्यौ चरणौ गमिष्यतः ॥८.५५

वे मृदु चरण—जिनकी अङ्गुलियों पर सुन्दर (रेखा-) जाल बिछा हुआ है, जिनकी पाद-ग्रन्थियाँ छिपी हुई हैं, जो कमल-तन्तु या फूल के समान कोमल हैं, जिनके मध्य भाग में चक्र हैं—वन की कठिन भूमि पर कैसे चलेंगे? ॥55 ॥

विमानपृष्ठे शयनासनोचितं महार्हवस्त्रागुरुचन्दनार्चितम् ।
कथं नु शीतोष्णजलागमेषु तच्छरीरमोजस्वि वने भविष्यति ॥८.५६

महल की छतपर के शयन और आसन से परिचित वह ओजस्वी शरीर, जो बहुमूल्य वस्त्र, अगुरु और चन्दन से पूजित (=अलङ्कृत) हुआ है, जाड़े गर्मी व वर्षा में वन में कैसे रहेगा? ॥56 ॥

कुलेन सत्त्वेन बलेन वर्चसा श्रुतेन लक्ष्म्या वयसा च गर्वितः ।
प्रदातुमेवाभ्युचितो न याचितुं कथं स भिक्षां परतश्चरिष्यति ॥८.५७

कुल, सत्त्व, बल, रूप, विद्या, लक्ष्मी और वयस (=यौवन) से गौरवान्वित के लिए देना ही उचित है न कि माँगना; कैसे वह दूसरों से भिक्षा माँगेगा? ॥57 ॥

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः ।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥८.५८

वह सोने की पवित्र शय्यापर सोता था और रात के अन्त में तूर्य की ध्वनि से जगाया जाता था; मेरा वह व्रती कपड़े के एक छोर से ढकी धरती पर आज कैसे सोयेगा?" ॥58 ॥

इमं प्रलापं करुणं निशम्य ता भुजैः परिष्वज्य परस्परं स्त्रियः ।
विलोचनेभ्यः सलिलानि तत्यजुर्मधूनि पुष्पेभ्य इवेरिता लताः ॥८.५९

यह करुण प्रलाप सुनकर, उन स्त्रियों ने भुजाओं से एक दूसरे का आलिङ्गन कर आँखों से आँसू बहाये, जैसे कम्पित लताएँ (अपने) फूलों से मधु (बहायें) ॥59 ॥

ततो धरायामपतद्यशोधरा विचक्रवाकेव रथाङ्गसाह्वया ।
शनैश्च तत्तद्विललाप विक्लवा मुहुर्मुहुर्गद्गदरुद्धया गिरा ॥८.६०

तब चक्रवाक से वियुक्त चक्रवाकी के समान यशोधरा धरती पर गिरी और विकल होकर बाष्प से बार-बार रुकती वाणी में धीरे-धीरे भाँति-भाँति से विलाप किया:– ॥60 ॥

स मामनाथां सहधर्मचारिणीमपास्य धर्मं यदि कर्तुमिच्छति ।
कुतोऽस्य धर्मः सहधर्मचारिणीं विना तपो यः परिभोक्तुमिच्छति ॥८.६१

"मुझ अनाथाा सहधर्मचारिणी को छोड़कर यदि वह धर्म करना चाहते हैं, तो कहाँ से इन्हें धर्म होगा जो सहधर्मचारिणी के बिना ही तपस्या करना चाहते हैं? ॥61 ॥

शृणोति नूनं स न पूर्वपार्थिवान्महासुदर्शप्रभृतीन् पितामहान् ।
वनानि पत्नीसहितानुपेयुषस्तथा हि धर्मं मदृते चिकीर्षति ॥८.६२

अवश्य ही उन्होंने प्राचीन राजाओं, महासुदर्श-आदि अपने पितामहों, के बारे में नही सुना है, जो पत्नी-सहित वन गये थे; क्योंकि वह मेरे बिना इसी प्रकार धर्म करना चाहते हैं ॥62 ॥

मखेषु वा वेदविधानसंस्कृतौ न दम्पती पश्यति दीक्षितावुभौ ।
समं बुभुक्षू परतोऽपि तत्फलं ततोऽस्य जातो मयि धर्मत्सरः ॥८.६३

या यज्ञों में वेद-विधान के अनुसार संस्कृत या दीक्षित उभय दम्पती को नहीं देख रहे हैं, जो परलोक में भी यज्ञ-फल का साथ ही उपभोग करना चाहते हैं; अतः मेरे धर्म से इन्हें द्वेष हो गया है ॥63 ॥

ध्रुवं स जानन्मम धर्मवल्लभो मनः प्रियेर्ष्याकलहं मुहुर्मिथः ।
सुखं विभीर्मामपहाय रोषणां महेन्द्रलोकेऽप्सरसो जिघृक्षति ॥८.६४

निश्चय ही वह धर्म-वल्लभ मेरे मन को एकान्त में बार-बार ईर्ष्यायु और कलह-प्रिय जानकर सुख (न होने के) डर से मुझ कोपशीला को छोड़कर इन्द्र-लोक में अप्सराओं को पाना चाहते हैं ॥64 ॥

इयं तु चिन्ता मम कीदृशं नु ता वपुर्गुणं बिभ्रति तत्र योषितः ।
वने यदर्थं स तपांसि तप्यते श्रियं च हित्वा मम भक्तिमेव च ॥८.६५

मेरी यह चिन्ता है कि वहाँ वह स्त्रियाँ कैसा उत्तम रूप धारण करती हैं, जिसके लिए लक्ष्मी और मेरी भक्ति को छोड़कर, वह वन में तप कर रहे हैं ॥65 ॥

न खल्वियं स्वर्गसुखाय मे स्पृहा न तज्जनस्यात्मवतोऽपि दुर्लभम् ।
स तु प्रियो मामिह वा परत्र वा कथं न जह्यादिति मे मनोरथः ॥८.६६

निश्चय ही स्वर्ग-सुख के लिए मेरी यह इच्छा नही है, वह सुख आत्मवान् व्यक्ति (संयतात्मा के) लिए दुर्लभ नहीं; किन्तु वह प्रिय इस लोक या परलोक में मुझे कैसे न छोड़ें, यही मेरा मनोरथ है ॥66 ॥

अभागिनी यद्यहमायतेक्षणं शुचिस्मितं भर्तुरुदीक्षितुं मुखम् ।
न मन्दभाग्योऽर्हति राहुलोऽप्ययं कदाचिदङ्के परिवर्तितुं पितुः ॥८.६७

यदि लम्बी आँखोंवाले पवित्र मुसकानवाले स्वामि-मुख को देखना मेरे भाग में नही है, तो क्या मन्दभाग्य यह राहुल भी पिता को गोद में कदाचित् लोटने योग्य नही? ॥67 ॥

अहो नृशंसं सुकुमारवर्चसः सुदारुणं तस्य मनस्विनो मनः ।
कलप्रलापं द्विषतोऽपि हर्षणं शिशुं सुतं यस्त्यजतीदृशं बतः ॥८.६८

अहो! सुकुमार रूपवाले उस मनस्वी का मन कठोर और अतिदारुण है, जो शत्रुओं को भी हरसानेवाले तुतलाये हुए ऐसे बाल-सुत को छोड़ रहे हैं ॥68 ॥

ममापि कामं हृदयं सुदारुणं शिलामयं वाप्ययसोपि वा कृतम् ।
अनाथवच्छ्रीरहिते सुखोचिते वनं गते भर्तरि यन्न दीर्यते ॥८.६९

मेरा भी हृदय अतिदारुण है, पत्थर का बना है या लोहे का भी, जो, सुख से परिचित स्वामी के श्री रहित होकर अनाथ के समान वन जानेपर, विदीर्ण नही हो रहा है" ॥69 ॥

इतीह देवी पतिशोकमूर्छिता रुरोद दध्यौ विललाप चासकृत् ।
स्वभावधीरापि हि सा सती शुचा धृतिं न सस्मार चकार नो ह्रियम् ॥८.७०

इस तरह पति के शोक से मूर्छित होकर, देवी रोई, चिन्तित हुई, और बार-बार विलाप किया। स्वभाव से धीर होनेपर भी शोक के कारण वह धैर्य भूल गई ओर लाज नही की ॥70 ॥

ततस्तथा शोकविलापविक्लवां यशोधरां प्रेक्ष्य वसुन्धरागताम् ।
महारविन्दैरिव वृष्टिताडितैर्मुखैः सबाष्पैर्वनिता विचुकुशुः ॥८.७१

तब उस प्रकार शोक व विलाप से विह्वल यशोधरा को वसुन्धरा पर आई देखकर, वृष्टि-ताड़ित बड़े-बड़े कमलों के समान साश्रु मुखों से वनिताओं ने क्रदन किया ॥71 ॥

समाप्तजाप्यः कृतहोममङ्गलो नृपस्तु देवायतनाद्विनिर्ययौ ।
जनस्य तेनार्तरवेण चाहतश्चचाल वज्रध्वनिनेव वारणः ॥८.७२

जप समाप्त कर, मङ्गलमय हवन-कर्म करके, राजा देव-मन्दिर से बाहर आया और लोगों की उस आर्त ध्वनि से आहत होकर वैसे ही काँप उठा, जैसे वज्र के शब्द से हाथी ॥72 ॥

निशाम्य च च्छन्दककन्थकावुभौ सुतस्य संश्रुत्य च निश्चयं स्थिरम् ।
पपात शोकाभिहतो महीपतिः शचीपतेर्वृत्त इवोत्सवे ध्वजः ॥८.७३

छन्दक व कन्थक दोनों को देखकर और पुत्र का दृढ़ निश्चय सुनकर, शोक से अभिभूत हो, राजा वैसे ही गिर पड़ा, जैसे उत्सव समाप्त होनेपर इन्द्र की ध्वजा ॥73 ॥

ततो मुहूर्तं सुतशोकमोहितो जनेन तुल्याभिजनेन धारितः ।
निरीक्ष्य दृष्ट्या जलपूर्णया हयं महीतलस्थो विललाप पार्थिवः ॥८.७४

तब मुहुर्तभर पुत्र के शोक से वह मूर्छित रहा, तुल्य कुल के लोगों ने उसे धारण; जलपूर्ण दृष्टि से घोड़े को देखकर, पृथिवी पर पड़े हुए राजा ने विलाप किया:– ॥74 ॥

बहूनि कृत्वा समरे प्रियाणि मे महत्त्वया कन्थक विप्रियं कृतम् ।
गुणप्रियो येन वने स मे प्रियः प्रियोऽपि सन्नप्रियवत्प्रवेरितः ॥८.७५

"युद्ध में मेरे बहुतेरे प्रिय (काम) करके, हे कन्थक, तुमने यह बड़ा अप्रिय (कर्म) किया, मेरे उस गुण-प्रिय पुत्र को प्रिय होनेपर भी अप्रिय के समान वन में फेंक दिया ॥75 ॥

तदद्य मां वा नय तत्र यत्र स व्रज द्रुतं वा पुनरेनमानय ।
ऋते हि तस्मान्मम नास्ति जीवितं विगाढरोगस्य सदौषधादिव ॥८.७६

अत: आज मुझे वहाँ ले चलो जहाँ वह है; या जल्दी जाओ, फिर उसे ले आओ क्योंकि उसके बिना मैं जीवित नही रहूँगा, जैसे अच्छी ओषधी के बिना रोग-ग्रस्त व्यक्ति (जीवित नही रह सकता) ॥76 ॥

सुवर्णनिष्ठीविनि मृत्युना हृते सुदुष्करं यन्न ममार सञ्जयः ।
अहं पुनर्धर्मरतौ सुते गते मुमुक्षुरात्मानमनात्मवानिव ॥८.७७

सुवर्णनिष्ठीवी का मृत्यु द्वारा हरण होनेपर सञ्जय (=सृञ्जय) नही मरा, यह अति दुष्कर हुआ; किन्तु मैं, धर्म-रत पुत्र के चले जानेपर, असंयतात्मा के समान आत्मा (=प्राण) छोड़ने की इच्छा कर रहा हूँ ॥77 ॥

विभोर्दशक्षत्रकृतः प्रजापतेः परापरज्ञस्य विवस्वदात्मनः ।
प्रियेण पुत्रेण सता विनाकृतं कथं न मुह्येद्धि मनो मनोरपि ॥८.७८

दस राज्यों के स्रष्टा, प्रभु, प्रजापति, पर व अपर को जाननेवाले, विवस्वान् के पुत्र, मनु का भी मन, अच्छे प्रिय पुत्र से वियुक्त होकर, कैसे मूर्छित न हो? ॥78 ॥

अजस्य राज्ञस्तनयाय धीमते नराधिपायेन्द्रसखाय मे स्पृहा ।
गते वनं यस्तनये दिवं गतो न मोघबाष्पः कृपणं जिजीव ह ॥८.७९

राजा अज के बुद्धिमान् पुत्र, इन्द्र के मित्र, नराधिप (दशरथ) से मुझे ईर्ष्या है जो पुत्र के वन जानेपर स्वर्ग चले गये, व्यर्थ आँसू बहाते हुए दीन होकर जीवित नही रहे ॥79 ॥

प्रचक्ष्व मे भद्र तदाश्रमाजिरं हृतस्त्वया यत्र स मे जलाञ्जलिः ।
इमे परीप्सन्ति हि तं पिपासवो ममासवः प्रेतगतिं यियासवः ॥८.८०

हे भद्र, मुझे वह आश्रम-स्थान बताओ जहाँ तुम मेरी उस जलाञ्जलि (=जलाञ्जलि देनेवाले) को ले गये हो; क्योंकि प्रेत गति को जाने की (=मरने की) इच्छा करनेवाले मेरे ये प्यासे प्राण उसे पाना चाहते हैं।" ॥80 ॥

इति तनयवियोगजातदुःखं क्षितिसदृशं सहजं विहाय धैर्यम् ।
दशरथ इव रामशोकवश्यो बहु विललाप नृपो विसञ्ज्ञकल्पः ॥८.८१

इस तरह पुत्र के वियोग से दु:खी होकर धरती की-सी स्वभाविक धीरता को छोड़कर, राम के शोक से परतन्त्र दशरथ के समान, राजा ने मानो अचेत होकर बहुत विलाप किया ॥81 ॥

श्रुतविनयगुणान्वितस्तस्तं मतिसचिवः प्रवयाः पुरोहितश्च ।
समधृतमिदमूचतुर्यथावन्न च परितप्तमुखौ न चाप्यशोकौ ॥८.८२

तब विद्या, विनय व गुण से युक्त मन्त्री तथा प्रौढ़ पुरोहित ने, न संतप्त मुख होकर और न शोक-रहित होकर, तुल्य जन से धारण किये गये राजा को ठीक-ठीक यों कहा:– ॥82 ॥

त्यज नरवर शोकमेहि धैर्यं कुधृतिरिवार्हसि धीर नाश्रु मोक्तुम् ।
स्रजमिव मृदितामपास्य लक्ष्मीं भुवि बहवो नृपा वनान्यतीयुः ॥८.८३

"हे नर-श्रेष्ठ शोक छोड़िए, धैर्य धारण कीजिए। हे धीर, अधीर के समान आपको आँसू न बहाना चाहिए। रौंदी गई माला के समान लक्ष्मी को छोड़कर (इस) पृथ्वी पर बहुत से राजा वन चले गये ॥83 ॥

अपि च नियत एष तस्य भावः स्मर वचनं तदृषेः पुरासितस्य ।
न हि स दिवि न चक्रवर्तिराज्ये क्षणमपि वासयितुं सुखेन शक्यः ॥८.८४

और भी, उसका यह भाव तो नियत ही था; पूर्व के असित ऋषि का वह वचन स्मरण कीजिए। न स्वर्ग में, न चक्रवर्त्ति-राज्य में क्षणभर के लिए भी वह सुख से रखा जा सकता है ॥84 ॥

यदि तु नृवर कार्य एव यत्नस्त्वरितमुदाहर यावदत्र यावः ।
बहुविधमिह युद्धमस्तु तावत्तव तनयस्य विधेश्च तस्य तस्य ॥८.८५

हे नर-श्रेष्ठ, यदि यत्न करना ही है, तो तुरत कहिए, और हम वहाँ जायँ। तब आपके पुत्र के और तरह-तरह के उपाय के बीच भाँति-भाँति का युद्ध हो" ॥85 ॥

नरपतिरथ तौ शशास तस्माद्द्रुतमित एव युवामभिप्रयातम् ।
न हि मम हृदयं प्रयाति शान्तिं वनशकुनेरिव पुत्रलालसस्य ॥८.८६

इसलिए तब राजा ने उन्हें आज्ञा दी—"यहीं से आप दोनों शीघ्र चले जायँ। क्योंकि, मेरा हृदय, पुत्र के लिए उत्सुक वन-पक्षी के हृदय के समान, शान्ति नही पा रहा है" ॥86 ॥

परममिति नरेन्द्रशासनात्तौ ययतुरमात्यपुरोहितौ वनं तत् ।
कृतमिति सवधूजनः सदारो नृपतिरपि प्रचकार शेषकार्यम् ॥८.८७

"अच्छा" कहकर राजा की आज्ञा से मन्त्री और पुरोहित दोनों ही उस वन को चले गये। "अच्छा ही किया गया", ऐसा समझकर (पुत्र-) वधुओं और पत्नियों के साथ राजा ने भी शेष कार्य किया ॥87 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽन्तःपुरविलापो नामाष्टमः सर्गः ॥८ ॥

नवम सर्ग

कुमार-अन्वेषण

ततस्तदा मन्त्रिपुरोहितौ तौ बाष्पतोदाभिहतौ नृपेण ।
विद्धौ सदश्वाविव सर्वयत्नात्सौहार्दशीघ्रं ययतुर्वनं तत् ॥९.१

तब उस समय मन्त्री और पुरोहित दोनों, राजा के द्वारा अश्रुरूप अङ्कुश से आहत होकर, विद्ध हुए अच्छे घोड़े के समान समस्त यत्न से, सौहार्द के कारण वेग से उस वन को चले ॥1 ॥

तमाश्रम् जातपरिश्रमौ तावुपेत्य काले सदृशानुयात्रौ ।
राजर्द्धिमुत्सृज्य विनीतचेष्टावुपेयतुर्भार्गवधिष्ण्यमेव ॥९.२

समय पर योग्य अनुयायियों के साथ उस आश्रम के पास वे थके हुए पहुँचे। राज-ऋद्धि को छोड़, विनीत-चेष्ट हो, वे भार्गव के स्थान पर गये ॥2 ॥

तौ न्यायतस्तं प्रतिपूज्य विप्रं तेनार्चितौ तावपि चानुरूपम् ।
कृतासनौ भार्गवमासनस्थं छित्त्वा कथामूचतुरात्मकृत्यम् ॥९.३

उन दोनों ने उस विप्र की उचित पूजा की और उसने उन दोनों की भी योग्य पूजा की। आसन ग्रहण कर, दोनों ने आसनपर स्थित भार्गव से कथा काटकर (=सङ्क्षिप्त कर) अपना काम कहा:— ॥3 ॥

शुद्धौजसः शुद्धविशालकीर्तेरिक्ष्वाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः ।
इमं जनं वेत्तु भवानधीतं श्रुतग्रहे मन्त्रपरिग्रहे च ॥९.४

"शुद्ध ओजवाले, शुद्ध व विशाल कीर्तिवाले, इक्ष्वाकु-वंश-प्रसूत राजा के इस व्यक्ति को (=हम दोनों को) आप शास्त्र और मन्त्रणा में निपुण (=पुरोहित और मन्त्री) जानें ॥4 ॥

तस्येन्द्रकल्पस्य जयन्तकल्पः पुत्रो जरामृत्युभयं तितीर्षुः ।
इहाभ्युपेतः किल तस्य हेतोरावामुपेतौ भगवानवैतु ॥९.५

उस इन्द्र-तुल्य का जयन्त-तुल्य पुत्र जरा और मृत्यु का भय पार करने की इच्छा से यहाँ आया है, इस हेतु हम दोनों आये हैं, ऐसा भगवान् जानें" ॥5 ॥

तौ सोऽब्रवीदस्ति स दीर्घबाहुः प्राप्तः कुमारो न तु नावबुद्धः ।
धर्मोऽयमावर्तक इत्यवेत्य यातस्त्वराडाभिमुखो मुमुक्षुः ॥९.६

उसने उन दोनों से कहा—"वह दीर्घबाहु आया था, कुमार है, किन्तु बुद्धिहीन नही। यह धर्म आवर्तक (=भ्रामक) है, ऐसा जानकर वह मुमुक्षु अराड के (आश्रम की) ओर चला गया" ॥6 ॥

तस्मात्तस्तावुपलभ्य तत्त्वं तं विप्रमामन्त्र्य तदैव सद्यः ।
खिन्नावखिन्नाविव राजभक्त्या प्रसस्रतुस्तेन यतः स यातः ॥९.७

तब उससे वे दोनों सच्ची बात जानकर, उस विप्र से उसी समय तुरत विदा लेकर, उस ओर चल पड़े जिधर वह गया था, खिन्न होकर भी राज-भक्ति के कारण वे मानो अ-खिन्न थे ॥7 ॥

यान्तौ ततस्तौ मृजया विहीनमपश्यतां तं वपुषोज्ज्वलन्तम् ।
उपोपविष्टं पथि वृक्षमूले सूर्यं घनाभोगमिव प्रविष्टम् ॥९.८

तब जाते हुए उन दोनों ने मार्जन-विहीन, किन्तु रूप से जलते कुमार को देखा; रास्ते पर वृक्ष की जड़ में वह बैठा हुआ था, जैसे बादलों के फैलाव में सूर्य घुसा हुआ हो ॥8 ॥

यानं विहायोपययौ ततस्तं पुरोहितो मन्त्रधरेण सार्धम् ।
यथा वनस्थं सहवामदेवो रामं दिदृक्षुर्मुनिरौर्वशेयः ॥९.९

तब रथ छोड़कर मन्त्री के साथ पुरोहित उसके समीप गया, जैसे वन में स्थित राम के समीप वामदेव के साथ दर्शनाभिलाषी और्वशेय मुनि (=वशिष्ठ) गया था ॥9 ॥

तावर्चयामासतुरर्हतस्तं दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रम् ।
प्रत्यर्चयामास स चार्हतस्तौ दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रः ॥९.१०

उन दोनों ने उसकी उचित पुजा की, जैसे स्वर्ग में शुक्र और आङ्गिरस (=बृहस्पति) ने इन्द्र की (पूजा की थी) और उसने उन दोनों की उचित पूजा की, जैसे स्वर्ग में इन्द्र ने शुक्र और आङ्गिरस की (पूजा की थी) ॥10 ॥

कृताभ्यनुज्ञावभितस्तस्तौ निषेदतुः शाक्यकुलध्वजस्य ।
विरेजतुस्तस्य च सन्निकर्षे पुनर्वसू योगगताविवेन्दोः ॥९.११

आज्ञा पाकर, शाक्य-कुल की पताका (सिद्धार्थ) की दोनों ओर वे दोनों बैठ गये और उसके समीप ऐसे विराजे जैसे चन्द्रमा के समीप योग को प्राप्त पुनर्वसु-युगल ॥11 ॥

तं वृक्षमूलस्थमभिज्वलन्तं पुरोहितो राजसुतं बभाषे ।
यथोपविष्टं दिवि पारिजाते बृहस्पतिः शक्रसुतं जयन्तम् ॥९.१२

वृक्ष-मूल में स्थित उस जलते हुए राज-पुत्र से पुरोहित ने कहा, जैसे स्वर्ग में परिजात वृक्ष के नीचे बैठे हुए शक्र-पुत्र जयन्त से बृहस्पति (कह रहा हो):— ॥12 ॥

त्वच्छोकशल्ये हृदयावगाढे मोहं गतो भूमितले मुहूर्तम् ।
कुमार राजा नयनाम्बुवर्षो यत्त्वामवोचत्तदिदं निबोध ॥९.१३

"तुम्हारा शोकरूप शल्य हृदय में गड़नेपर, भूतल पर मुहूर्त भर मूर्छित होकर, हे कुमार, राजा ने नयन-जल बरसाते हुए, तुम्हें जो कहा है वह यह है, सुनो:– ॥13 ॥

जानामि धर्मं प्रति निश्चयं ते परैमि ते भाविनमेतमर्थम् ।
अहं त्वकाले वनसंश्रयात्ते शोकाग्निनाग्निप्रतिमेन दह्ये ॥९.१४

"धर्म के प्रति तुम्हारा निश्चय जानता हूँ, समझता हूँ कि यह तुम्हारा भावी लक्ष्य है, किन्तु असमय में तुम वन का आश्रय ले रहे हो, अत: अग्नि-तुल्य शोकाग्नि से मैं जल रहा हूँ ॥14 ॥

तदेहि धर्मप्रिय मत्प्रियार्थं धर्मार्थमेव त्यज बुद्धिमेताम् ।
अयं हि मा शोकरयः प्रवृद्धो नदीरयः कूलमिवाभिहन्ति ॥९.१५

इसलिए, हे धर्मप्रिय, मेरा प्रिय करने के लिए आओ, धर्म के लिए ही इस बुद्धि को छोड़ो। यह बढ़ा हुआ शोक का वेग मुझे वैसे ही मार रहा है, जैसे बढ़ा हुआ नदी का वेग किनारे को (काटता है) ॥15 ॥

मेघाम्बुकक्षाद्रिषु या हि वृत्तिः समीरणार्काग्निमहाशनीनाम् ।
तां वृत्तिमस्मासु करोति शोको विकर्षणोच्छोषणदाहभेदैः ॥९.१६

मेघ, जल, तृण व पर्वत के प्रति (क्रमश:) पवन, सूर्य अग्नि व महा-वज्र का जो काम होता है, विकर्षण, शोषण, दाह व भेदन द्वारा वही काम हमारे प्रति शोक कर रहा है ॥16 ॥[41]

तद्भुङ्क्ष्व तावद्वसुधाधिपत्यं काले वनं यास्यसि शास्त्रदृष्टे ।
अनिष्टबन्धौ कुरु मय्यपेक्षां सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः ॥९.१७

इसलिए तबतक वसुधा के आधिपत्य का भोग करो, शास्त्र-सम्मत समय पर वन जाओगे। मुझ अवांछित पिता की आकाङ्क्षा करो, क्योंकि सब भूतों पर दया (करना ही तो) धर्म है ॥17 ॥

न चैष धर्मो वन एव सिद्धः पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम् ।
बुद्धिश्च यत्नश्च निमित्तमत्र वनं च लिङ्गं च हि भीरुचिह्नम् ॥९.१८

और, यह धर्म (केवल) वन में ही सिद्ध नही होता, नगर में भी यतियों (=संयमियों) की सिद्धि नियत है। इसमें बुद्धि और यत्न निमित्त हैं, वन और (भिक्षु-) वेष तो कायर के चिह्न हैं ॥18 ॥

मौलीधरैरंसविषक्तहारैः केयूरविष्टब्धभुजैर्नरेन्द्रैः ।
लक्ष्म्यङ्कमध्ये परिवर्तमानैः प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ॥९.१९

मुकुट धारण करनेवाले राजाओं ने, जिनके गले में हार लटकते थे और जिनकी भुजाएँ केयूरों से बँधी थीं, गृहस्थ होकर भी (=घर में रहकर भी) लक्ष्मी की गोद में लोटते हुए मोक्ष-धर्म प्राप्त किया ॥19 ॥

ध्रुवानुजौ यौ बलिवज्रबाहू वैभ्राजमाषाढमथान्तिदेवम् ।
विदेहराजं जनकं तथैव (रामं) द्रुमं सेनजितश्च राज्ञः ॥९.२०

ध्रुव के जो दो छोटे भाई बलि और वज्रबाहु, वैभ्राज, आषाढ़ और अन्तिदेव, विदेह-राज जनक, राम द्रुम और सेनजित् राजागण ॥20 ॥

एतान् गृहस्थान्नृपतीनवेहि नैःश्रेयसे धर्मविधौ विनीतान् ।
उभौऽपि तस्माद्युगपद्भजस्व चित्ताधिपत्यं च नृपश्रियं च ॥९.२१

विदित हो कि ये गृहस्थ राजा परम कल्याण-कारी धर्म-विधि में शिक्षित थे। इसलिए एक ही साथ ज्ञान के आधिपत्य व राज्यलक्ष्मी दोनों का सेवन करो ॥21 ॥

इच्छामि हि त्वामुपगुह्य गाढं कृताभिषेकं सलिलार्द्रमेव ।
धृतातपत्रं समुदीक्षमाणस्तेनैव हर्षेण वनं प्रवेष्टुम् ॥९.२२

मैं चाहता हूँ कि अभिषेक करनेपर जल से आर्द्र रहनेपर ही तुम्हारा गाढ़ आलिङ्गन कर, छत्र के नीचे तुम्हें देखता हुआ उसी आनन्द से वन में प्रवेश करूँ" ॥22 ॥

इत्यब्रवीद्भूमिपतिर्भवन्तं वाक्येन बाष्पग्रथिताक्षरेण ।
श्रुत्वा भवानर्हति तत्प्रियार्थं स्नेहेन तत्स्नेहमनुप्रयातुम् ॥९.२३

राजा ने आपको ऐसा कहा; उसके वाक्य के अक्षर बाष्प से ग्रथित थे। यह सुनकर उसका प्रिय करने के लिए आपको स्नेहपूर्वक उसके स्नेह का अनुसरण करना चाहिए ॥23 ॥

शोकाम्भसि त्वत्प्रभवे ह्यगाधे दुःखार्णवे मज्जति शाक्यराजः ।
तस्मात्तमुत्तारय नाथहीनं निराश्रयं मग्नमिवार्णवे नौः ॥९.२४

तुमसे उत्पन्न अगाध दु:ख सागर में, जिसका जल शोक है, शाक्यराज डूब रहा है। उससे उस नाथ-हीन को उबारो, जैसे सागर में डूबते निराश्रय (व्यक्ति) को नाव (उबारती) है ॥24 ॥

भीष्मेण गङ्गोदरसम्भवेन रामेण रामेण च भार्गवेण ।
श्रुत्वा कृतं कर्म पितुः प्रियार्थं पितुस्त्वमप्यर्हसि कर्तुमिष्टम् ॥९.२५

गङ्गा के उदर से उत्पन्न भीष्म ने, राम ने, और भार्गव राम ने, पिता के प्रिय के लिए काम किया, यह सुनकर तुम्हें भी पिता का प्रिय करना चाहिए ॥25 ॥

संवर्धयित्रीं समवेहि देवीमगस्त्यजुष्टां दिशमप्रयाताम् ।
प्रनष्टवत्सामिव वत्सलां गामजस्रमार्त्तां करुणं रुदन्तीम् ॥९.२६

विदित हो कि तुम्हारा संवर्धन करनेवाली देवी, (गौतमी) जो (अबतक) अगस्त्य से सेवित दिशा को नही गई है (=नही मरी है), उस वत्सल गाय के समान, जिसका बछड़ा नष्ट हो गया हो, आर्त और करुण होकर निरन्तर रो रही है ॥26 ॥

हंसेन हंसीमिव विप्रयुक्तां त्यक्तां गजेनेव वने करेणुम् ।
आर्त्तां सनाथामपि नाथहीनां त्रातुं वधूमर्हसि दर्शनेन ॥९.२७

[41]- देखिये, सौ० सत्रह 59 ।

हंस से वियुक्त हंसी के समान, हाथी से पन में परित्यक्त हथिनी के समान, आर्त पत्नी को, जो सनाथा होनेपर भी अनाथा है, तुम्हें दर्शन देकर बचाना चाहिए ॥27 ॥

एकं सुतं बालमनर्हदुःखं सन्तापमन्तर्गतमुद्वहन्तम् ।

तं राहुलं मोक्षय बन्धुशोकाद्राहूपसर्गादिव पूर्णचन्द्रम् ॥९.२८

एकमात्र बाल-पुत्र, जो दु:ख के योग्य नही है, भीतरी सन्ताप वहन कर रहा है। उस राहुल को पितृ-शोक से मुक्त करो, जैसे राहु के ग्रहण से पूर्ण चन्द्र को (मुक्त किया जाय) ॥28 ॥

शोकाग्निना त्वद्विरहेन्धनेन निःश्वासधूमेन तमःशिखेन ।

त्वद्दर्शनाम्ब्विच्छति दह्यमानमन्तःपुरं चैव पुरं च कृत्स्नम् ॥९.२९

शोकरूप अग्नि से, जिसका ईंधन तुम्हारा विरह है, जिसका धुआँ लम्बी साँसें हैं, जिसकी शिला अन्धकार है, जलता हुआ अन्त:पुर और सम्पूर्ण नगर तुम्हारे दर्शन-जल की इच्छा कर रहे हैं।" ॥29 ॥

स बोधिसत्त्वः परिपूर्णसत्त्वः श्रुत्वा वचस्तस्य पुरोहितस्य ।

ध्यात्वा मुहूर्तं गुणवद्गुणज्ञः प्रत्युत्तरं प्रश्रितमित्युवाच ॥९.३०

उस पुरोहित का वचन सुनकर धैर्यशाली, गुणवान् व गुणज्ञ बोधिसत्त्व ने मुहूर्त भर ध्यान किया और विनय-युक्त यह उत्तर दिया:– ॥30 ॥

अवैमि भावं तनये पितॄणा विशेषतो यो मयि भूमिपस्य ।

जानन्नपि व्याधिजराविपद्भ्यो भीतस्त्वगत्या स्वजनं त्यजामि ॥९.३१

"पुत्र के प्रति पिता का भाव जानता हूँ, विशेषकर मेरे प्रति राजा का जो (भाव) है; यह जानता हुआ भी मैं रोग, बढ़ापे व मौत से डरकर, (अन्य) उपाय के अभाव में स्वजन को छोड़ रहा हूँ॥31 ॥

द्रष्टुं प्रियं कः स्वजनं हि नेच्छेन्नान्ते यदि स्यात्प्रियविप्रयोगः ।

यदा तु भूत्वापि चिरं वियोगस्ततो गुरुं स्निग्धमपि त्यजामि ॥९.३२

यदि अन्त में वियोग न हो, तो प्यारे स्वजन को देखना कौन नही चाहेगा? जब कि देर होकर भी वियोग होता ही है, इसलिए स्नेही पिता को भी छोड रहा हूँ॥32 ॥

मद्धेतुकं यत्तु नराधिपस्य शोकं भवानह न तत्प्रियं मे ।

यत्स्वप्नभूतेषु समागमेषु सन्तप्यते भाविनि विप्रयोगे ॥९.३३

मेरे कारण हुआ राजा का शोक आपने जो कहा वह मुझे प्रिय नही; क्योंकि समागम स्वप्न-सदृश होनेपर और वियोग अवश्यम्भावी होनेपर वह सन्ताप कर रहे हैं॥33 ॥

एवं च ते निश्चयमेतु बुद्धिर्दृष्ट्वा विचित्रं जगतः प्रचारम् ।

सन्तापहेतुर्न सुतो न बन्धुरज्ञाननैमित्तिक एष तापः ॥९.३४

जगत् की विचित्र गति देखकर, आपकी बुद्धि इस प्रकार निश्चय करे–सन्ताप का कारण न पुत्र है न पिता, इस सन्ताप का कारण निमित्त अज्ञान है॥34 ॥

यथाध्वगानामिहं सङ्गतानां काले वियोगो नियतः प्रजानाम् ।

प्राज्ञो जनः को नु भजेत शोकं बन्धुप्रतिज्ञातजनैर्विहीनः ॥९.३५

पथिकों के समान, इस संसार में, सम्मिलित हुए लोगों का वियोग नियत है; अत: बन्धु समझे जानेवाले लोगों से वियुक्त होकर कौन ज्ञानीजन शोक करे॥35 ॥

इहैति हित्वा स्वजनं परत्र प्रलभ्य चेहापि पुनः प्रयाति ।

गत्वापि तत्राप्यपरत्र गच्छत्येवं जने त्यागिनि कोऽनुरोधः ॥९.३६

पूर्व जन्म में स्वजन को छोड़कर मनुष्य यहाँ आता है और फिर यहाँ से भी (स्वजन को) ठगकर वह यहाँ से (परलोक) चला जाता है, वहाँ भी जाकर वहाँ से अन्यत्र चला जाता है; इस प्रकार परित्याग करनेवाले आदमी में आसक्ति क्यों की जाय? ॥36 ॥

यदा च गर्भात्प्रभृति प्रवृत्तः सर्वास्ववस्थासु वधाय मृत्युः ।

कस्मादकाले वनसंश्रयं मे पुत्रप्रियस्तत्रभवानवोचत् ॥९.३७

और जब गर्भ से लेकर सब अवस्थाओं में मौत मारने के लिए तैयार रहती है, तब क्यों पुत्र-प्रिय पूज्य (पिताजी) ने कहा कि मैं अकाल में वन का आश्रय ले रहा हूँ॥37 ॥

भवत्यकालो विषयाभिपत्तौ कालस्तथैवार्थविधौ प्रदिष्टः ।

कालो जगत्कर्षति सर्वकालान्निर्वाहके श्रेयसि नास्ति कालः ॥९.३८

विषय-सेवन के लिए अकाल होता है, उसी प्रकार धन (=अर्जन) के उपाय के लिए समय निर्दिष्ट है, सब समय में काल संसार को लाचार करता रहा है, मोक्ष-प्रद कल्याण के लिए (कोई निश्चित) समय नही है ॥38 ॥

राज्यं मुमुक्षुर्मयि यच्च राजा तदप्युदारं सदृशं पितुश्च ।

प्रतिग्रहीतुं मम न क्षमं तु लोभादपथ्यान्नमिवातुरस्य ॥९.३९

मेरे ऊपर राजा राज्य छोड़ना चाहते हैं यह उनकी उदारता है और पिता के अनुरूप है; किन्तु मेरे लिए इसे ग्रहण करना ठीक नही, जैसे रोगी के लिए लोभ से अपथ्य अन्न ग्रहण करना ठीक नही ॥39 ॥

कथं नु मोहायतनं नृपत्वं क्षमं प्रपत्तुं विदुषा नरेण ।

सोद्वेगता यत्र मदः श्रमश्च परापचारेण च धर्मपीडा ॥९.४०

किस प्रकार विद्वान् आदमी के लिए उस राजत्व का सेवन करना उचित नही है, जो मोह का मन्दिर है, जहाँ उद्वेग, मद व थकावट हैं, और जहाँ दूसरों पर अनाचार करने से धर्म में बाधा होती है? ॥40 ॥

जाम्बूनदं हर्म्यमिव प्रदीप्तं विषेण संयुक्तमिवोत्तमान्नम् ।

ग्राहाकुलं चाम्ब्विव सारविन्दं राज्यं हि रम्यं व्यसनाश्रयं च ॥९.४१

सोने के जलते महल के समान, विष-युक्त उत्तम भोजन के समान, घडियालों से भरे कमल-युक्त जलाशय के समान, राज्य रमणीय है और विपत्तियों का आश्रय है॥41 ॥

इत्थं च राज्यं न सुखं न धर्मः पूर्वे यथा जातघृणा नरेन्द्राः।

वयःप्रकर्षेऽपरिहार्यदुःखे राज्यानि मुक्त्वा वनमेव जग्मुः ॥९.४२

इस प्रकार, राज्य से न सुख होता है, न धर्म; पूर्व में घृणा (=अरूचि) उत्पन्न होनेपर राजा लोग वृद्धावस्था में, जिसमें दुःख अवश्यम्भावी है, राज्य छोड़कर वन को ही गये ॥42॥

वरं हि भुक्तानि तृणान्यरण्ये तोषं परं रत्नमिवोपगुह्य।

सहोषितं श्रीसुलभैर्न चैव दोषैरदृश्यैरिव कृष्णसर्पैः ॥९.४३

जङ्गल में तृण खाकर मानो रत्न-स्पर्श का परम सन्तोष पाना अच्छा है, न कि श्री-सुलभ उन दोषों के साथ रहना जो कृष्ण-सर्पों के समान देखे जाने योग्य नही ॥43॥

श्लाघ्यं हि राज्यानि विहाय राज्ञां धर्माभिलाषेण वनं प्रवेष्टुम्।

भग्नप्रतिज्ञस्य न तूपपन्नं वनं परित्यज्य गृहं प्रवेष्टुम् ॥९.४४

राज्य छोड़कर धर्म की अभिलाषा से राजाओं का वन में प्रवेश करना श्लाघ्य हैं; किन्तु प्रतिज्ञा तोड़ करके, वन छोड़कर, घर में प्रवेश करना उचित नही ॥44॥

जातः कुले को हि नरः ससत्त्वो धर्माभिलाषेण वनं प्रविष्टः।

काषायमुत्सृज्य विमुक्तलज्जः पुरन्दरस्यापि पुरं श्रयेत ॥९.४५

(उत्तम) कुल में उत्पन्न कौन धैर्यशाली आदमी, जिसने धर्म की अभिलाषा से वन में प्रवेश किया है, काषाय-वस्त्र छोड़, निर्लज्ज हो इन्द्र के भी नगर में जायगा? ॥45॥

लोभाद्धि मोहादथवा भयेन यो वान्तमन्नं पुनराददीत।

लोभात्स मोहादथवा भयेन सन्त्यज्य कामान् पुनराददीत ॥९.४६

लोभ से, मोह से अथवा भय से जो उगले हुए अन्न को फिर ग्रहण करेगा, वही लोभ से, मोह अथवा भय से काम-भोगों को छोड़कर फिर ग्रहण करेगा? ॥46॥

यश्च प्रदीप्ताच्छरणात्कथञ्चिन्निष्क्रम्य भूयः प्रविशेत्तदेव।

गार्हस्थ्यमुत्सृज्य स दृष्टदोषो मोहेन भूयोऽभिलषेद्ग्रहीतुम् ॥९.४७

और, जो जलते घर से किसी प्रकार निकलकर फिर उसी में प्रवेश करे वही मनुष्य, दोष देखकर गार्हस्थ्य (=घर में रहना) छोड़ने के बाद, मोह से फिर उसे ग्रहण करना चाहेगा? ॥47॥[42]

---

[42]- नेपाल दरबार के हस्तलिखित ग्रन्थ में 47 के बाद और तिब्बती अनुवाद में 49 के बाद निम्नलिखित पद्य है–

वह्नेश्च तोयस्य च नास्ति संधि: शठस्य सत्यस्य च नास्ति संधि:।

आर्यस्य पापस्य च नास्ति संधि: शमस्य दण्डस्य च नास्ति संधि: ॥

अग्नि और जल का मेल नहीं है, शठ और सत्य का मेल नहीं है, आर्य और पाप का मेल नहीं है, शम और दण्ड का मेल नहीं है।

या च श्रुतिर्मोक्षमवाप्तवन्तो नृपा गृहस्था इति नैतदस्ति।

शमप्रधानः क्व च मोक्षधर्मो दण्डप्रधानः क्व च राजधर्मः ॥९.४८

यह (जन-) श्रुति कि गृहस्थ (=घर में रहते हुए) राजाओं ने मोक्ष पाया, यह सच नही है; कहाँ शम-प्रधान मोक्ष-धर्म और कहाँ दण्ड-प्रधान राज-धर्म ॥48॥

शमे रतिश्चेच्छिथिलं च राज्यं राज्ये मतिश्चेच्छमविप्लवश्च।

शमश्च तैक्ष्ण्यं च हि नोपपन्नं शीतोष्णयोरैक्यमिवोदकाग्न्योः ॥९.४९

यदि शम (=शान्ति) में रति हो, तो राज्य शिथिल होगा; यदि राज्य में मति हो, तो शान्ति में विप्लव होगा। शान्ति व तीक्ष्णता का मेल नही, जैसे शीतल जल व गर्म आग की एकता नही होती ॥49॥

तन्निश्चयाद्वा वसुधाधिपास्ते राज्यानि मुक्त्वा शममाप्तवन्तः।

राज्याङ्किता वा निभृतेन्द्रियत्वादनैष्ठिके मोक्षकृताभिमानाः ॥९.५०

इसलिए उन वसुधाधिपों ने या तो निश्चय-पूर्वक राज्य छोड़कर शम प्राप्त किया, या राज्य के स्वामी होकर (केवल) इन्द्रिय-संयम होने के कारण अनैष्ठिक अवस्था में ही मोक्ष पाने का अभिमान किया ॥50॥[43]

तेषां च राज्येऽस्तु शमो यथावत्प्राप्तो वनं नाहमनिश्चयेन।

छित्त्वा हि पाशं गृहबन्धुसञ्ज्ञं मुक्तः पुनर्न प्रविविक्षुरस्मि ॥९.५१

उन्हें राज्य में सम्यक् शान्ति मिली हो, मैंने अनिश्चय से वन में प्रवेश नही किया है। गृह व बन्धु नामक बन्धन काटकर मुक्त हुआ मैं फिर (बन्धन में) प्रवेश करना नही चाहता हूँ।" ॥51॥

इत्यात्मविज्ञानगुणानुरूपं मुक्तस्पृहं हेतुमदूर्जितं च।

श्रुत्वा नरेन्द्रात्मजमुक्तवन्तं प्रत्युत्तरं मन्त्रधरोऽप्युवाच ॥९.५२

इस तरह राजा के पुत्र का अपने ज्ञान व गुणों के अनुरूप निरभिलाष युक्तियुक्त व बलवान् उत्तर सुनकर, मन्त्री ने भी प्रति-उत्तर दिया:– ॥52॥

यो निश्चयो धर्मविधौ तवायं नायं न युक्तो न तु कालयुक्तः।

शोकाय दत्वा पितरं वयःस्थं स्याद्धर्मकामस्य हि ते न धर्मः ॥९.५३

"धर्म के उपाय के लिए तुम्हारा जो यह निश्चय है, यह अनुचित नही; किन्तु यह समय इसके लिए उचित नही। वृद्ध पिता को शोक देकर, तुझ धर्माभिलाषी को धर्म नही हो सकता ॥53॥

नूनं च बुद्धिस्तव नातिसूक्ष्मा धर्मार्थकामेष्वविचक्षणा वा।

हेतोरदृष्टस्य फलस्य यस्त्वं प्रत्यक्षमर्थं परिभूय यासि ॥९.५४

अवश्य ही धर्म, अर्थ व काम में तुम्हारी बुद्धि या तो अति सूक्ष्म नही, या मन्द है, जो अदृष्ट फल के हेतु तुम प्रत्यक्ष अर्थ (वस्तु) का तिरस्कार करके जा रहे हो ॥54॥

---

[43]- ग–पा० 'राज्याश्रिता'–जौन्स्टन।

पुनर्भवोऽस्तीति च केचिदाहुर्नास्तीति केचिन्नियतप्रतिज्ञाः ।
एवं यदा संशयितोऽयमर्थस्तस्मात्क्षमं भोक्तुमुपस्थिता श्रीः ॥९.५५

कुछ लोग कहते हैं कि पुनर्जन्म है, कुछ लोग प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं नही है। इस तरह जब यह बात संशय-युक्त है, तब उपस्थित श्री का भोग करना ही ठीक है ॥55 ॥

भूयः प्रवृत्तिर्यदि काचिदस्ति रंस्यामहे तत्र यथोपपत्तौ ।
अथ प्रवृत्तिः परतो न काचित्सिद्धोऽप्रयत्नाज्जगतोऽस्य मोक्षः ॥९.५६

यदि फिर कोई प्रवृत्ति है, तो वहाँ और कुछ मिलेगा उसी में हम रमेंगे। यदि इससे परे कोई प्रवृत्ति नही है, तो इस जगत् का मोक्ष अनायास ही सिद्ध है ॥56 ॥

अस्तीति केचित्परलोकमाहुर्मोक्षस्य योगं न तु वर्णयन्ति ।
अग्नेर्यथा ह्यौष्ण्यमपां द्रवत्वं तद्वत्प्रवृत्तौ प्रकृतिं वदन्ति ॥९.५७

कोई कहते हैं कि परलोक है, किन्तु मोक्ष का उपाय नही बताते हैं। वे कहते हैं जैसे अग्नि में उष्णता है, पानी में द्रवत्व है वैसे ही प्रवृत्ति में प्रकृति (=स्वभाव) है ॥57 ॥

केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च ।
स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः ॥९.५८

कोई बताते हैं कि शुभ-अशुभ और उत्पत्ति-अनुत्पत्ति स्वभाव से होती है। क्योंकि यह सब स्वभाविक है, इसलिए भी प्रयत्न व्यर्थ है ॥58 ॥

यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव ।
संयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः ॥९.५९

इन्द्रियों का चलना (=काम करना) नियत है, प्रिय व अप्रिय लगना (इन्द्रिय-) विषयों में हैं और लोग बुढ़ापे में व रोग से युक्त होते हैं। इन सबमें यत्न क्या? वह तो स्वभाव है ॥59 ॥

अद्भिर्हुताशः शममभ्युपैति तेजांसि चापो गमयन्ति शोषम् ।
भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्वहन्ति ॥९.६०

जल में अग्नि शान्त होती है और तेज जल को सोखते हैं। शरीर में स्थित (पाँचों) तत्त्व (स्वभाव से) पृथक्-पृथक् हैं और एक होकर जगत् को बनाते हैं ॥60 ॥

यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्ध्नां निर्वर्तते गर्भगतस्य भावः ।
यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति तज्ज्ञाः ॥९.६१

गर्भ में जानेपर (व्यक्ति के) हाथ, पाँव, पेट व मस्तक होते हैं, आत्मा से उसका योग होता है, पण्डित यह सब स्वभाविक बताते हैं ॥61 ॥

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥९.६२

कौन काँटे की तीक्ष्णता या पशु-पक्षियों की विचित्रता (का सृजन) करता है? यह सब स्वभाव से हुआ है, अपनी इच्छा काम नही करती, प्रयत्न कहाँ से? ॥62 ॥

सर्गं वदन्तीश्वरतस्तथान्ये तत्र प्रयत्ने पुरुषस्य कोऽर्थः ।
य एव हेतुर्जगतः प्रवृत्तौ हेतुर्निवृत्तौ नियतः स एव ॥९.६३

उसी तरह दूसरे कहते हैं ईश्वर से सृष्टि होती है, उसमें पुरुष के प्रयत्न का क्या प्रयोजन? जगत् की प्रवृत्ति में जो कोई भी हेतु है, निश्चय ही उसकी निवृत्ति में भी वही हेतु है ॥63 ॥

केचिद्वदन्त्यात्मनिमित्तमेव प्रादुर्भवं चैव भवक्षयं च ।
प्रादुर्भवं तु प्रवदन्त्यत्नाद्यत्नेन मोक्षाधिगमं ब्रुवन्ति ॥९.६४

कोई कहते हैं जन्म व विनाश का निमित्त आत्मा ही है। वे कहते हैं कि जन्म बिना यत्न के होता है और मोक्ष-प्राप्ति यत्न से होती है ॥64 ॥

नरः पितॄणामनृणः प्रजाभिर्वेदैर्ऋषीणां क्रतुभिः सुराणाम् ।
उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः किल तस्य मोक्षः ॥९.६५

मनुष्य सन्तान द्वारा पितृ-ऋण से, वेद द्वारा ऋषि-ऋण से और यज्ञ द्वारा देव-ऋण से मुक्त होता है, वह तीन ऋणों के साथ उत्पन्न होता है, जो उनसे मुक्त होता है उसी को मोक्ष है ॥65 ॥

इत्येवमेतेन विधिक्रमेण मोक्षं सयत्नस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ।
प्रयत्नवन्तोऽपि हि विक्रमेण मुमुक्षवः खेदमवाप्नुवन्ति ॥९.६६

इस प्रकार इस विधि-क्रम से यत्न करनेवाले को मोक्ष मिलता है, ऐसा पण्डित कहते हैं, अपनी शक्ति से मोक्ष चाहनेवाले प्रयत्न करनेपर भी थकावट ही पाते हैं ॥66 ॥

तत्सौम्य मोक्षे यदि भक्तिरस्ति न्यायेन सेवस्व विधिं यथोक्तम् ।
एवं भविष्यत्युपपत्तिरस्य सन्तापनाशश्च नराधिपस्य ॥९.६७

इसलिए, हे सौम्य, यदि मोक्ष में भक्ति हो, तो कही गई विधि का उचित रीति से सेवन करो; इस प्रकार इसकी प्राप्ति होगी और राजा का सन्ताप-नाश होगा ॥67 ॥

या च प्रवृत्ता तव दोषबुद्धिस्तपोवनेभ्यो भवनं प्रवेष्टुम् ।
तत्रापि चिन्ता तव तात मा भूत् पूर्वेऽपि जग्मुः स्वगृहान्वनेभ्यः ॥९.६८

तपोवन से घर प्रवेश करने में तुम जो दोष समझते हो, उसके लिए भी, हे तात, तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिए; पूर्व में भी लोग वन से अपने घर गये हैं ॥68 ॥

तपोवनस्थोऽपि वृतः प्रजाभिर्जगाम राजा पुरमम्बरीषः ।
तथा महीं विप्रकृतामनार्यैस्तपोवनादेत्य ररक्ष रामः ॥९.६९

तपोवन में रहनेपर भी राजा अम्बरीष प्रजाओं से घिरकर नगर को गया। उसी प्रकार अनार्यों से सताई जाती पृथ्वी की रक्षा राम ने वन से आकर की ॥69 ॥

तथैव शाल्वाधिपतिर्द्रुमाख्यो वनात्ससूनुर्नगरं विवेश।

ब्रह्मर्षिभूतश्च मुनेर्वसिष्ठाद्दध्रे श्रियं साङ्कृतिरन्तिदेवः ॥९.७०

उसी प्रकार द्रुमनामक शाल्व-राज ने पुत्र के साथ वन से नगर में प्रवेश किया और ब्रह्मर्षि हुए सांकृति अन्तिदेव ने मुनि वसिष्ठ से राज्य-लक्ष्मी ग्रहण की ॥70 ॥

एवंविधा धर्मयशःप्रदीप्ता वनानि हित्वा भवनान्यतीयुः।

तस्मान्न दोषोऽस्ति गृहं प्रयातु तपोवनाद्धर्मनिमित्तमेव ॥९.७१

धर्म के यश से जलते हुए ऐसे व्यक्ति वन छोड़कर घर गये। इसलिए धर्म के निमित्त ही तपोवन से घर जाने में दोष नही है।" ॥71 ॥

ततो वचस्तस्य निशम्य मन्त्रिणः प्रियं हितं चैव नृपस्य चक्षुषः।

अनूनमव्यस्तमसक्तमद्रुतं धृतौ स्थितो राजसुतोऽब्रवीद्वचः ॥९.७२

तब राजा के नेत्रस्वरूप उस मन्त्री का प्रिय व हितकारी वचन सुनकर, राजा के पुत्र ने धैर्यपूर्वक परिपूर्ण, सुलझा हुआ, आसक्ति-रहित व ठोस उत्तर दिया:– ॥72 ॥

इहास्ति नास्तीति य एष संशयः परस्य वाक्यैर्न ममात्र निश्चयः।

अवेत्य तत्त्वं तपसा शमेन च स्वयं ग्रहीष्यामि यदत्र निश्चितम् ॥९.७३

है, नही है, इस संसार में जो यह संशय है, इसमें दूसरों के वचन से मुझे निश्चय नही होगा। तपस्या और शान्ति से तत्त्व को जानकर इस विषय में जो निश्चय होगा वह मैं स्वयं ग्रहण करूँगा ॥73 ॥

न मे क्षमं संशयजं हि दर्शनं ग्रहीतुमव्यक्तपरस्पराहतम्।

बुद्धः परप्रत्ययतो हि को व्रजेज्जनोऽन्धकारेऽन्ध इवान्धदेशिकः ॥९.७४

संशय से उत्पन्न, अस्पष्ट व परस्पर-विरोधी दर्शन ग्रहण करना मेरे लिए ठीक नही। अँधेरे में अन्धा गुरुवाले अन्धे के समान कौन बुद्धिमान् दूसरों पर विश्वास कर चलेगा? ॥74 ॥

अदृष्टतत्त्वस्य सतोऽपि किं तु मे शुभाशुभे संशयिते शुभे मतिः।

वृथापि खेदो हि वरं शुभात्मनः सुखं न तत्त्वेऽपि विगर्हितात्मनः ॥९.७५

यद्यपि मैंने तत्त्व को नही देखा है, तो भी शुभ व अशुभ संशययुक्त होनेपर शुभ में मेरी मति है। शुभात्मा (=शुभ में लगे हुए) का वृथा श्रम अच्छा है न कि अशुभात्मा का सुख, यदि वास्तव में वह सुख हो तो भी ॥75 ॥

इमं तु दृष्ट्वागममव्यवस्थितं यदुक्तमाप्तैस्तदवेहि साध्विति।

प्रहीणदोषत्वमवेहि चाप्तताां प्रहीणदोषो ह्यनृतं न वक्ष्यति ॥९.७६

इस शास्त्र को अव्यवस्थित देख रहे हैं, अत: आप्त-जनों ने जो कहा उसे ही ठीक समझिए और दोष-विनाश ही आप्तता है, क्योंकि जिसका दोष नष्ट हो गया है वह झूठ नही कहेगा ॥76 ॥

गृहप्रवेशं प्रति यच्च मे भवानुवाच रामप्रभृतीन्निदर्शनम्।

न ते प्रमाणं न हि धर्मनिश्चयेष्वलं प्रमाणाय परिक्षतव्रताः ॥९.७७

घर जाने के बारे में आपने राम आदि के जो उदाहरण दिये वे प्रमाण नही हैं; क्योंकि धर्म के निश्चय में वे प्रमाण नहीं हो सकते जिनका व्रत भङ्ग हो गया ॥77 ॥

तदेवमप्येव रविर्महीं पतेदपि स्थिरत्वं हिमवान् गिरिस्त्यजेत्।

अदृष्टतत्त्वो विषयोन्मुखेन्द्रियः श्रयेय न त्वेव गृहान् पृथग्जनः ॥९.७८

इसलिए यदि सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़े, हिमालय पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे, तो भी तत्त्व को देखे बिना इन्द्रियों को विषयाभिमुख कर, मैं अज्ञानी घर नही जा सकता ॥78 ॥

अहं विशेयं ज्वलितं हुताशनं न चाकृतार्थः प्रविशेयमालयम्।

इति प्रतिज्ञां स चकार गर्वितो यथेष्टमुत्थाय च निर्ममो ययौ ॥९.७९

जलती आग में मैं प्रवेश करूँगा, किन्तु असफल होकर घर में प्रवेश नही करूँगा।" अभिमानपूर्वक उसने यह प्रतिज्ञा की और इच्छानुसार उठकर वह निर्मम चला गया ॥79 ॥

ततः सबाष्पौ सचिवद्विजावुभौ निशम्य तस्य स्थिरमेव निश्चयम्।

विषण्णवक्त्रावनुगम्य दुःखितौ शनैरगत्या पुरमेव जग्मतुः ॥९.८०

तब उसका स्थिर निश्चय सुनकर, रोते हुए मन्त्री और विप्र विषण्ण-मुख व दुःखी होकर पीछे-पीछे गये, तब उपाय के अभाव में वे धीरे-धीरे नगर की ही ओर चले ॥80 ॥

तत्स्नेहादथ नृपतेश्च भक्तितस्तौ सापेक्षं प्रतिययतुश्च तस्थतुश्च।

दुर्धर्षं रविमिव दीप्तमात्मभासा तं द्रष्टुं न हि पथि शेकतुर्न मोक्तुम् ॥९.८१

तब उसके स्नेह से और राजा की भक्ति से वे दोनों उत्कण्ठित होकर लौटे और ठहर गये। आत्मतेज से चमकते सूर्य के समान उस दुर्धर्ष को रास्ते में वे न देख सकते थे, न छोड़ सकते थे ॥81 ॥

तौ ज्ञातुं परमगतेर्गतिं तु तस्य प्रच्छन्नांश्चरपुरुषाञ्छुचीन्विधाय।

राजानं प्रियसुतलालसं नु गत्वा द्रक्ष्यावः कथमिति जग्मतुः कथञ्चित् ॥९.८२

उस परमगति की गति जानने के लिए उन्होंने पवित्र गुप्तचर रक्खे और "प्रिय पुत्र के लिए उत्सुक राजा को जाकर कैसे देखेंगे", यह सोचते हुए वे किसी-किसी तरह गये ॥82 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये कुमारान्वेषणो नाम नवमः सर्गः ॥९ ॥

दशम सर्ग

श्रेण्य का आगमन

स राजवत्सः पृथुपीनवक्षास्तौ हव्यमन्त्राधिकृतौ विहाय।

उत्तीर्य गङ्गां प्रचलत्तरङ्गां श्रीमद्गृहं राजगृहं जगाम ॥१०.१

हवन और मन्त्रणा के उन अधिकारियों को छोड़कर, चौड़ी व मोटी छातीवाला वह राज-कुमार चञ्चल तरङ्गोंवाली गङ्गा को पारकर, श्रीसम्पन्न गृहों से युक्त राजगृह को गया ॥1 ॥

शैलैः सुगुप्तं च विभूषितं च धृतं च पूतं च शिवैस्तपोदैः ।

पञ्चाचलाङ्कं नगरं प्रपेदे शान्तः स्वयम्भूरिव नाकपृष्ठम् ॥१०.२

पर्वतों से सुरक्षित व विभूषित तथा कल्याण-कारी तपोदों (=गर्म जल के झरनों) से धारण और पवित्र किये गये नगर में, जो पाँच पहाड़ों से चिह्नित है, उसने शान्त होकर प्रवेश किया, जैसे स्वर्ग में स्वयंभू (प्रवेश कर रहा हो) ॥2 ॥

गाम्भीर्यमोजश्च निशाम्य तस्य वपुश्च दीप्तं पुरुषानतीत्य ।

विसिस्मिये तत्र जनस्तदानीं स्थाणुव्रतस्येव वृषध्वजस्य ॥१०.३

कठोर-व्रत धारी शिव का-सा उसका गाम्भीर्य, ओज तथा असाधारण दीप्त रूप देखकर लोग उस समय वहाँ विस्मित हुए ॥3 ॥

तं प्रेक्ष्य योऽन्येन ययौ स तस्थौ यस्त्यत्र तस्थौ पथि सोऽन्वगच्छत् ।

द्रुतं ययौ यः स जगाम धीरं यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पपात ॥१०.४

उसे देखकर, जो दूसरी ओर जा रहा था वह ठहर गया, जो वहाँ रास्ते में ठहरा हुआ था वह पीछे-पीछे गया, जो धीरे-धीरे जा रहा था वह शीघ्रता से गया, जो कोई बैठा हुआ था वह उछल पड़ा ॥4 ॥

कश्चित्तमानर्च जनः कराभ्यां सत्कृत्य कश्चिच्छिरसा ववन्दे ।

स्निग्धेन कश्चिद्वचसाभ्यनन्दन्नैवं जगामाप्रतिपूज्य कश्चित् ॥१०.५

किसी ने हाथ जोड़कर उसकी पूजा की, किसी ने शिर से प्रणाम कर सत्कार किया, किसी ने स्नेह-भरे वचन से अभिनन्दन किया, उसकी पूजा किये बिना कोई नही गया ॥5 ॥

तं जिह्रियुः प्रेक्ष्य विचित्रवेषाः प्रकीर्णवाचः पथि मौनमीयुः ।

धर्मस्य साक्षादिव सन्निकर्षे न कश्चिदन्यायमतिर्बभूव ॥१०.६

उसे देखकर विचित्र वेषवाले लज्जित हुए, रास्ते में बहुत बोलनेवाले चुप हो गये। साक्षात् धर्म के समान उसके समीप किसी की अन्यायबुद्धि नहीं हुई ॥6 ॥

अन्यक्रियाणामपि राजमार्गे स्त्रीणां नृणां वा बहुमानपूर्वम् ।

त देवकल्पं नरदेवसूनुं निरीक्षमाणा न ततर्प दृष्टिः ॥१०.७

राज-मार्ग में अन्य कार्यों में व्यस्त रहनेपर भी स्त्रियों या पुरुषों की दृष्टि उस देव-तुल्य राज-कुमार का अति सम्मानपूर्वक देखती हुई तृप्त नही हुई ॥7 ॥

भ्रुवौ ललाटं मुखमीक्षणे वा वपुः करौ वा चरणौ गतिं वा ।

यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याथ बबन्ध चक्षुः ॥१०.८

उसकी भौंहे, ललाट, मुख, आँखें, आकृति, हाथ, पाँव या गति जिसे ही जिसने देखा उसी में उसकी आँखें बँध गईं ॥8 ॥

दृष्ट्वा च सोर्णभ्रुवमायताक्षं ज्वलच्छरीरं शुभजालहस्तम् ।

तं भिक्षुवेशं क्षितिपालनार्हं सञ्चुक्षुभे राजगृहस्य लक्ष्मीः ॥१०.९

उसकी भौंहे लोमश थीं, आँखें लम्बी थीं, शरीर जल रहा था, हाथों में शुभसूचक (रेखा-) जाल थे, वह भिक्षु-वेष मे था, किन्तु पृथ्वी पालन के योग्य था; उसे देखकर राजगृह की लक्ष्मी संक्षुब्ध हुई ॥9 ॥

श्रेण्योऽथ भर्ता मगधाजिरस्य बाह्याद्विमानाद्विपुलं जनौघम् ।

ददर्श पप्रच्छ च तस्य हेतुं ततस्तमस्मै पुरुषः शशंस ॥१०.१०

तब मगध देश के स्वामी श्रेण्य (बिम्बसार) ने बाहरी महल से विशाल जन-समूहों को देखा और उसका कारण पूछा। तब किसी राजपुरुष ने उसे कहा:– ॥10 ॥

ज्ञानं परं वा पृथिवीश्रियं वा विप्रैर्य उक्तोऽधिगमिष्यतीति ।

स एव शाक्याधिपतेस्तनूजो निरीक्ष्यते प्रव्रजितो जनेन ॥१०.११

"शाक्य-राज का वह यही पुत्र है, जो विप्रों के कथानुसार परम ज्ञान या पृथ्वी की लक्ष्मी प्राप्त करेगा। उसने प्रव्रज्या ली है, लोग उसे देख रहे हैं" ॥11 ॥

ततः श्रुतार्थो मनसागतास्थो राजा बभाषे पुरुषं तमेव ।

विज्ञायतां क्व प्रतिगच्छतीति तथेत्यथैनं पुरुषोऽन्वगच्छत् ॥१०.१२

तब कारण जानकर राजा के मन में आदर हुआ, उसने उसी राजपुरुष से कहा–"मालूम करो कि वह कहाँ जा रहा है।" "बहुत अच्छा" कहकर वह उसके पीछे-पीछे गया ॥12 ॥

अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी ।

चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः ॥१०.१३

उसकी आँखें स्थिर थीं, वह जुए की दूरी तक ही देखता था, वाणी बन्द थी, चाल मन्द व नियन्त्रित थी, गात्र व चञ्चल चित्त को वश में करके वह भिक्षु-श्रेष्ठ भिक्षा माँग रहा था ॥13 ॥

आदाय भैक्षं च यथोपपन्नं ययौ गिरेः प्रस्रवणं विविक्तम् ।

न्यायेन तत्राभ्यवहृत्य चैनन्महीधरं पाण्डवमारुरोह ॥१०.१४

जो कुछ मिली भिक्षा को लेकर, वह पर्वत के एकान्त झरने की ओर गया। वहाँ उसे उचित रीति से खाकर, वह पाण्डव-पर्वत पर चढ़ गया ॥14 ॥

तस्मिन्नवो लोध्रवनोपगूढे मयूरनादप्रतिपूर्णकुञ्जे ।

काषायवासाः स बभौ नृसूर्यो यथोदयस्योपरि बालसूर्यः ॥१०.१५

लोध्र-वन से युक्त उस पर्वत पर, जिसके कुञ्ज मोरों की ध्वनि से भर रहे थे, काषाय-वस्त्र-धारी वह नर-सूर्य इस प्रकार शोभित हुआ, जैसे उदयाचल पर बाल-सूर्य ॥15 ॥

तत्रैनमालोक्य स राजभृत्यः श्रेण्याय राज्ञे कथयांचकार ।

संश्रुत्य राजा स च बाहुमान्यात्तत्र प्रतस्थे निभृतानुयात्रः ॥१०.१६

वहाँ उसे देखकर उस राजपुरुष ने राजा-श्रेण्य से यह सब निवेदन किया। यह सुनकर अति सम्मान के कारण विनीत अनुचरों के साथ वह राजा वहाँ चला ॥16 ॥

स पाण्डवं पाण्डवतुल्यवीर्यः शैलोत्तमं शैलसमानवर्ष्मा ।

मौलीधरः सिंहगतिर्नृसिंहश्चलत्सटः सिंह इवारुरोह ॥१०.१७

पाण्डवों के समान उसकी वीरता थी, पर्वत के समान उसका शरीर था, वह पाण्डव नामक उत्तम पर्वत पर चढ़ा; वह नर-सिंह, जो मुकुट पहने हुआ था और जिसकी चाल सिंह की-सी थी, उस सिंह के समान था जिसके केसर हिल रहे हों ॥17 ॥

ततः स्म तस्योपरि शृङ्गभूतं शान्तेन्द्रियं पश्यति बोधिसत्त्वम् ।

पर्यङ्कमास्थाय विरोचमानं शशाङ्कमुद्यन्तमिवाभ्रकुञ्जात् ॥१०.१८

तब उस (पर्वत) के ऊपर शिखर-सदृश बोधिसत्त्व को देखा, जिसके इन्द्रिय शान्त थे; पर्यङ्क आसन में बैठा हुआ वह, मेघ कुञ्ज से उगते चाँद के समान चमक रहा था ॥18 ॥

तं रूपलक्ष्म्या च शमेन चैव धर्मस्य निर्माणमिवोपविष्टम् ।

सविस्मयः प्रश्रयवान्नरेन्द्रः स्वयम्भुवं शक्र इवोपतस्थे ॥१०.१९

रूप-सम्पत्ति व शान्ति से जान पड़ता था जैसे धर्म का बनाया हुआ कोई बैठा हो; विस्मय और विनयपूर्वक राजा उसके समीप उपस्थित हुआ, जैसे स्वयंभू के समीप इन्द्र (उपस्थित हो रहा हो) ॥19 ॥

तं न्यायतो न्यायविदां वरिष्ठः समेत्य पप्रच्छ च धातुसाम्यम् ।

स चाप्यवोचत्सदृशेन साम्ना नृपं मनःस्वास्थ्यमनामयं च ॥१०.२०

औचित्य जाननेवालों में वह श्रेष्ठ था, उसके समीप उचित रीति से जाकर उसका धातु-साम्य (=स्वास्थ्य) पूछा। उसने भी योग्य नम्रतापूर्वक राजा से मानसिक स्वास्थ्य और (शारीरिक) आरोग्य कहे ॥20 ॥

ततः शुचौ वारणकर्णनीले शिलातले संनिषसाद राजा ।

उपोपविश्यानुमतश्च तस्य भावं विजिज्ञासुरिदं बभाषे ॥१०.२१

तब स्वच्छ शिला-तलपर, जो हाथी के कान के समान नीला था, राजा बैठ गया। समीप में बैठकर और अनुमति पाकर उसका भाव जानने की इच्छा से यों कहा:– ॥21 ॥

प्रीतिः परा मे भवतः कुलेन क्रमागता चैव परीक्षिता च ।

जाता विवक्षा स्ववयो यतो मे तस्मादिदं स्नेहवचो निबोध ॥१०.२२

"आपके कुल से मेरी बड़ी प्रीति है, वह परम्परागत है और परीक्षित है; अत: हे मित्र, मुझे कुछ कहने की इच्छा हुई है। इसलिए यह स्नेह-वचन सुनिये:– ॥22 ॥

आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च ।

कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भैक्षाक एवाभिरता न राज्ये ॥१०.२३

आपका कुल महान् है, सूर्य से उत्पन्न हुआ है, आपकी अवस्था नई है और यह दीप्त रूप है। किस कारण क्रम तोड़कर आपकी बुद्धि भिक्षावृत्ति में रत है, राज्य में नही ॥23 ॥

गात्रं हि ते लोहितचन्दनार्हं काषायसंश्लेषमनर्हमेतत् ।

हस्तः प्रजापालनयोग्य एष भोक्तुं न चार्हः परदत्तमन्नम् ॥१०.२४

आपका शरीर लाल चन्दन के योग्य है, काषाय-स्पर्श के योग्य यह नही। यह हाथ प्रजा-पालन के योग्य है, दूसरों का दिया अन्न खाने योग्य नही ॥24 ॥

तत्सौम्य राज्यं यदि पैतृकं त्वं स्नेहात्पितुर्नेच्छसि विक्रमेण ।

न च क्रमं मर्षयितुं मतिस्ते भुङ्क्ष्वार्धमस्मद्विषयस्य शीघ्रम् ॥१०.२५

इसलिए, हे सौम्य, यदि आप स्नेह-वश पिता से पैतृक राज्य पराक्रमपूर्वक नही (लेना) चाहते हैं और यदि क्रम को सहने का (=क्रम से राज्य प्राप्ति तक ठहरने का) विचार आपका नही है, तो शीघ्र ही मेरे आधे राज्य का आप पालन करें ॥25 ॥

एवं हि न स्यात्स्वजनावमर्दः कालक्रमेणापि शमश्रया श्रीः ।

तस्मात्कुरुष्व प्रणयं मयि त्वं सद्भिः सहीया हि सतां समृद्धिः ॥१०.२६

इस प्रकार स्वजन का उत्पीड़न नही होगा, काल-क्रम से शान्ति में रहनेवाली सम्पत्ति भी मिलेगी। इसलिए आप मुझसे प्रीति करें, क्योंकि सज्जनों की सङ्गति से सज्जनों की समृद्धि होती है ॥26 ॥

अथ त्विदानीं कुलगर्वितत्वादस्मासु विश्रम्भगुणो न तेऽस्ति ।

व्यूढान्यनीकानि विगाह्य बाणैर्मया सहायेन परान् जिगीष ॥१०.२७

यदि इस समय कुल के गर्व के कारण हमारे ऊपर आपका विश्वास नही है, तो मुझ सहायक के साथ बाणों से सैन्य-समूहों में प्रवेश कर शत्रुओं को जीतिये ॥27 ॥

तद्बुद्धिमत्रान्यतरां वृणीष्व धर्मार्थकामान्विधिवद्भजस्व ।

व्यत्यस्य रागादिह हि त्रिवर्गं प्रेत्येह भ्रंशमवाप्नुवन्ति ॥१०.२८

इसलिए दो में से एक विचार स्वीकार कीजिये। धर्म, अर्थ और काम का विधिवत् सेवन कीजिए, क्योंकि राग-वश यहाँ त्रिवर्ग का उलट-पुलट होने से लोग यहाँ और परलोक में भी भ्रष्ट होते हैं ॥28 ॥

यो ह्यर्थधर्मौ परिपीड्य कामः स्याद्धर्मकामौ परिभूय चार्थः ।

कामार्थयोश्चोपरमेण धर्मस्त्याज्यः स कृत्स्नो यदि काङ्क्षितोऽर्थः ॥१०.२९

अर्थ और धर्म को परिपीड़ित कर जो काम होगा, धर्म व काम को दबाकर जो अर्थ होगा और काम व अर्थ के विनाश से जो धर्म होगा उसे छोड़िये, यदि आप सम्पूर्ण लक्ष्य (की सिद्धि) चाहते हैं ॥29 ॥

तस्मात्त्रिवर्गस्य निषेवणेन त्वं रूपमेतत्सफलं कुरुष्व ।

धर्मार्थकामाधिगमं ह्यनूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः ॥१०.३०

इसलिए त्रिवर्ग के सेवन से आप इस रूप को सफल कीजिए; क्योंकि कहते हैं कि धर्म, अर्थ व काम की सम्पूर्ण प्राप्ति ही मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ है ॥30 ॥

तन्निष्फलौ नार्हसि कर्तुमेतौ पीनौ भुजौ चापविकर्षणार्हौ ।

मान्धातृवज्जेतुमिमौ हि योग्यौ लोकानपि त्रीनिह किं पुनर्गाम् ॥१०.३१

इसलिए धनुष खींचने योग्य इन मोटी भुजाओं को आपको निष्फल नही करना चाहिएय क्योंकि मान्धाता के समान ये तीनों लोक जीतने योग्य हैं, फिर इस पृथ्वी का क्या कहना ॥31 ॥

स्नेहेन खल्वेतदहं ब्रवीमि नैश्वर्यरागेण न विस्मयेन।
इमं हि दृष्ट्वा तव भिक्षुवेषं जातानुकम्पोऽस्म्यपि चागताश्रुः ॥१०.३२

स्नेह से मैं यह कह रहा हूँ, ऐश्वर्य के अनुराग से नही, विस्मय (औद्धत्य ?) से नही। आपका यह भिक्षु-वेष देखकर मुझे अनुकम्पा हो गई है, और आँसू आ गये हैं ॥32 ॥

तद्भुङ्क्ष्व भिक्षाश्रमकाम कामान् कालेऽसि कर्ता प्रियधर्म धर्मम्।
यावत्स्वंशप्रतिरूपरूपं न ते जराभ्येत्यभिभूय भूयः ॥१०.३३

हे स्व-वंश-प्रतिबिम्ब, जबतक आपके रूप को दबाकर बुढ़ापा फिर नही आता, तबतक, हे भिक्षु-आश्रम के इच्छुक, कामोपभोग कीजिए। हे प्रियधर्म, समय पर धर्म कीजिएगा ॥33 ॥

शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः।
अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविरस्य धर्मम् ॥१०.३४

वृद्ध धर्म प्राप्त कर सकता है, कामोपभोग में बुढ़ापे की गति नही है। और इस कारण युवक के लिए काम, मध्य के लिए वित्त, और बूढ़े के लिए धर्म बताते हैं ॥34 ॥

धर्मस्य चार्थस्य च जीवलोके प्रत्यर्थिभूतानि हि यौवनानि।
संरक्ष्यमाणान्यपि दुर्ग्रहाणि कामा यतस्तेन यथा हरन्ति ॥१०.३५

जीव-लोक में धर्म और अर्थ का शत्रु यौवन है। यत्न करनेपर भी उसे पकड़ रखना कठिन है; क्योंकि काम अपने मार्ग से उसे ले जाते हैं ॥35 ॥

वयांसि जीर्णानि विमर्शयन्ति धीराण्यवस्थानपरायणानि।
अल्पेन यत्नेन शमात्मकानि भवन्त्यगत्यैव च लज्जया च ॥१०.३६

वृद्धावस्था विचारवती धीर और स्थिरता परायण होती है। उपायहीनता और लज्जा के कारण अल्प यत्न से ही उसमें शान्ति मिलती है ॥36 ॥

अतश्च लोलं विषयप्रधानं प्रमत्तमक्षान्तमदीर्घदर्शि।
बहुच्छलं यौवनमभ्यतीत्य निस्तीर्य कान्तारमिवाश्वसन्ति ॥१०.३७

अत: चञ्चल, विषय-प्रधान, प्रमत्त (=प्रमादपूर्ण) असहनशील, अदीर्घ-दर्शी और अनेक छलों से युक्त यौवन को बिताकर लोग वैसे ही आश्वस्त होते हैं, जैसे जङ्गल को पार कर ॥37 ॥

तस्मादधीरं चपलप्रमादि नवं वयस्तावदिदं व्यपैतु।
कामस्य पूर्वं हि वयः शरव्यं न शक्यते रक्षितुमिन्द्रियेभ्यः ॥१०.३८

इसलिए अधीर, चपल और प्रमादपूर्ण यह नई वयस तबतक बीते; क्योकि कामदेव का लक्ष्य नई जवानी है, जिसकी इन्द्रियों से रक्षा नही की जा सकती ॥38 ॥

अथौ चिकीर्षा तव धर्म एव यजस्व यज्ञं कुलधर्म एषः।
यज्ञैरधिष्ठाय हि नागपृष्ठं ययौ मरुत्वानपि नाकपृष्ठम् ॥१०.३९[44]

यदि आपको इच्छा कर्म करना ही है, तो यज्ञ कीजिए, यह आपका कुलधर्म है। यज्ञों द्वारा हाथी की पीठ पर चढ़कर इन्द्र भी स्वर्ग गया था ॥39 ॥

सुवर्णकेयूरविदष्टबाहवो मणिप्रदीपोज्ज्वलचित्रमौलयः।
नृपर्षयस्तां हि गतिं गता मखैः श्रमेण यामेव महार्षयो ययुः ॥१०.४०

राजर्षि-गण, जिनकी भुजाएँ सुवर्ण केयूरों से बँधी थीं और जिनके रङ्ग-बिरङ्गे मुकुट मणि-प्रदीपों से उज्ज्वल थे, यज्ञों द्वारा उस गति को प्राप्त हुए, जिसको ही महर्षि-गण तपस्या द्वारा प्राप्त हुए।" ॥40 ॥

इत्येवं मगधपतिर्वचो बभाषे यः सम्यग्वलभिदिव ब्रुवन् बभाषे।
तच्छ्रुत्वा न स विचचाल राजसूनुः कैलासो गिरिरिव नैकचित्रसानुः ॥१०.४१

इस प्रकार मगध-राज ने वह वचन कहा। वह ठीक-ठीक बोलने में इन्द्र के समान शोभित हुआ। यह सुनकर वह राज-पुत्र विचलित नही हुआ, जैसे अनेक रङ्ग-बिरङ्गी चोटियों से युक्त कैलाश पर्वत (विचलित नही होता है) ॥41 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते श्रेण्याभिगमनो नाम दशमः सर्गः ॥१० ॥

एकादश सर्ग

काम-निन्दा

अथैवमुक्तो मगधाधिपेन सुहृन्मुखेन प्रतिकूलमर्थम्।
स्वस्थोऽविकारः कुलशौचशुद्धः शौद्धोदनिर्वाक्यमिदं जगाद ॥११.१

तब मगध-राज के द्वारा अपने मित्र-मुख से इस तरह प्रतिकूल बात कही जानेपर, अपने कुल की पवित्रता से पवित्र शौद्धोदनि (=शुद्धोदन के पुत्र) ने शान्ति और धैर्यपूर्वक यह वचन कहा:– ॥1 ॥

नाश्चर्यमेतद्भवतो विधानं जातस्य हर्यङ्कुले विशाले।
यन्मित्रपक्षे तव मित्रकाम स्याद्वृत्तिरेषा परिशुद्धवृत्तेः ॥११.२

"आप विशाल हर्यङ्क-कुल में पैदा हुए हैं, अत: आपके लिए ऐसा कहना आश्चर्यजनक नही; हे मित्रेच्छु, मित्रों के प्रति आप शुद्धाचार का यह व्यवहार आश्चर्यजनक नही ॥2 ॥[45]

असत्सु मैत्री स्वकुलानुरूपा न तिष्ठति श्रीरिव विक्लवेषु।
पूर्वैः कृतां प्रीतिपरम्पराभिस्तामेव सन्तस्तु विवर्धयन्ति ॥११.३

---

[44]- "नाक" की जगह "नाग" रक्खा गया है। नमुचि के वध के बाद, यज्ञ द्वारा ब्रह्म-हत्या के पाप से मुक्त होकर, इन्द्र स्वर्ग को लौटा था।

[45]- हर्यङ्क = उस कुल के किसी राजा का नाम, या वह कुल जिसका चिह्न सिंह है।

अपने कुल में (पूर्जवों द्वारा) पालित मैत्री असज्जनों के पास नही रहती, जैसे (अपने कुल में पालित) लक्ष्मी विह्वलों के पास नही रहती; किन्तु सज्जन पूर्वजों द्वारा की गई उसी (मैत्री) को प्रीतिपरम्परा से बढ़ाते हैं ॥3 ॥

ये चार्थकृच्छ्रेषु भवन्ति लोके समानकार्याः सुहृदां मनुष्याः ।
मित्राणि तानीति परैमि बुद्ध्या स्वस्थस्य वृद्धिष्विह को हि न स्यात् ॥११.४

धन कम होनेपर संसार में जो मनुष्य मित्रों के काम में हाथ बँटाते हैं, अपनी बुद्धि से मैं उन्हीं को मित्र समझता हूँ; क्योंकि जो स्वस्थ है (=अच्छी अवस्था में है) उसकी बढ़ती में कौन (साथ) नही रहेगा? ॥4 ॥

एवं च ये द्रव्यमवाप्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति ।
अवाप्तसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते जनयन्ति तापम् ॥११.५

इस प्रकार संसार में धन पाकर जो लोग मित्रों और धर्म में लगाते हैं, उनके धन सारवान् हैं, नष्ट होनेपर अन्त में वे (धन) ताप नही पैदा करते ॥5 ॥

सुहृत्तया चार्यतया च राजन् खल्वेष यो मां प्रति निश्चयस्ते ।
अत्रानुनेष्यामि सुहृत्तयैव ब्रूयामहं नोत्तरमन्यदत्र ॥११.६

मित्रता और आर्यता (सज्जनता, उदारता) से, हे राजन्, मेरे प्रति आपका जो यह निश्चय हुआ है, इसमें मित्रता से ही अनुनय करूँगा, इसमें दूसरा उत्तर नही दूँगा ॥6 ॥

अहं जरामृत्युभयं विदित्वा मुमुक्षया धर्ममिमं प्रपन्नः ।
बन्धून् प्रियानश्रुमुखान्विहाय प्रागेव कामानशुभस्य हेतून् ॥११.७

जरा और मृत्यु का भय जानकर मोक्ष की इच्छा से मैं इस धर्म की शरण में, अश्रु-मुख प्रिय बन्धुओं को छोड़कर, अशुभ के कारण-स्वरूप काम को तो पहले ही (छोड़कर), आया हूँ ॥7 ॥

नाशीविषेभ्यो हि तथा बिभेमि नैवाशनिभ्यो गगनाच्च्युतेभ्यः ।
न पावकेभ्योऽनिलसंहितेभ्यो यथा भयं मे विषयेभ्य एव ॥११.८

सर्पों से मैं उतना नही डरता, न आकाश से गिरे वज्रों से, न हवा से मिली आग से, जितना कि विषयों से डरता हूँ ॥8 ॥

कामा ह्यनित्याः कुशलार्थचौरा रिक्ताश्च मायासदृशाश्च लोके ।
आशास्यमाना अपि मोहयन्ति चित्तं नृणां किं पुनरात्मसंस्थाः ॥११.९

काम अनित्य है, कुशलरूप धन के चोर हैं, खाली हैं और संसार में माया के समान हैं। उनकी चिन्ता करनेपर भी वे मनुष्यों के चित्त मूढ़ करते हैं, फिर अपने में उनके स्थित रहनेपर क्या कहना? ॥9 ॥

कामाभिभूता हि न यान्ति शर्म त्रिपिष्टपे किं बत मर्त्यलोके ।
कामैः सतृष्णस्य हि नास्ति तृप्तिर्यथेन्धनैर्वातसखस्य वह्नेः ॥११.१०

जो काम से अभिभूत हैं वे, मर्त्य-लोक में क्या, स्वर्ग में भी शान्ति नही पाते। तृष्णावान् को काम से तृप्ति नही होती, जैसे हवा का साथ पाकर आग को इन्धन से (तृप्ति नही होती) ॥10 ॥

जगत्यनर्थो न समोऽस्ति कामैर्मोहाच्च तेष्वेव जनः प्रसक्तः ।
तत्त्वं विदित्वैवमनर्थभीरुः प्राज्ञः स्वयं कोऽभिलषेदनर्थम् ॥११.११

जगत् में काम (=विषय) के समान अनर्थ (बुराई, विपत्ति) नहीं और मोह से आदमी उसी में आसक्त होता है। तत्त्व को जानकर अनर्थ से डरनेवाला कौन बुद्धिमान् स्वयं अनर्थ की अभिलाषा करे? ॥11 ॥

समुद्रवस्त्रामपि गामवाप्य पारं जिगीषन्ति महार्णवस्य ।
लोकस्य कामैर्न वितृप्तिरस्ति पतद्भिरम्भोभिरिवार्णवस्य ॥११.१२

समुद्र-वसना पृथिवी को भी पाकर लोग महासागर के पार जीतने की इच्छा करते हैं। संसार का काम (-उपभोग) से तृप्ति नही होती, जैसे गिरती जल राशि से महासागर की (तृप्ति नही होती) ॥12 ॥

देवेन वृष्टेऽपि हिरण्यवर्षे द्वीपान्समग्रांश्चतुरोऽपि जित्वा ।
शक्रस्य चार्धासनमप्यवाप्य मान्धातुरासीद्विषयेष्वतृप्तिः ॥११.१३

देव द्वारा सुवर्ण-वृष्टि की जानेपर भी, चारों समग्र द्वीपों को जीतकर भी और इन्द्र का आधा आसन पाकर भी, मान्धाता को विषयों में तृप्ति नही हुई ॥13 ॥

भुक्त्वापि राज्यं दिवि देवतानां शतक्रतौ वृत्रभयात्प्रनष्टे ।
दर्पान्महर्षीनपि वाहयित्वा कामेष्वतृप्तो नहुषः पपात ॥११.१४

वृत्र के भय से इन्द्र के छिपनेपर, स्वर्ग में देवताओं का राज्य भोगकर भी, दर्प से महर्षियों द्वारा भी (अपने को) वहन कराकर, नहुष (स्वर्ग से) गिर पड़ा, विषयों में अतृप्त ही रहा ॥14 ॥

ऐडश्च राजा त्रिदिवं विगाह्य नीत्वापि देवीं वशमुर्वशीं ताम् ।
लोभादृषिभ्यः कनकं जिहीर्षुर्जगाम नाशं विषयेष्वतृप्तः ॥११.१५

और, राजा ऐड (इडा का पुत्र पुरुरवा) स्वर्ग में प्रवेश कर, उस देवी उर्वशी को वश में लाकर भी, लोभवश ऋषियों से सुवर्ण हरण करने की इच्छा से नाश को प्राप्त हुआ, विषयों में अतृप्त ही रहा ॥15 ॥

बलेर्महेन्द्रं नहुषं महेन्द्रादिन्द्रं पुनर्ये नहुषादुपेयुः ।
स्वर्गे क्षितौ वा विषयेषु तेषु को विश्वसेद्भाग्यकुलाकुलेषु ॥११.१६

जो विषय बलि से महेन्द्र के पास, महेन्द्र से नहुष के पास, फिर नहुष से (महा-) इन्द्र के पास गये, भाग्य से परेशान रहनेवाले उन विषयों में, स्वर्ग में या पृथिवी पर, कौन विश्वास करे? ॥16 ॥

चीराम्बरा मूलफलाम्बुभक्षा जटा वहन्तोऽपि भुजङ्गदीर्घाः ।
यैर्नान्यकार्या मुनयोऽपि भग्नाः कः कामसञ्ज्ञान्मृगयेत शत्रून् ॥११.१७

वल्कल-वस्त्र पहननेवाले, जल-फल-मूल भक्षण करनेवाले, साँप से समान लक्ष्मी जटा धारण करनेवाले मुनि लोग भी, जिन्हें (तप आदि के अतिरिक्त) दूसरा काम नही था, जिनके द्वारा भग्न किए गये, उन कामसंज्ञक शत्रुओं की कौन खोज करे? ॥17 ॥

उग्रायुधश्चौग्रधृतायुधोऽपि येषां कृते मृत्युमवाप भीष्मात् ।
चिन्तापि तेषामशिवा वधाय तद्वृत्तिनां किं पुनरव्रतानाम् ॥११.१८

उग्र अस्त्र धारण करनेवाले, उग्रायुध ने भी जिनके कारण भीष्म से मौत पाई, उनकी चिन्ता भी अमङ्गलजनक है, और सदाचारियों के लिए भी घातक है, फिर अव्रतियों का क्या कहना? ॥18 ॥

आस्वादमल्पं विषयेषु मत्वा संयोजनोत्कर्षमतृप्तिमेव ।
सद्भ्यश्च गर्हां नियतं च पापं कः कामसञ्ज्ञं विषमाददीत ॥११.१९

विषयों में स्वाद कम है, बन्धन अधिक हैं, केवल अतृप्ति है, सज्जनों द्वारा निन्दा होती है, और पाप नियत है—ऐसा समझकर कौन कामनामक विषयों को ग्रहण करे? ॥19 ॥

कृष्यादिभिः कर्मभिरर्दितानां कामात्मकानां च निशम्य दुःखम् ।
स्वास्थ्यं च कामेष्वकुतूहलानां कामान्विहातुं क्षममात्मवद्भिः ॥११.२०

कृषि आदि कर्मों से पीड़ित रहनेवालों का स्वास्थ्य (=सुख, शान्ति, प्रसन्नता) देखकर, आत्मवान् (=संयतात्मा) लोगों के लिए काम का त्याग करना ही उचित है ॥20 ॥

ज्ञेया विपत्कामिनि कामसम्पत्सिद्धेषु कामेषु मदं ह्युपैति ।
मदादकार्यं कुरुते न कार्यं येन क्षतो दुर्गतिमभ्युपैति ॥११.२१

कामी व्यक्ति में कामरूपी सम्पत्ति को विपत्ति ही समझना चाहिए; क्योंकि काम सिद्ध होनेपर मद होता है। मद से मनुष्य अकार्य करता है, कार्य नही, जिससे घायल होकर वह दुर्गति को प्राप्त होता है ॥21 ॥

यत्नेन लब्धाः परिरक्षिताश्च ये विप्रलभ्य प्रतियान्ति भूयः ।
तेष्वात्मवान्याचितकोपमेषु कामेषु विद्वानिह को रमेत ॥११.२२

यत्नपूर्वक पाये गये और रखे गये जो (काम) ठगकर फिर चले जाते हैं, इस संसार मे माँगी गई वस्तुओं के समान उन कामों (=विषयों) में कौन आत्मवान् (=संयतात्मा) बुद्धिमान् रत होगा? ॥22 ॥

अन्विष्य चादाय च जाततर्षा यानत्यजन्तः परियान्ति दुःखम् ।
लोके तृणोल्कासदृशेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.२३

जिन्हें खोजकर और पाकर तृष्णा होती है, जिन्हें नही छोड़ने में (लोग) दुःख पाते हैं, संसार मे तृणों की उल्का के समान उन कामों (=विषयों) में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥23 ॥

अनात्मवन्तो हृदि यैर्विदष्टा विनाशमर्छन्ति न यान्ति शर्म ।
क्रुद्धौग्रसर्पप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.२४

अनात्मवान् (=असंयतात्मा) जिनके द्वारा हृदय में डँसे जानेपर नष्ट हो जाते हैं, शान्ति नही पाते, क्रुद्ध उग्र साँपों के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥24 ॥

अस्थि क्षुधार्त्ता इव सारमेया भुक्त्वापि यान्नैव भवन्ति तृप्ताः ।
जीर्णास्थिकङ्कालसमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.२५

जैसे हड्डी चबाकर भी भूखे कुत्ते तृप्त नही होते हैं वैसे ही जिन्हें भोगकर भी (लोग) तृप्त नही होते हैं, जीर्ण अस्थि-पञ्जर (=पुरानी ठठरी) के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥25 ॥

ये राजचौरोदकपावकेभ्यः साधारणत्वाज्जनयन्ति दुःखम् ।
तेषु प्रविद्धामिषसन्निभेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.२६

राजा चोर जल व अग्नि का समान अधिकार होने के कारण जो (काम) दुःख पैदा करते हैं, फेके हुए मांस के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥26 ॥[46]

यत्र स्थितानामभितो विपत्तिः शत्रोः सकाशादपि बान्धवेभ्यः ।
हिंस्रेषु तेष्वायतनोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.२७

जहाँ रहनेवालों (जिनमें रमनेवालों) पर चारों ओर से विपत्ति है, शत्रु के समीप से, और बन्धुओं के समीप से, यज्ञशालाओं के समान उन हिंसक कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥27 ॥

गिरौ वने चाप्सु च सागरे च यान् भ्रंशमर्छन्ति विलङ्घमानाः ।
तेषु द्रुमप्राग्रफलोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥ ११.२८

पर्वत पर, वन में, जल में और सागर में जिन्हें खोजते हुए भ्रष्ट होते हैं, वृक्ष-शिखर पर के फलों के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥28 ॥

तीव्रैः प्रयत्नैर्विविधैरवाप्ताः क्षणेन ये नाशमिह प्रयान्ति ।
स्वप्नोपभोगप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.२९

विविध तीव्र प्रयत्नों से प्राप्त होकर जो क्षण-भर में इस संसार में नष्ट हो जाते हैं, स्वप्न-उपभोग के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥29 ॥

यानर्जयित्वापि न यान्ति शर्म विवर्धयित्वा परिपालयित्वा ।
अङ्गारकर्षूप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.३०

जिन्हें अर्जन कर, बढ़ाकर और पालकर भी (लोग) शान्ति नही पाते, अङ्गारे की आग के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥30 ॥

विनाशमीयुः कुरवो यदर्थं वृष्ण्यन्धका मेखलदण्डकाश्च ।
शूनासिकाष्ठप्रतिमेषु तेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.३१

जिनके लिए कौरव वृष्णन्धक व मेखलदण्डक विनाश को प्राप्त हुए, वध-स्थल के छुरे व काठ के समान उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥31 ॥[47]

---

[46]- (26, 27) काम = उपभोग की वस्तुएँ। सोने चाँदी लाखों-करोड़ों सिक्कों को मैं श्रेष्ठ धन नही कहता। उसमें तो भय-ही-भय है—राजा का, अग्नि का, जल का, चोर का, लुटेरे का और अपने सगे सम्बन्धियों तक का भय है= बु० वा०।

[47]- (31-32) जुए के लिए कौरवों का, मद्यपान के लिए वृष्ण्यन्धकों का और स्त्री के लिए सुन्द-उपसुन्द का विनाश हुआ।

सुन्दोपसुन्दावसुरौ यदर्थमन्योन्यवैरप्रसृतौ विनष्टौ ।
सौहार्दविश्लेषकरेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.३२

जिनके लिए सुन्द और उपसुन्द नामक दो असुर, एक दूसरे के प्रति वैर बढ़नेपर, नष्ट हुए, मैत्री विलगानेवाले उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥32 ॥

येषां कृते वारिणि पावके च क्रव्यात्सु चात्मानमिहोत्सृजन्ति ।
सपत्नभूतेष्वशिवेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥११.३३

जिनके लिए जल में, अग्नि में, व हिंसक जीवों के आगे (लोग) अपने को उत्सर्ग (=समर्पित) कर देते हैं, शत्रु-सदृश व अमङ्गलजनक उन कामों में किस आत्मवान् को आनन्द होगा? ॥33 ॥

कामार्थमज्ञः कृपणं करोति प्राप्नोति दुःखं वधबन्धनादि ।
कामार्थमाशाकृपणस्तपस्वी मृत्युं श्रमं चार्छति जीवलोके ॥११.३४

काम (=विषय) के लिए अज्ञानी क्षुद्रता करता है और वध-बन्धन आदि दुःख पाता है। तृष्णा से दीन हुआ बेचारा प्राणि-जगत् काम के लिए मौत व थकावट पाता है ॥34 ॥

गीतैर्ह्रियन्ते हि मृगा वधाय रूपार्थमग्नौ शलभाः पतन्ति ।
मत्स्यो गिरत्यायसमामिषार्थी तस्मादनर्थं विषयाः फलन्ति ॥११.३५

गीतों से मृग वध के लिए अपहृत होते हैं; रूप के लिए पतङ्ग अग्नि में गिरते हैं; मांस चाहनेवाली मछली लोहे की कँटिया निगलती है; इसलिए विषयों का फल विपत्ति है ॥35 ॥

कामास्तु भोगा इति यन्मतिः स्याद्भोगा न केचित्परिगण्यमानाः ।
वस्त्रादयो द्रव्यगुणा हि लोके दुःखप्रतीकार इति प्रधार्याः ॥११.३६

काम भोग हैं, ऐसा जो विचार है सो कोई भी काम भोग नही गिने जा सकते; क्योंकि वस्त्र आदि विषय दुःख के प्रतीकार हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥36 ॥

इष्टं हि तर्षप्रशमाय तोयं क्षुन्नाशहेतोरशनं तथैव ।
वातातपाम्ब्वावरणाय वेश्म कौपीनशीतावरणाय वासः ॥११.३७

प्यास मिटाने के लिए पानी इष्ट (=चाहा जाता है) है, उसी प्रकार भूख मिटाने के लिए भोजन, हवा धूप व पानी से बचने के लिए घर, शीत-निवारण और लङ्गोटे के लिए वस्त्र ॥37 ॥

निद्राविघाताय तथैव शय्या यानं तथाध्वश्रमनाशनाय ।
तथासनं स्थानविनोदनाय स्नानं मृजारोग्यबलाश्रयाय ॥११.३८

उसी प्रकार नींद (की बाधा) दूर करने के लिए शय्या, उसी तरह रास्ते की थकावट नष्ट करने के लिए गाड़ी, उसी तरह खड़ा रहना दूर करने के लिए आसन और मार्जन आरोग्य व बल प्राप्त करने के लिए स्नान (इष्ट है) ॥38 ॥

दुःखप्रतीकारनिमित्तभूतास्तस्मात्प्रजानां विषया न भोगाः ।
अश्नामि भोगानिति कोऽभ्युपेयात्प्राज्ञः प्रतीकारविधौ प्रवृत्तः ॥११.३९

इसलिए दुःख-प्रतीकार के कारणस्वरूप विषय लोगों के लिए भोग नही हो सकते। (दुःख) प्रतिकार-विधि में लगा हुआ कौन बुद्धिमान् यह मानेगा—"मैं भोग कर रहा हूँ" ॥39 ॥

यः पित्तदाहेन विदह्यमानः शीतक्रियां भोग इति व्यवस्येत् ।
दुःखप्रतीकारविधौ प्रवृत्तः कामेषु कुर्यात्स हि भोगसञ्ज्ञाम् ॥११.४०

पितज्वर से जलता हुआ जो (आदमी) शीतोपचार को भोग समझेगा, दुःख-प्रतीकार-उपाय में लगा हुआ वही (आदमी) कामों (=विषयों) को भोग समझेगा ॥40 ॥

कामेष्वनैकान्तिकता च यस्मादतोऽपि मे तेषु न भोगसञ्ज्ञा ।
य एव भावा हि सुखं दिशन्ति त एव दुःखं पुनरावहन्ति ॥११.४१

क्योंकि कामों (विषयों) में ऐकान्तिकता (=एक अन्त) नही है, इसलिए भी मैं कामों को भोग नही समझता। जो ही पदार्थ सुख देते हैं, वे ही फिर दुःख लाते हैं ॥41 ॥

गुरूणि वासांस्यगुरूणि चैव सुखाय शीते ह्यसुखाय घर्मे ।
चन्द्रांशवश्चन्दनमेव चोष्णे सुखाय दुःखाय भवन्ति शीते ॥११.४२

क्योंकि, भारी वस्त्र और अगुरु से जाड़े में सुख होता है और गर्मी में असुख; चन्द्र किरणों व चन्दन से गर्मी में सुख होता है और जाड़े में असुख ॥42 ॥

द्वन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके ।
अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥११.४३

क्योंकि संसार मे हानि-लाभ आदि द्वन्द्व सबमें लगे हुए हैं, इसलिए भी पृथिवी पर कोई पुरुष न तो एकान्त (=केवल) सुखी है और न एकान्त दुःखी है ॥43 ॥

दृष्ट्वा च विमिश्रां सुखदुःकतां मे राज्यं च दास्यं च मतं समानम् ।
नित्यं हसत्येव हि नैव राजा न चापि सन्तप्यत एव दासः ॥११.४४

दुःख व सुख को मिला हुआ देखकर, राज्य व दासत्व को मैं समान मानता हूँ। न तो राजा ही नित्य हँसता है और न दास ही नित्य संतप्त होता है ॥44 ॥

आज्ञा नृपत्वेऽभ्यधिकेति यत्स्यान्महान्ति दुःखान्यत एव राज्ञः ।
आसङ्गकाष्ठप्रतिमो हि राजा लोकस्य हेतोः परिखेदमेति ॥११.४५

यह कि राजत्व मे आज्ञा अधिक है, इसीलिए तो राज को बड़े-बड़े दुःख होते हैं। आसङ्ग-काष्ठ (?) के समान राजा संसार के लिए थकता है ॥45 ॥

राज्ये नृपस्त्यागिनि बह्वमित्रे विश्वासमागच्छति चेद्विपन्नः ।
अथापि विश्रम्भमुपैति नेह किं नाम सौख्यं चकितस्य राज्ञः ॥११.४६

त्याग करनेवाले (=क्षण-भङ्गुर) व बहुत शत्रुओं से भरे राज्य में यदि (राजा) विश्वास करता है, तो मरता है और यदि उस (राज्य) में विश्वास नही करता है, तो भय-भीत रहनेवाले राजा को सुख क्या है? ॥46 ॥

यदा च जित्वापि महीं समग्रां वासाय दृष्टं पुरमेकमेव ।
तत्रापि चैकं भवनं निषेव्यं श्रमः परार्थे ननु राजभावः ॥११.४७

और जब कि सारी पृथ्वी को जीतकर भी रहने के लिए वह एक ही नगर को देखता है, और उसमें भी उसे एक ही महल का सेवन करना पड़ता है, तब अवश्य ही राजत्व दूसरों के लिए (परि-) श्रम (करना) है ॥47 ॥

राज्ञोऽपि वासोयुगमेकमेव क्षुत्सन्निरोधाय तथान्नमात्रा ।
शय्या तथैकासनमेकमेव शेषा विशेषा नृपतेर्मदाय ॥११.४८

राजा के लिए भी एक ही जोड़ा वस्त्र, उसी तरह क्षुधा-निवृत्ति के लिए कुछ अन्न, उसी तरह एक शय्या और एक ही आसन (आवश्यक है); राजा की शेष विशेषताएँ तो मद (पैदा करने) के लिए हैं ॥48 ॥

तुष्ट्यर्थमेतच्च फलं यदीष्टमृतेऽपि राज्यान्मम तुष्टिरस्ति ।
तुष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषा ननु निर्विशेषाः ॥११.४९

और यदि सन्तोष के लिए यह फल इष्ट है, तो राज्य के बिना भी मुझे सन्तोष है। संसार में मनुष्य को सन्तोष होनेपर सब विशेषताएँ विशेषता-रहित हैं ॥49 ॥

तन्नास्मि कामान् प्रति सम्प्रतार्यः क्षेमं शिवं मार्गमनुप्रपन्नः ।
स्मृत्वा सुहृत्त्वं तु पुनः पुनर्मां ब्रूहि प्रतिज्ञां खलु पालयेति ॥११.५०

इसलिए कर्मों के प्रति मैं बहकाया नही जा सकता; मङ्गलमय व कल्याणकारी मार्ग की शरण में हूँ। मित्रता का स्मरण कर आप बार-बार मुझसे कहें–"अवश्य प्रतिज्ञा पालन करो" ॥50 ॥

न ह्यस्म्यमर्षेण वनं प्रविष्टो न शत्रुबाणैरवधूतमौलिः ।
कृतस्पृहो नापि फलाधिकेभ्यो गृह्णामि नैतद्वचनं यतस्ते ॥११.५१

न तो क्रोध से मैंने वन में प्रवेश किया है, और न शत्रु के बाणों से मुकुट कँपाये जानेपर ही। न तो अधिक फल के लिए अभिलाषा करता हूँ, जिससे आपकी यह बात न मान रहा हूँ ॥51 ॥

यो दन्दशूकं कुपितं भुजङ्गं मुक्त्वा व्यवस्येद्धि पुनर्ग्रहीतुम् ।
दाहात्मिकां वा ज्वलितां तृणोल्कां सन्त्यज्य कामान्स पुनर्भजेत ॥११.५२

जो डँसनेवाले कुपित साँपों को, या जलानेवाली जलती उल्का को छोड़कर फिर से पकड़ने का विचार करे, वही कर्मों को छोड़कर फिर उनका सेवन करे ॥52 ॥

अन्धाय यश्च स्पृहयेदनन्धो बद्धाय मुक्तो विधनाय चाढ्यः ।
उन्मत्तचित्ताय च कल्यचित्तः स्पृहां स कुर्याद्विषयात्मकाय ॥११.५३

जो दृष्टिवान् दृष्टि-हीन (होने के) लिए और जो मुक्त (पुरुष) बन्दी (होने के) लिए, और जो धनी निर्धन (होने के) लिए और जो स्वस्थ-चित्त उन्मत्त-चित्त (होने के) लिए अभिलाषा करे, वही विषयी (होने के) लिए अभिलाषा करे ॥53 ॥

भैक्षोपभोगीति च नानुकम्प्यः कृती जरामृत्युभयं तितीर्षुः ।
इहोत्तमं शान्तिसुखं च यस्य परत्र दुःखानि च संवृतानि ॥११.५४

"भिक्षा पर रहता है" इसलिए वह बुद्धिमान् अनुकम्पा के योग्य नही जो जरा व मृत्यु का भय पार करना चाहता है, जिसका इस संसार में उत्तम शान्ति सुख प्राप्त है और परलोक में जिसके दुःख नष्ट हैं ॥54 ॥

लक्ष्म्यां महत्यामपि वर्तमानस्तृष्णाभिभूतस्त्वनुकम्पितव्यः ।
प्राप्नोति यः शान्तिसुखं न चेह परत्र दुःखं प्रतिगृह्यते च ॥११.५५

महती लक्ष्मी की (गोद में) रहता हुआ भी तृष्णा से अभिभूत पुरुष अनुकम्पा के योग्य है, जो इस लोक में शान्ति-सुख नही पाता और जो परलोक में दुःखों से प्राप्त होता है ॥55 ॥

एवं तु वक्तुं भवतोऽनुरूपं सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ।
ममापि वोढुं सदृशं प्रतिज्ञां सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ॥११.५६

ऐसा कहना आपके सत्त्व आचार और कुल के अनुरूप है, मेरे लिए भी प्रतिज्ञा पालन करना मेरे सत्त्व, आचार और कुल के योग्य है ॥56 ॥

अहं हि संसारशरेण विद्धो विनिःसृतः शान्तिमवाप्तुकामः ।
नेच्छेयमाप्तुं त्रिदिवेऽपि राज्यं निरामयं किं बत मानुषेषु ॥११.५७

संसाररूप तीर से विद्ध होकर शान्ति पाने की इच्छा से मैं (घर से) निकला हूँ, स्वर्ग का भी निष्कण्टक राज्य नही पाना चाहता हूँ, मर्त्यलोक का क्या कहना? ॥57 ॥

त्रिवर्गसेवां नृप यत्तु कृत्स्नतः परो मनुष्यार्थ इति त्वमात्थ माम् ।
अनर्थ इत्येव ममात्र दर्शनं क्षयी त्रिवर्गो हि न चापि तर्पकः ॥११.५८

पूरा-पूरा त्रिवर्ग सेवन परम पुरुषार्थ है, हे राजन्, यह जो आपने मुझे कहा, इसमें मैं अनर्थ ही देखता हूँ क्योंकि त्रिवर्ग नाशवान् है और तृप्तिदायक भी नही है ॥58 ॥

पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः ।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया ॥११.५९

जिसमें न जरा है, न भय, न रोग, न जन्म, न मृत्यु, और न आधि, उसी पद को मैं उत्तम पुरुषार्थ मानता हूँ जिसमें बार-बार कर्म नही करना पड़ता ॥59 ॥

यदप्यवोचः परिपाल्यतां जरा नवं वयो गच्छति विक्रियामिति ।
अनिश्चयोऽयं बहुशो हि दृश्यते जराप्यधीरा धृतिमच्च यौवनम् ॥११.६०

यह जो कहा कि जरा की प्रतीक्षा करो, नई वयस में विकार होता है, यह निश्चित नही है; क्योंकि बहुधा देखा जाता है कि बुढ़ापे में भी अधैर्य है और जवानी में भी धैर्य ॥60 ॥[48]

[48]- "चपलं" की जगह "बहुशः" रक्खा गया है।

स्वकर्मदक्षश्च यदान्तको जगद् वयःसु सर्वेष्ववशं विकर्षति ।
विनाशकाले कथमव्यवस्थिते जरा प्रतीक्ष्या विदुषा शमेप्सुना ॥११.६१

जब कि अपने कर्म में निपुण यम विवश जगत् को सब अवस्थाओं में दूर खींच रहा है, तब विनाश-काल अनिश्चित होनेपर शान्ति पाने का इच्छुक बुद्धिमान् क्यों बुढ़ापे की प्रतीक्षा करे? ॥61 ॥

जरायुधो व्याधिविकीर्णसायको यदान्तको व्याध इवाशिवः स्थितः ।
प्रजामृगान् भाग्यवनाश्रितांस्तुदन् वयःप्रकर्षं प्रति को मनोरथः ॥११.६२

जब कि जरा-रूप-शस्त्र धारी यम अमङ्गल व्याध के समान खड़ा होकर व्याधिरूप तीरों को बिखेरता हुआ भाग्य-रूप वन में आश्रित प्रजा रूप मृगों को पीड़ित कर रहा है, तब बुढ़ापे (में धर्म करने) की क्या चाह हो सकती है? ॥62 ॥

अतो युवा वा स्थविरोऽथवा शिशुस्तथा त्वरावानिह कर्तुमर्हति ।
यथा भवेद्धर्मवतः कृपात्मनः प्रवृत्तिरिष्टा विनिवृत्तिरेव वा ॥११.६३

इसलिए युवा हो, या वृद्ध या शिशु, वह यहाँ शीघ्र ऐसा करे, जिससे धर्मात्मा व शुद्धात्मा होकर (स्वर्ग-प्राप्ति-द्वारा) इष्ट प्रवृत्ति या (मोक्ष-प्राप्ति-द्वारा) इष्ट निवृत्ति प्राप्त करे ॥63 ॥

यदात्थ चापीष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्माय मखक्रियामिति ।
नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते ॥११.६४

यह जो कहा कि इष्ट फल देनेवाली कुलोचित यज्ञ-क्रिया धर्म के लिए करो; यज्ञों को प्रणाम है, मैं वह सुख नही चाहता, जो दूसरों को दुःख देकर चाहा जाता है ॥64 ॥

परं हि हन्तुं विवशं फलेप्सया न युक्तरूपं करुणात्मनः सतः ।
क्रतोः फलं यद्यपि शाश्वतं भवेत्तथापि कृत्वा किमु यत्क्षयात्मकम् ॥११.६५

जो दयावान् है उसके लिए फल पाने की इच्छा से दूसरे विवश जीव की हत्या करना ठीक नही। यदि यज्ञ का फल शाश्वत भी हो, तो भी वह करके क्या जो हिंसात्मक है? ॥65 ॥

भवेच्च धर्मो यदि नापरो विधिर्व्रतेन शीलेन मनःशमेन वा ।
तथापि नैवार्हति सेवितुं क्रतुं विशस्य यस्मिन् परमुच्यते फलम् ॥११.६६

यदि व्रत, शील या मानसिक शान्ति द्वारा धर्म प्राप्त होने का दूसरा उपाय न हो, तो भी यज्ञ का सेवन नही करना चाहिए, जिसमें दूसरे को मारकर फल प्राप्त होता है ऐसा कहा जाता है ॥66 ॥

इहापि तावत्पुरुषस्य तिष्ठतः प्रवर्तते यत्परहिंसया सुखम् ।
तदप्यनिष्टं सघृणस्य धीमतो भवान्तरे किं बत यन्न दृश्यते ॥११.६७

इस लोक में रहते हुए पुरुष को पर-हिंसा से जो सुख होता है, वह भी दयावन् बुद्धिमान् के लिए इष्ट (वांछनीय) नही; दूसरे जन्म में जो दिखाई नही पड़ रहा है उसका क्या? ॥67 ॥

न च प्रतार्योऽस्मि फलप्रवृत्तये भवेषु राजन् रमते न मे मनः ।
लता इवाम्भोधरवृष्टिताडिताः प्रवृत्तयः सर्वगता हि चञ्चला ॥११.६८

और फल के लिए प्रवत्ति की ओर मैं नही बहकाया जा सकता हूँ, जन्म-चक्र में, हे राजन्, मेरा मन नही लग रहा है। बादल की वृष्टि से ताड़ित लता के समान यह सर्वव्यापी प्रवृत्ति चञ्चल है ॥68 ॥[49]

इहागतश्चाहमितो दिदृक्षया मुनेरराडस्य विमोक्षवादिनः ।
प्रयामि चाद्यैव नृपास्तु ते शिवं वचः क्षमेथाः मम तत्त्वनिष्ठुरम् ॥११.६९

यहाँ आया हूँ और मोक्ष-वादी मुनि अराड को देखने की इच्छा से आज ही यहाँ से जा रहा हूँ। हे राजन्, आपका कल्याण हो, मेरे सत्यनिष्ठुर वचन को क्षमा कीजिए ॥69 ॥

अवेन्द्रवद्दिव्यव शश्वदर्कवद्गुणैरव श्रेय इहाव गामव ।
अवायुरार्यैरव सत्सुतानव श्रियश्च राजन्नव धर्ममात्मनः ॥११.७०

इन्द्र के समान रक्षा कीजिए, आकाश के सूर्य के समान सदा रक्षा कीजिए, अपने आर्य (=उत्तम) गुणों से इस लोक में कल्याण की रक्षा कीजिए, पृथ्वी की रक्षा कीजिए, आयु की रक्षा कीजिये, सत्पुत्रों की रक्षा कीजिए, हे राजन्, लक्ष्मी व अपने धर्म की रक्षा कीजिए ॥70 ॥

हिमारिकेतूद्भवसंभवान्तरे यथा द्विजो याति विमोक्षयंस्तनुम् ।
हिमारिशत्रुक्षयशत्रुघातने तथान्तरे याहि विमोक्षयन्मनः ॥११.७१

जैसे अग्नि-पताका (=धूम) से उत्पन्न होनेवाले (=बादल) से वृष्टि होनेपर अग्नि अपनी बाहरी आकृति को छोड़ देती है (या साँप अपनी केंचुल छोड़ता है), वैसे ही सूर्य-शत्रु (=तम) का विनाश करने में जो शत्रु (=विघ्न) हैं उनकी हत्या करके अपना मन मुक्त कीजिए" ॥71 ॥

नृपोऽब्रवीत्साञ्जलिरागतस्पृहो यथेष्टमाप्नोतु भवानविघ्नतः ।
अवाप्य काले कृतकृत्यतामिमां ममापि कार्यो भवता त्वनुग्रहः ॥११.७२

राजा ने हाथ जोड़कर अभिलाषापूर्वक कहा—"आप यथेष्ट सफलता निर्विघ्न प्राप्त करें और इसे प्राप्त कर समय पर मेरे ऊपर भी आप अनुग्रह कीजिएगा" ॥72 ॥

स्थिरं प्रतिज्ञाय तथेति पार्थिवे ततः स वैश्वन्तरमाश्रमं ययौ ।
परिव्रजन्तं समुदीक्ष्य विस्मितो नृपोऽपि वव्राज पुरिं गिरिव्रजम् ॥११.७३

तब, "वैसा ही हो" इस तरह राजा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा कर, वह वैश्वंतर-आश्रम की ओर गया। उसे जाते देखकर विस्मित हुआ राजा भी गिरि-वज्र पुरी (=राजगृह) को चला गया ॥73 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते कामविगर्हणो नामैकादशः सर्गः ॥११ ॥

---

[49]- **किसी जीव का जन्म बराबर एक ही योनि में नही होता है, वह भिन्न-भिन्न योनि में पैदा होता रहता है, और कभी वह स्वर्ग में रहता है तो कभी नरक में; इसलिए प्रवृत्ति का सर्वव्यापी और चञ्चल कहा गया है।**

द्वादश सर्ग

अराड-दर्शन

ततः शमविहारस्य मुनेरिक्ष्वाकुचन्द्रमाः ।
अराडस्याश्रमं भेजे वपुषा पूरयन्निव ॥१२.१

तब इक्ष्वाकु (-वंश का) चन्द्रमा शम-धर्म में विहार करनेवाले अराड के आश्रम में गया, उस (आश्रम) को वह (राज-कुमार) अपने रूप से मानो भर रहा था ॥1 ॥

स कालामसगोत्रेण तेनालोक्यैव दूरतः ।
उच्चैः स्वागतमित्युक्तः समीपमुपजग्मिवान् ॥१२.२

कालाम गोत्र के उस मुनि ने दूर से ही उसे देखकर जोर से 'स्वागत' शब्द कहा, और वह (कुमार) उसके समीप गया ॥2 ॥

तावुभौ न्यायतः पृष्ट्वा धातुसाम्यं परस्परम् ।
दारव्योर्मेध्ययोर्वृष्योः शुचौ देशे निषेदतुः ॥१२.३

वे दोनों न्यायपूर्वक परस्पर धातु-साम्य (=स्वास्थ्य) पूछकर पवित्र स्थान में काठ के दो पवित्र आसनों पर बैठ गये ॥3 ॥

तमासीनं नृपसुतं सोऽब्रवीन्मुनिसत्तमः ।
बहुमानविशालाभ्यां दर्शनाभ्यां पिबन्निव ॥१२.४

उस मुनि-श्रेष्ठ ने, सम्मान के कारण अपनी विकसित आँखों से, बैठे हुए उस राज कुमार को मानो पीते हुए कहा:— ॥4 ॥

विदितं मे यथा सौम्य निष्क्रान्तो भवनादसि ।
छित्त्वा स्नेहमयं पाशं पाशं दृप्त इव द्विपः ॥१२.५

"हे सौम्य, मुझे मालूम है कि आप किस प्रकार घर से निकले हैं। जैसे गर्वीला हाथी बन्धन को काटकर (निकलता है), वैसे ही स्नेहमय बन्धन को काटकर आप निकले हैं ॥5 ॥

सर्वथा धृतिमच्चैव प्राज्ञं चैव मनस्तव ।
यस्त्वं प्राप्तः श्रियं त्यक्त्वा लतां विषफलामिव ॥१२.६

आपका मन सब प्रकार से धैर्यवान् व ज्ञानवान् है जो आप विषाक्त फलवाली लता की तरह लक्ष्मी को तजकर आये हैं ॥6 ॥

नाश्चर्यं जीर्णवयसो यज्जग्मुः पार्थिवा वनम् ।
अपत्येभ्यः श्रियं दत्त्वा भुक्तोच्छिष्टामिव स्रजम् ॥१२.७

(इसमें कुछ) आश्चर्य नही कि बूढ़े होनेपर राजा लोग अपनी सन्तानों को उपभोग की गई झूठी माला की तरह राज्य-लक्ष्मी सौंपकर वन गये हैं ॥7 ॥

इदं मे मतमाश्चर्यं नवे वयसि यद्भवान् ।
अभुक्त्वैव श्रियं प्राप्तः स्थितो विषयगोचरे ॥१२.८

इसे मैं आश्चर्य मानता हूँ कि आप, नई वयस में विषयों की गोचर-भूमि में रहते हुए, लक्ष्मी का उपभोग किए बिना ही आ गये हैं ॥8 ॥

तद्विज्ञातुमिमं धर्मं परमं भाजनं भवान् ।
ज्ञानप्लवमधिष्ठाय शीघ्रं दुःखार्णवं तर ॥१२.९

इसलिए इस परम धर्म को जानने के लिए आप उत्तम पात्र हैं; ज्ञानरूप नाव पर चढ़कर दु:खरूप सागर को शीघ्र पार कीजिए ॥9 ॥

शिष्ये यद्यपि विज्ञाते शास्त्रं कालेन वर्ण्यते ।
गाम्भीर्याद्व्यवसायाच्च न परीक्ष्यो भवान्मम ॥१२.१०

यद्यपि शिष्य को जानने के बाद समय पर शास्त्र बताया जाता है, किन्तु आपकी गम्भीरता व निश्चय के कारण मैं आपकी परीक्षा नही करूँगा" ॥10 ॥

इति वाक्यमराडस्य विज्ञाय स नरार्षभः ।
बभूव परमप्रीतः प्रोवाचोत्तरमेव च ॥१२.११

अराड की यह बात जानकर वह नर-श्रेष्ठ परम प्रसन्न हुआ और उत्तर दिया:— ॥11 ॥

विरक्तस्यापि यदिदं सौमुख्यं भवतः परम् ।
अकृतार्थोऽप्यनेनास्मि कृतार्थ इव सम्प्रति ॥१२.१२

"विरक्त होनेपर भी आपकी जो यह अत्यन्त अनुकूलता है, अकृतार्थ होनेपर भी मैं इससे इस समय कृतार्थ-सा हूँ ॥12 ॥

दिदृक्षुरिव हि ज्योतिर्यियासुरिव दैशिकम् ।
त्वद्दर्शनदहं मन्ये तितीर्षुरिव च प्लवम् ॥१२.१३

आपके दर्शन को मैं वैसा ही मान रहा हूँ, जैसा कि देखने की इच्छा करनेवला प्रकाश को, यात्रा की इच्छा करनेवाला (मार्ग) बतानेवाले को, और (नदी) पार करने की इच्छा करनेवाला नाव को मानता है ॥13 ॥

तस्मादर्हसि तद्वक्तुं वक्तव्यं यदि मन्यसे ।
जरामरणरोगेभ्यो यथायं परिमुच्यते ॥१२.१४

इसलिए यदि आप कहने योग्य समझें, तो आपको वह कहना चाहिए जिससे यह व्यक्ति जरा मरण व रोग से मुक्त हो जाय" ॥14 ॥

इत्यराडः कुमारस्य माहात्म्यादेव चोदितः ।
सङ्क्षिप्तं कथयांचक्रे स्वस्य शास्त्रस्य निश्चयम् ॥१२.१५

कुमार के माहात्म्य से ही प्रेरित होकर, अराड ने अपने शास्त्र का सङ्क्षिप्त निश्चय इस प्रकार कहा:— ॥15 ॥

श्रूयतामयमस्माकं सिद्धान्तः श्रृण्वतां वर ।
यथा भवति संसारो यथा चैव निवर्तते ॥१२.१६

"हे श्रोताओं मे श्रेष्ठ, हमारा यह सिद्धान्त सुनिये कि कैसे यह संसार प्रवृत्त होता है और कैसे निवृत्त होता है ॥16 ॥

प्रकृतिश्च विकारश्च जन्म मृत्युर्जरैव च ।
तत्तावत्सत्त्वमित्युक्तं स्थिरसत्त्व परेहि तत् ॥१२.१७

हे स्थिर-सत्त्व, इसे समझिये; प्रकृति, विकार, जन्म, जरा व मृत्यु को ही सत्त्व कहा गया है ॥17 ॥

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।
पञ्च भूतान्यहङ्कारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥१२.१८

हे प्रकृति को जाननेवाले, उसमें पाँच (महा-) भूतों, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्त को प्रकृति जानिये ॥18 ॥

विकार इति बुध्यस्व विषयानिन्द्रियाणि च ।
पाणिपादं च वादं च पायूपस्थं तथा मनः ॥१२.१९

विषयों, इन्द्रियों, हाथ-पाँव, वाणी, गुदा, जननेन्द्रिय व मन को विकार समझिये ॥19 ॥

अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात्क्षेत्रज्ञ इति सञ्ज्ञि च ।
क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः ॥१२.२०

और सञ्ज्ञावान् (=चेतनावान्, होशवाला) इस क्षेत्र को जानने के कारण क्षेत्रज्ञ है। और आत्मा की चिन्ता करनेवाले लोग आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥20 ॥

सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्ध इति स्मृतः ।
सपुत्रः प्रतिबुद्धस्तु प्रजापतिरिहोच्यते ॥१२.२१

और इस संसार में शिष्यों-सहित कपिल ज्ञानी स्मरण किया गया है, उसने पुत्रों सहित ज्ञान प्राप्त किया और वह इस संसार में प्रजापति कहा जाता है ॥21 ॥[50]

जायते जीर्यते चैव बाध्यते म्रियते च यत् ।
तद्व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विपर्ययात् ॥१२.२२

जो जन्म लेता है, बूढ़ा होता है, पीड़ित होता है और मरता है उसे व्यक्त समझना चाहिए और जो इसका विपरीत (उलटा) है उसे अव्यक्त समझना चाहिए ॥22 ॥

अज्ञानं कर्म तृष्णा च ज्ञेयाः संसारहेतवः ।
स्थितोऽस्मिंस्त्रितये जन्तुस्तत्सत्त्वं नातिवर्वते ॥१२.२३

अज्ञान, कर्म व तृष्णा संसार के कारण-स्वरूप हैं। इन तीनों गुणों में रहनेवाला प्राणी उस सत्त्व (=प्रकृति विकार जन्म जरा व मृत्यु) के पार नही जा सकता ॥23 ॥

विप्रत्ययादहङ्कारात्सन्देहादभिसम्प्लवात् ।
अविशेषानुपायाभ्यां सङ्गादभ्यवपाततः ॥१२.२४

विप्रत्यय, अहङ्कार, सन्देह अभिसम्प्लव, अविशेष, अनुपाय, सङ्ग और अभ्यवपात के कारण (प्राणी उस सत्त्व के पार नही जा सकता) ॥24 ॥

तत्र विप्रत्ययो नाम विपरीतं प्रवर्तते ।
अन्यथा कुरुते कार्यं मन्तव्यं मन्यतेऽन्यथा ॥१२.२५

उसमें विप्रत्यय (=अविश्वास, मिथ्या विश्वास) विपरीत आचरण करता है, जो करना है उसे अन्यथा करता है, जो विचारना है उसे अन्यथा विचारता है ॥25 ॥

ब्रवीम्यहमहं वेद्मि गच्छाम्यहमहं स्थितः ।
इतीहैवमहङ्कारस्त्वनहङ्कार वर्तते ॥१२.२६

हे अहङ्कार-रहित, मैं बोलता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं खड़ा हूँ, इस प्रकार इस संसार में अहङ्कार होता है ॥26 ॥

यस्तु भावानसन्दिग्धानेकीभावेन पश्यति ।
मृत्पिण्डवदसन्देह सन्देहः स इहोच्यते ॥१२.२७

हे सन्देह-रहित, जो परस्पर नही मिली हुई चीजों को मिट्टी के ढेले के समान एक (=ठोस) देखता है, वह इस संसार में सन्देह कहा जाता है ॥27 ॥

य एवाहं स एवेदं मनो बुद्धिश्च कर्म च ।
यश्चैवैष गणः सोऽहमिति यः सोऽभिसम्प्लवः ॥१२.२८

जो ही मैं हूँ वही यह मन बुद्धि कर्म है, और (मन बुद्धि व कर्म का) जो यह समूह है वहीं मैं हूँ, ऐसा जो है वह अभिसम्प्लव है ॥28 ॥

अविशेषं विशेषज्ञ प्रतिबुद्धाप्रबुद्धयोः ।
प्रकृतीनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृतः ॥१२.२९

हे विशेषज्ञ, जो ज्ञानी व अज्ञानी के बीच तथा प्रकृति के बीच अविशेष (=अभेद, भेद नही) जानता है वह अविशेष स्मरण किया गया है ॥29 ॥

---

[50]- "प्रतिबुद्धिरिति स्मृति:" के स्थान में "प्रतिबुद्ध इति स्मृत:" रक्खा गया है। यह एक दुर्बोध श्लोक है। इस दुर्बोधता का कारण पाठ-दोष ही जान पड़ता है। श्लोक-संख्या 29, 40 और 22 को देखते हुए, इसके तीसरे चरण में "प्रतिबुद्ध" की जगह "अप्रितबुद्ध" पढ़ना ठीक होगा। तब अर्थ यों हो—"और, इस संसार में शिष्यों-सहित कपिल ज्ञानी स्मरण किया गया है और पुत्रों सहित प्रजापति (भूतात्मा, मार) अज्ञानी कहा जाता है।"

नमस्कारवषट्कारौ प्रोक्षणाभ्युक्षणादयः ।

अनुपाय इति प्राज्ञैरुपायज्ञ प्रवेदितः ॥१२.३०

नमस्कार, वषट्कार (=आहुति), सिञ्चन-आदि को, हे उपायज्ञ, बुद्धिमानों ने अनुपाय (=अनुचित उपाय) बताया है ॥30 ॥

सज्जते येन दुर्मेधा मनोवाग्बुद्धिकर्मभिः ।

विषयेष्वनभिष्वङ्ग सोऽभिष्वङ्ग इति स्मृतः ॥१२.३१

जिससे दुर्बुद्धि पुरुष मन वाणी बुद्धि व कर्म द्वारा विषयों में आसक्त होता है, वह, हे आसक्ति-रहित, सङ्ग (=आसक्ति) स्मरण किया गया है ॥31 ॥

ममेदमहमस्येति यद्दुःखमभिमन्यते ।

विज्ञेयोऽभ्यवपातः स संसारे येन पात्यते ॥१२.३२

"मेरा यह है, मैं इसका हूँ" इस दुःख के अभिमान को अभ्यवपात जानना चाहिए जिसके द्वारा संसार में पतन होता है ॥32 ॥

इत्यविद्या हि विद्वांसः पञ्चपर्वा समीहते ।

तमो मोहं महामोहं तामिस्रद्वयमेव च ॥१२.३३

वह विद्वान् कहता है कि अविद्या पाँच पर्वों (=ग्रन्थियों) की होती है—तम, मोह, महामोह, और तामिस्र ॥33 ॥

तत्रालस्यं तमो विद्धि मोहं मृत्युं च जन्म च ।

महामोहस्त्वसम्मोह काम इत्येव गम्यताम् ॥१२.३४

उनमें आलस्य को तम, जन्म व मृत्यु को मोह जानिये। हे मोह-रहित, काम ही महामोह है, ऐसा समझिये ॥34 ॥

यस्मादत्र च भूतानि प्रमुह्यन्ति महान्त्यपि ।

तस्मादेष महाबाहो महामोह इति स्मृतः ॥१२.३५

जिस कारण इस (काम) में बड़े-बड़े प्राणी भी मूढ़ हो जाते हैं, इस कारण हे महाबाहो, यह महामोह स्मरण किया गया है ॥35 ॥

तामिस्रमिति चाक्रोध क्रोधमेवाधिकुर्वते ।

विषादं चान्धतामिस्रमविषाद प्रचक्षते ॥१२.३६

हे क्रोध-रहित, क्रोध को तामिस्र कहते हैं और हे विषाद-रहित, विषाद को अन्ध-तामिस्र कहते हैं ॥36 ॥

अनयाविद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया ।

संसारे दुःखभूयिष्ठे जन्मस्वभिनिषिच्यते ॥१२.३७

पाँच पर्वोंवाली इस अविद्या से युक्त होकर मूर्ख मनुष्य दुःख-बहुल संसार में बार-बार जन्म लेता है ॥37 ॥

द्रष्टा श्रोता च मन्ता च कार्यकरणमेव च ।

अहमित्येवमागम्य संसारे परिवर्तते ॥१२.३८

"द्दष्टा श्रोता चिन्तक व कार्य का साधक मैं ही हूँ" ऐसा समझकर वह संसार में भटकता है ॥38 ॥

इहैभिर्हेतुभिर्धीमन् जन्मःस्रोतः प्रवर्तते ।

हेत्वभावात्फलाभाव इति विज्ञातुमर्हसि ॥१२.३९

इस संसार में इन कारणों से, हे धीमन्, जन्म को सोता चलता रहता है। कारण नही होने से फल नही हो सकता, ऐसा आपको जानना चाहिए ॥39 ॥

तत्र सम्यङ्मतिर्विद्यान्मोक्षकाम चतुष्टयम् ।

प्रतिबुद्धाप्रबुद्धौ च व्यक्तमव्यक्तमेव च ॥१२.४०

इसमें, हे मोक्ष के इच्छुक, सम्यक् बुद्धिवाले को (यह) चार जानना चाहिए—ज्ञानी-अज्ञानी और व्यक्त-अव्यक्त ॥40 ॥

यथावदेतद्विज्ञाय क्षेत्रज्ञो हि चतुष्टयम् ।

आजवंजवतां हित्वा प्राप्नोति पदमक्षरम् ॥१२.४१

इन चारों को ठीक ठीक जानकर क्षेत्रज्ञ जन्म-मरण की वेगवती धारा को छोड़ देता है और अविनाशी पद प्राप्त करता है ॥41 ॥

इत्यर्थं ब्राह्मणा लोके परमब्रह्मवादिनः ।

ब्रह्मचर्यं चरन्तीह ब्राह्मणान्वासयन्ति च ॥१२.४२

इसके लिए संसार में परमब्रह्म-वादी ब्राह्मण ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं और ब्राह्मणों को इसकी शिक्षा देते हैं" ॥42 ॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा मुनेस्तस्य नृपात्मजः ।

अभ्युपायं च पप्रच्छ पदमेव च नैष्ठिकम् ॥१२.४३

उस मुनि की यह बात सुनकर राजा के पुत्र ने उपाय और नैष्ठिक पद के बारे में पूछाः— ॥43 ॥

ब्रह्मचर्यमिदं चर्य यथा यावच्च यत्र च ।

धर्मस्यास्य च पर्यन्तं भवान्व्याख्यातुमर्हति ॥१२.४४

"इस ब्रह्मचर्य का आचरण जैसे जितना और जहाँ करना चाहिए, और इस धर्म का जो अन्त है उसकी आप व्याख्या कीजिए।" ॥44 ॥

इत्यराडो यथाशास्त्रं विस्पष्टार्थं समासतः ।

तमेवान्येन कल्पेन धर्ममस्मै व्यभाषत ॥१२.४५

अराड ने शास्त्रानुसार उसी धर्म को उसके लिए अन्य तरीके से सङ्क्षेप में स्पष्ट शब्दों में कहाः— ॥45 ॥

अयमादौ गृहान्मुक्त्वा भैक्षाकं लिङ्गमाश्रितः ।

समुदाचारविस्तीर्णं शीलमादाय वर्तते ॥१२.४६

"आरम्भ में घर छोड़कर वह भिक्षु-वेष धारण करता है और सदाचार-व्यापी शील ग्रहण करता है ॥46 ॥

सन्तोषं परमास्थाय येन तेन यतस्ततः ।

विविक्तं सेवते वासं निर्द्वन्द्वः शास्त्रवित्कृती ॥१२.४७

जहाँ-तहाँ से जो कुछ मिल जाता है उसी से परम सन्तोष पाकर वह निर्द्वन्द्व शास्त्रज्ञ व बुद्धिमान् एकान्त निवास का सेवन करता है ॥47 ॥

ततो रागाद्भयं दृष्ट्वा वैराग्याच्च परं शिवम् ।

निगृह्णन्निन्द्रियग्रामं यतते मनसः श्रमे ॥१२.४८

तब राग से भय की (उत्पत्ति) और वैराग्य से परम कल्याण की (उत्पत्ति) देखकर इन्द्रिय-समूह का निग्रह करता हुआ वह मानसिक शान्ति के लिए यत्न करता है ॥48 ॥

अथो विविक्तं कामेभ्यो व्यापादादिभ्य एव च ।

विवेकजमवाप्नोति पूर्वध्यानं वितर्कवत् ॥१२.४९

तब वह काम व व्यापद (=पर-द्रोह-चिन्तन, क्रोध) आदि से रहित, विवेक-जन्य और वितर्क-युक्त पूर्व ध्यान प्राप्त करता है ॥49 ॥

तच्च ध्यानसुखं प्राप्य तत्तदेव वितर्कयन् ।

अपूर्वसुखलाभेन ह्रियते बालिशो जनः ॥१२.५०

और उस ध्यान-सुख को पाकर, उसी की चिन्ता करता हुआ, मूर्ख आदमी अपूर्व सुख की प्राप्ति द्वारा अपहृत (पथभ्रष्ट) होता है ॥50 ॥

शमेनैवंविधेनायं कामद्वेषविगर्हिणा ।

ब्रह्मलोकमवाप्नोति परितोषेण वञ्चितः ॥१२.५१

काम-द्वेष-विरोधिनी ऐसी शान्ति द्वारा वह सन्तुष्ट होकर ब्रह्म-लोक प्राप्त करता है ॥51 ॥[51]

ज्ञात्वा विद्वान्वितर्कांस्तु मनःसङ्क्षोभकारकान् ।

तद्वियुक्तमवाप्नोति ध्यानं प्रीतिसुखान्वितम् ॥१२.५२

किन्तु वितर्क (=विचार) मन को क्षुब्ध करते हैं, ऐसा जानकर विद्वान् उन (वितर्कों) से वियुक्त और प्रीति-सुख से युक्त ध्यान प्राप्त करता है ॥52 ॥

ह्रियमाणस्तया प्रीत्या यो विशेषं न पश्यति ।

स्थानं भास्वरमाप्नोति देवेष्वाभास्वरेषु सः ॥१२.५३

उस प्रीति द्वारा हरण किया जाता हुआ जो विशेष को नही देखता है वह, आभास्वर देवों के बीच भास्वर (=उज्ज्वल) स्थान प्राप्त करता है ॥53 ॥

यस्तु प्रीतिसुखात्तस्माद्विवेचयति मानसम् ।

तृतीयं लभते ध्यानं सुखं प्रीतिविवर्जितम् ॥१२.५४

जो उस प्रीति-सुख (प्रीति के सुख से) अपने मन को अलग करता है वह, सुखमय, किन्तु प्रीति-रहित तृतीय ध्यान प्राप्त करता है ॥54 ॥

यस्तु तस्मिन्सुखे मग्नो न विशेषाय यत्नवान् ।

शुभकृत्स्नैः स सामान्यं सुखं प्राप्नोति दैवतैः ॥१२.५५

जो उस सुख में मग्न होकर विशेष के लिए यत्न नही करता हे वह शुभकृत्स्न देवताओं के साथ सामान्य सुख प्राप्त करता है ॥55 ॥

तादृशं सुखमासाद्य यो न रज्यत्युपेक्षकः ।

चतुर्थं ध्यानमाप्नोति सुखदुःखविवर्जितम् ॥१२.५६

वैसा सुख पाकर जो अनुरक्त नही होता है, उदासीन रहता है, वह सुख-दुःख से रहित चतुर्थ ध्यान प्राप्त करता है ॥56 ॥

तत्र केचिद्व्यवस्यन्ति मोक्ष इत्यभिमानिनः ।

सुखदुःखपरित्यागादव्यापाराच्च चेतसः ॥१२.५७

उसमें सुख-दुःख का परित्याग होने से और चित्त का व्यापार नही होने से कुछ अभिमानी निश्चय करते हैं कि मोक्ष यही है ॥57 ॥

अस्य ध्यानस्य तु फलं समं देवैर्बृहत्फलैः ।

कथयन्ति बृहत्कालं बृहत्प्रज्ञापरीक्षकाः ॥१२.५८

ब्रह्म-ज्ञान के परीक्षक कहते हैं कि इस ध्यान का फल बृहत्फल देवों के साथ दीर्घ कालतक रहता है ॥58 ॥

समाधेर्व्युत्थितस्तस्माद्दृष्ट्वा दोषांश्छरीरिणाम् ।

ज्ञानमारोहति प्राज्ञः शरीरविनिवृत्तये ॥१२.५९

उस समाधि से उठकर, शरीर-धारियों के दोष देखकर बुद्धिमान् पुरुष शरीर-निवृत्ति के लिए ज्ञान (-मार्ग) पर आरूढ़ होता है ॥59 ॥

ततस्तद्ध्यानमुत्सृज्य विशेषे कृतनिश्चयः ।

कामेभ्य इव स प्राज्ञो रूपादपि विरज्यते ॥१२.६०

तब उस ध्यान को छोड़कर, विशेष के लिए निश्चय कर बुद्धिमान् (पुरुष) काम की तरह रूप से भी विरक्त होता है ॥60 ॥

शरीरे खानि यान्यस्मिन्तान्यादौ परिकल्पयन् ।

घनेष्वपि ततो द्रव्येष्वाकाशमधिमुच्यते ॥१२.६१

[51]- = **"वञ्चित" के स्थान में "सज्जित:" या "युक्त" बोधक कोई दूसरा शब्द होगा ।**

इस शरीर में जो शून्य स्थान हैं पहले उनकी कल्पना करता है, तब (इसके) ठोस पदार्थों को भी शून्य समझता है ॥61 ॥

आकाशगतमात्मानं सङ्क्षिप्य त्वपरो बुधः ।

तदेवानन्ततः पश्यन्विशेषमधिगच्छति ॥१२.६२

दूसरा बुद्धिमान् पुरुष आकाश में स्थित अपने को (या आकाश में व्याप्त आत्मा को) सङ्क्षिप्त (=सङ्कुचित) कर, उसी को अनन्त की तरह देखता हुआ विशेष को प्राप्त करता है ॥62 ॥

अध्यात्मकुशलस्त्वन्यो निवर्त्यात्मानमात्मना ।

किञ्चिन्नास्तीति सम्पश्यन्नाकिञ्चन्य इति स्मृतः ॥१२.६३

अध्यात्म-कुशल दूसरा पुरुष आत्मा द्वारा आत्मा को निवृत्त कर "कुछ भी नही है" ऐसा देखता हुआ आङ्किचन्य (=अङ्किचन ?) स्मरण किया गया है ॥63 ॥

ततो मुञ्जादिषीकेव शकुनिः पञ्जरादिव ।

क्षेत्रज्ञो निःसृतो देहान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥१२.६४

तब मुञ्ज से (निकली) सींक के समान, पिंजड़े से (निकले) पक्षी के समान, देह से निकला हुआ क्षेत्रज्ञ मुक्त कहा जाता है ॥64 ॥

एतत्तत्परमं ब्रह्म निर्लिङ्गं ध्रुवमक्षरम् ।

यन्मोक्ष इति तत्त्वज्ञाः कथयन्ति मनीषिणः ॥१२.६५

यह परम ब्रह्म है, चिह्न-रहित, ध्रुव और अविनाशी है, जिसे तत्त्वज्ञ मनीषी मोक्ष कहते हैं ॥65 ॥

इत्युपायश्च मोक्षश्च मया सन्दर्शितस्तव ।

यदि ज्ञातं यदि रुचिर्यथावत्प्रतिपद्यताम् ॥१२.६६

इस तरह मोक्ष और उपाय मैंने आपको बतला दिये हैं; यदि इसे समझा और यदि रुचि हो, तो उचित रीति से इसे प्राप्त कीजिए ॥66 ॥

जैगीषव्योऽथ जनको वृद्धश्चैव पराशरः ।

इमं पन्थानमासाद्य मुक्ता ह्यन्ये च मोक्षिणः ॥१२.६७

जैगीषव्य, जनक, वृद्ध पराशर और दूसरे मोक्षवाले इस मार्ग से चलकर मुक्त हुए" ॥67 ॥

इति तस्य स तद्वाक्यं गृहीत्वा तु विचार्य च ।

पूर्वहेतुबलप्राप्तः प्रत्युत्तरमुवाच ह ॥१२.६८

उसका यह वचन सुनकर और विचार करके पूर्व जन्मों के हेतु-बल (=तीन कुशल-मूलों की शक्ति) से युक्त कुमार ने उत्तर दिया:— ॥68 ॥

श्रुतं ज्ञानमिदं सूक्ष्मं परतः परतः शिवम् ।

क्षेत्रज्ञस्यापरित्यागादवैम्येतदनैष्ठिकम् ॥१२.६९

"यह सूक्ष्म ज्ञान सुना, जो उत्तरोत्तर कल्याण-कारी होता गया है। क्षेत्रज्ञ का परित्याग नही होने से इसे मैं नैष्ठिक नही समझता हूँ ॥69 ॥

विकारप्रकृतिभ्यो हि क्षेत्रज्ञं मुक्तमप्यहम् ।

मन्ये प्रसवधर्माणं बीजधर्माणमेव च ॥१२.७०

विकार और प्रकृति से युक्त होनेपर भी क्षेत्रज्ञ में उत्पत्ति करने का धर्म (=गुण, स्वभाव) और बीज होने का धर्म रहता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥70 ॥

विशुद्धो यद्यपि ह्यात्मा निर्मुक्त इति कल्प्यते ।

भूयः प्रत्ययसद्भावादमुक्तः स भविष्यति ॥१२.७१

यद्यपि विशुद्ध आत्मा मुक्त समझा जाता है, प्रत्ययों (कारणों) के विद्यमान होने से वह फिर अमुक्त (=बद्ध) हो जायगा ॥71 ॥

ऋतुभूम्यम्बुविरहाद्यथा बीजं न रोहति ।

रोहति प्रत्ययैस्तैस्तैस्तद्वत्सोऽपि मतो मम ॥१२.७२

जैसे ऋतु भूमि व जल के अभाव से बीज अङ्कुरित नही होता है और उन उन प्रत्ययों के होने से अङ्कुरित होता है, वैसे ही मैं उसे भी मानता हूँ ॥72 ॥

यत्कर्माज्ञानतृष्णानां त्यागान्मोक्षश्च कल्प्यते ।

अत्यन्तस्तत्परित्यागः सत्यात्मनि न विद्यते ॥१२.७३

यह कि कर्म अज्ञान व तृष्णा के त्याग से मोक्ष पाने की कल्पना की जाती है, सो आत्मा के रहनेपर उसका अत्यन्त (=सम्पूर्ण) त्याग नही हो सकता ॥73 ॥

हित्वा हित्वा त्रयमिदं विशेषस्तूपलभ्यते ।

आत्मनस्तु स्थितिर्यत्र तत्र सूक्ष्ममिदं त्रयम् ॥१२.७४

इन तीनों को धीरे-धीरे छोड़ने से विशेष की प्राप्ति होती है, किन्तु जहाँ आत्मा की स्थिति है वहाँ ये तीनों सूक्ष्म रूप में रहते ही हैं ॥74 ॥

सूक्ष्मत्वाच्चैव दोषाणामव्यापाराच्च चेतसः ।

दीर्घत्वादायुषश्चैव मोक्षस्तु परिकल्प्यते ॥१२.७५

दोषों के सूक्ष्म होने से, चित्त का व्यापार नही होने से, और (उस अवस्था में) आयु लम्बी होने से मोक्ष की (केवल) कल्पना कर ली जाती है ॥75 ॥

अहङ्कारपरित्यागो यश्चैष परिकल्प्यते ।

सत्यात्मनि परित्यागो नाहङ्कारस्य विद्यते ॥१२.७६

और अहङ्कार-परित्याग की जो यह कल्पना की जाती है, सो आत्मा के रहनेपर अहङ्कार का परित्याग नही हो सकता ॥76 ॥

सङ्ख्यादिभिरमुक्तश्च निर्गुणो न भवत्ययम् ।
तस्मादसति नैर्गुण्ये नास्य मोक्षोऽभिधीयते ॥१२.७७

और सङ्ख्या आदि से मुक्त नही होनेपर वह (=आत्मा) निर्गुण नही होता है, इसलिए निर्गुण न होनेपर इसे मोक्ष हुआ, ऐसा नहीं कह सकते ॥77 ॥

गुणिनो हि गुणानां च व्यतिरेको न विद्यते ।
रूपोष्णाभ्यां विरहितो न ह्यग्निरुपलभ्यते ॥१२.७८

गुणी व गुण जुदा-जुदा नही रह सकते। रूप व गर्मी से रहित अग्नि नही पाई जाती ॥78 ॥

प्राग्देहान्न भवेद्देही प्राग्गुणेभ्यस्तथा गुणी ।
तस्मादादौ विमुक्तः सन् शरीरी बध्यते पुनः ॥१२.७९

देह से पूर्व देही नही, उसी तरह गुणों से पूर्व गुणी नही, इसलिए शुरु में मुक्त होनेपर भी शरीरी (=आत्मा) फिर (शरीर में) बद्ध होता है ॥79 ॥

क्षेत्रज्ञो विशरीरश्च ज्ञो वा स्यादज्ञ एव वा ।
यदि ज्ञो ज्ञेयमस्यास्ति ज्ञेये सति न मुच्यते ॥१२.८०

और शरीर-रहित क्षेत्रज्ञ ज्ञ (=जाननेवाला) या अज्ञ है। यदि ज्ञ है, तो इसके लिए ज्ञेय (जानने को शेष) है और ज्ञेय होनेपर यह मुक्त नही हैं ॥80 ॥

अथाज्ञ इति सिद्धो वः कल्पितेन किमात्मना ।
विनापि ह्यात्मनाज्ञानं प्रसिद्धं काष्ठकुड्यवत् ॥१२.८१

यदि आपके अनुसार अज्ञ साबित होता है, तो आत्मा की कल्पना करने से क्या (प्रयोजन)? आत्मा के बिना भी अज्ञान (का अस्तित्व) काठ व दीवार के समान सिद्ध है ॥81 ॥

परतः परतस्त्यागो यस्मात्तु गुणवान् स्मृतः ।
तस्मात्सर्वपरित्यागान्मन्ये कृत्स्नां कृतार्थताम् ॥१२.८२

क्योंकि एक एक करके त्याग करना गुणवान स्मरण किया गया है, इसलिए सर्व-त्याग से पूर्ण कृतार्थता होती है, ऐसा मैं मानता हूँ" ॥82 ॥

इति धर्ममराडस्य विदित्वा न तुतोष सः ।
अकृत्स्नमिति विज्ञाय ततः प्रतिजगाम ह ॥१२.८३

अराड का यह धर्म जानकर वह सन्तुष्ट नही हुआ, यह (धर्म) अपूर्ण है ऐसा जानकर वहाँ से चला गया ॥83 ॥

विशेषमथ शुश्रूषुरुद्रकस्याश्रमं ययौ ।
आत्मग्राहाच्च तस्यापि जगृहे न स दर्शनम् ॥१२.८४

तब विशेष सुनने की इच्छा से वह उद्रक के आश्रम में गया और आत्मा (के सिद्धान्त) को मानने के कारण उसका भी दर्शन उसने ग्रहण नही किया ॥84 ॥

सञ्ज्ञासञ्ज्ञित्वयोर्दोषं ज्ञात्वा हि मुनिरुद्रकः ।
आकिञ्चिन्यात्परं लेभेऽसञ्ज्ञासञ्ज्ञात्मिकां गतिम् ॥१२.८५

सञ्ज्ञा (=चेतना) व असञ्ज्ञा (=अचेतना) का दोष जानकर उद्रक मुनि ने अङ्किचनता से परे सञ्ज्ञा असञ्ज्ञा-रहित मार्ग को प्राप्त किया ॥85 ॥

यस्माच्चालम्बने सूक्ष्मे सञ्ज्ञासञ्ज्ञे ततः परम् ।
नासञ्ज्ञी नैव सञ्ज्ञीति तस्मात्तत्रगतस्पृहः ॥१२.८६

क्योंकि सूक्ष्म सञ्ज्ञा-असञ्ज्ञा भी आलम्बन (=मानसिक या शारीरिक कर्म का आधार) है, उस (सूक्ष्म सञ्ज्ञा-असञ्ज्ञा) से परे न असञ्ज्ञा-युक्त और न सञ्ज्ञा-युक्त अवस्था है, इसलिए वह (उद्रक) उस (अवस्था) का अभिलाषी हुआ ॥86 ॥

यतश्च बुद्धिस्तत्रैव स्थितान्यत्राप्रचारिणी ।
सूक्ष्मापाट्वी ततस्तत्र नासञ्ज्ञित्वं न सञ्ज्ञिता ॥१२.८७

और क्योंकि बुद्धि सूक्ष्म व अपटु (=कर्म रहित) होकर वहाँ रहती है, अन्यत्र नही जाती; इसलिए वहाँ न असञ्ज्ञा है, न सञ्ज्ञा ॥87 ॥

यस्माच्च तदपि प्राप्य पुनरावर्तते जगत् ।
बोधिसत्त्वः परं प्रेप्सुस्तस्मादुद्रकमत्यजत् ॥१२.८८

और क्योंकि उसे भी प्राप्त कर आदमी फिर संसार में लौट आता है, इसलिए परम पद पाने के इच्छुक बोधिसत्त्व ने उद्रक का त्याग किया ॥88 ॥

ततो हित्वाश्रमं तस्य श्रेयोऽर्थी कृतनिश्चयः ।
भेजे गयस्य राजर्षेर्नगरीसञ्ज्ञमाश्रमम् ॥१२.८९

तब श्रेय पाने की इच्छा से निश्चय कर, उसका आश्रम छोड़, उसने राजर्षि गय के नगरी नामक आश्रम का सेवन किया ॥89 ॥

अथ नैरञ्जनातीरे शुचौ शुचिपराक्रमः ।
चकार वासमेकान्तविहाराभिरतिर्मुनिः ॥१२.९०

तब पवित्र पराक्रमवाले, एकान्त-विहार में आनन्द पानेवाले उस मुनि ने नैरञ्जना नदी के पवित्र तीर पर निवास किया ॥90 ॥

(आगतान् तत्र) तत्पूर्वं पञ्चेन्द्रियवशोद्धतान् ।
तपः (-प्रवृत्तान्) व्रतिनो भिक्षून् पञ्च निरैक्षत ॥१२.९१

अपने से पहले ही वहाँ आये हुए पाँच भिक्षुओं को देखा; वे तपस्वी और व्रती थे, पाँच इन्द्रियों को वश करने के अभिमानी थे ॥91 ॥

ते चोपतस्थुर्दृष्ट्वात्र भिक्षवस्तं मुमुक्षवः ।
पुण्यार्जितधनारोग्यमिन्द्रियार्था इवेश्वरम् ॥१२.९२

उसे वहाँ देखकर मोक्ष चाहनेवाले भिक्षु उसकी सेवा में उपस्थित हुए, जैसे इन्द्रिय-विषय उस ऐश्वर्यशाली की सेवा में उपस्थित होते हैं जिसने अपने पुण्यों से धन व आरोग्य अर्जित किये हों ॥92 ॥

सम्पूज्यमानस्तैः प्रह्वैर्विनयादनुवर्तिभिः ।
तद्वशस्थायिभिः शिष्यैर्लोलैर्मन इवेन्द्रियैः ॥१२.९३

अपने वश में रहनेवाले उन शिष्यों द्वारा, जो विनयी होने के कारण नम्र व आज्ञा-कारी थे, वह वैसे ही पूजित हुआ, जैसे चञ्चल इन्द्रियों से चित्त पूजित (=सेवित) होता है ॥93 ॥

मृत्युजन्मान्तकरणे स्यादुपायोऽयमित्यथ ।
दुष्कराणि समारेभे तपांस्यनशनेन सः ॥१२.९४

तब उसने उपवास-द्वारा दुष्कर तप शुरू किये, यह सोचते हुए कि मृत्यु व जन्म का अन्त करने में यह उपाय होगा ॥94 ॥

उपवासविधीन्नैकान् कुर्वन्नरदुराचरान् ।
वर्षाणि षट् शमप्रेप्सुरकरोत्कार्श्यमात्मनः ॥१२.९५

भाँति-भाँति के उपवास, जो मनुष्य के लिए दुष्कर हैं; छः वर्षों तक करते हुए, शम प्राप्त करने की इच्छा से उसने अपने को कृश बनाया ॥95 ॥

अन्नकालेषु चैकैकैः स कोलतिलतण्डुलैः ।
अपारपारसंसारपारं प्रेप्सुरपारयत् ॥१२.९६

अपार-पार संसार का पार पाने की इच्छा से भोजन के समय एक एक बेर तिल व चावल से उसने पारण किया ॥96 ॥

देहादपचयस्तेन तपसा तस्य यः कृतः ।
स एवोपचयो भूयस्तेजसास्य कृतोऽभवत् ॥१२.९७

उस तप द्वारा उसके शरीर से जितना ही क्षय हुआ, फिर तेज द्वारा उसकी उतनी ही वृद्धि हुई ॥97 ॥

कृशोऽप्यकृशकीर्तिश्रीर्ह्लादं चक्रेऽन्यचक्षुषाम् ।
कुमुदानामिव शरच्छुक्लपक्षादिचन्द्रमाः ॥१२.९८

(शरीर से) क्षीण होनेपर भी उसकी श्री और कीर्ति क्षीण नही हुई और दूसरों की आँखों को उसने वैसे ही आनन्दित किया, जैसे शरद ऋतु के शुक्ल-पक्ष के आरम्भी का चन्द्रमा कुमुदों को आनन्दित करता है ॥98 ॥

त्वगस्थिशेषो निःशेषैर्मेदःपिशितशोणितैः ।
क्षीणोऽप्यक्षीणगाम्भीर्यः समुद्र इव स व्यभात् ॥१२.९९

उसकी त्वचा व हड्डियाँ शेष रह गईं, मेद-मांस व शोणित निःशेष हो गये; इस तरह क्षीण होनेपर भी वह अक्षीण-गाम्भीर्य (=जिसकी गम्भीरता क्षीण नही हुई) समुद्र के समान शोभित हुआ ॥99 ॥

अथ कष्टतपःस्पष्टव्यर्थक्लिष्टतनुर्मुनिः ।
भवभीरुरिमां चक्रे बुद्धिं बुद्धत्वकाङ्क्षया ॥१२.१००

तब कठोर-तप द्वारा, स्पष्ट ही, शरीर को व्यर्थ क्लेश देकर, जन्म से डरनेवाले मुनि ने बुद्धत्व (पाने) की आकाङ्क्षा से यह विचार किया:– ॥100 ॥

नायं धर्मो विरागाय न बोधाय न मुक्तये ।
जम्बुमूले मया प्राप्तो यस्तदा स विधिर्ध्रुवः ॥१२.१०१

"इस धर्म से न विराग होगा, न बोध, न मुक्ति। उस समय जम्बु-वृक्ष के मूल में मैंने जो विधि प्राप्त की थी वही ध्रुव है ॥101 ॥

न चासौ दुर्बलेनाप्तुं शक्यमित्यागतादरः ।
शरीरबलवृद्ध्यर्थमिदं भूयोऽन्वचिन्तयत् ॥१२.१०२

दुर्बल उसे प्राप्त नही कर सकता", (शरीर के प्रति) ऐसा आदर होनेपर शरीर-बल की वृद्धि के लिए उसने फिर यह सोचा:– ॥102 ॥

क्षुत्पिपासाश्रमक्लान्तः श्रमादस्वस्थमानसः ।
प्राप्नुयान्मनसावाप्यं फलं कथमनिर्वृतः ॥ १२.१०३

"जो भूख प्यास व थकावट से ग्रस्त है, थकावट से अस्वस्थचित्त है अ-सुखी है, वह मन से प्राप्त होनेवाला फल कैसे पायेगा? ॥103 ॥

निर्वृतिः प्राप्यते सम्यक् सततेन्द्रियतर्पणात् ।
सन्तर्पितेन्द्रियतया मनःस्वास्थ्यमवाप्यते ॥१२.१०४

इन्द्रियों को निरन्तर तृप्त करने से सुख ठीक-ठीक प्राप्त होता है; इन्द्रियों को अच्छी तरह से तृप्त करने से मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है ॥104 ॥

स्वस्थप्रसन्नमनसः समाधिरुपपद्यते ।
समाधियुक्तचित्तस्य ध्यानयोगः प्रवर्तते ॥१२.१०५

जिसका मन स्वस्थ व प्रसन्न है उसे समाधि सिद्ध होती है, जिसका चित्त समाधि से युक्त है उसे ध्यान-योग होता है ॥105 ॥

ध्यानप्रवर्तनाद्धर्माः प्राप्यन्ते यैरवाप्यते ।
दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम् ॥१२.१०६

ध्यान होने से धर्म प्राप्त होते हैं, जिनसे वह परम पद प्राप्त होता है जो दुर्लभ, शान्त, अजर और अमर है ॥106 ॥

तस्मादाहारमूलोऽयमुपाय इतिनिश्चयः ।
आहारकरणे धीरः कृत्वामितमतिर्मतिम् ॥१२.१०७

इसलिए, यह उपाय आहार-मूलक है", ऐसा निश्चय कर अपरिमित बुद्धिवाले उस धीर ने भोजन करने का विचार किया ॥107 ॥

स्नातो नैरञ्जनातीरादुत्ततार शनैः कृशः ।

भक्त्यावनतशाखाग्रैर्दत्तहस्तस्तटद्रुमैः ॥१२.१०८

स्नान कर, वह कृश-तनु-नैरञ्जना नदी के तीर से धीरे-धीरे ऊपर चढ़ा; उस समय शाखाओं के अग्रभागों को भक्तिपूर्वक झुकाकर तटवर्ती वृक्षों ने हाथ (=सहारा) दिया ॥108 ॥

अथ गोपाधिपसुता दैवतैरभिचोदिता ।

उद्भूतहृदयानन्दा तत्र नन्दबलागमत् ॥१२.१०९

तब देवताओं से प्रेरित होकर गोप-राज की पुत्री नन्दबला आनन्दित हृदय से वहाँ गई ॥109 ॥

सितशङ्खोज्ज्वलभुजा नीलकम्बलवासिनी ।

सफेनमालानीलाम्बुर्यमुनेव सरिद्वरा ॥१२.११०

उसकी भुजाएँ श्वेत शङ्खों से उज्जवल थीं, वह नीला वस्त्र पहने हुई थी, जैसे फेन-मालाओं से युक्त नील जलवाली सरिता-श्रेष्ठ यमुना (उपस्थित हुई) हो ॥110 ॥

सा श्रद्धावर्धितप्रीतिर्विकसल्लोचनोत्पला ।

शिरसा प्रणिपत्यैनं ग्राहयामास पायसम् ॥१२.१११

श्रद्धा से उसकी प्रीति बढ़ी, नेत्ररूप उत्पल विकसित हुए। शिर से प्रणाम कर उस (मुनि) के द्वारा उसने पायस ग्रहण कराया ॥111 ॥

कृत्वा तदुपभोगेन प्राप्तजन्मफलां स ताम् ।

बोधिप्राप्तौ समर्थोऽभूत्सन्तर्पितषडिन्द्रियः ॥१२.११२

उस (पायस) का उपभोग कर उसने उस (कन्या) का जन्म सफल किया और छः इन्द्रियों को अच्छी तरह तृप्त कर बोधि-प्राप्ति में समर्थ हुआ ॥112 ॥

पर्याप्ताप्यानमूर्तिश्च सार्धं स्वयशसा मुनिः ।

कान्तिधैर्ये बभारैकः शशाङ्कार्णवयोर्द्वयोः ॥१२.११३

अपने यश के साथ वह मुनि शरीर से पर्याप्त वृद्धि को प्राप्त हुआ। उस एक ने ही चन्द्रमा और सागर दोनों की (क्रमशः) क्रान्ति व धैर्य धारण किये ॥113 ॥

आवृत्त इति विज्ञाय तं जहुः पञ्च भिक्षवः ।

मनीषिणमिवात्मानं निर्मुक्तं पञ्च धातवः ॥१२.११४

वह (धर्म से) निवृत्त हो गया, ऐसा जानकर पाँचों भिक्षुओं ने उसे छोड़ दिया, जैसे मुक्त हुए मनीषी आत्मा को पाँचों धातु छोड़ देते हैं ॥114 ॥

व्यवसायद्वितीयोऽथ शाद्वलास्तीर्णभूतलम् ।

सोऽश्वत्थमूलं प्रययौ बोधाय कृतनिश्चयः ॥१२.११५

तब बुद्धत्व के लिए निश्चय कर, (अपने एकमात्र साथी) निश्चय के साथ वह पीपल वृक्ष के नीचे गया, जहाँ की भूमि हरे तृणों से ढकी थी ॥115 ॥

ततस्तदानीं गजराजविक्रमः पदस्वनेनानुपमेन बोधितः ।

महामुनेरागतबोधिनिश्चयो जगाद कालो भुजगोत्तमः स्तुतिम् ॥१२.११६

तब उस समय काल नामक उत्तम सर्प, जो गजराज के समान पराक्रमी था, अनुपम पद-ध्वनि द्वारा जगाया गया; बोधि (-प्राप्ति) के लिए निश्चय किया है, ऐसा जानकर उनसे महामुनि की स्तुति की:— ॥116 ॥

यथा मुने त्वच्चरणावपीडिता मुहुर्मुहुर्निष्टनतीव मेदिनी ।

यथा च ते राजति सूर्यवत्प्रभा ध्रुवं त्वमिष्टं फलमद्य भोक्ष्यसे ॥१२.११७

"हे मुनि, आपके चरणों से पीड़ित होकर जिस प्रकार पृथ्वी मानो बार-बार गरज रही है और जिस प्रकार आपकी प्रभा सूर्य के समान चमक नही है, अवश्य ही आज आप इच्छित फल भोगेंगे ॥117 ॥

यथा भ्रमन्त्यो दिवि चाषपङ्क्तयः प्रदक्षिणं त्वां कमलाक्ष कुर्वते ।

यथा च सौम्या दिवि वान्ति वायवस्त्वमद्य बुद्धो नियतं भविष्यसि ॥१२.११८

हे कमल-लोचन, जिस प्रकार आकाश में मँड़राते हुए चाप (=नीलकण्ठ) पक्षिओं के झुण्ड आपकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं और जिस प्रकार आकाश में सुन्दर हवा बह रही है, अवश्य ही आज आप बुद्ध होंगे" ॥118 ॥

ततो भुजङ्गप्रवरेण संस्तुतस्तृणान्युपादाय शुचीनि लावकात् ।

कृतप्रतिज्ञो निषसाद बोधये महातरोर्मूलमुपाश्रितः शुचेः ॥१२.११९

तब सर्प-श्रेष्ठ द्वारा स्तुति की जानेपर, उसने (तृण) काटनेवाले से पवित्र तृण ले लिया और बोधि (-प्राप्ति) के लिए प्रतिज्ञा कर, पवित्र महातरु के नीचे आश्रय लेकर बैठ गया ॥119 ॥

ततः स पर्यङ्कमकम्प्यमुत्तमं बबन्ध सुप्तोरगभोगपिण्डितम् ।

भिनद्मि तावद्भुवि नैतदासनं न यामि तावत्कृतकृत्यतामिति ॥१२.१२०

तब उसने उत्तम अविचल पर्यङ्क आसन बाँधा, जो सोये हुए साँप के शरीर के समान पुञ्जीभूत था। (और कहा)—"तबतक पृथिवी पर इस आसन को नही तोड़ूँगा, जबतक कि सफलता नही प्राप्त करूँगा" ॥120 ॥

ततो ययुर्मुदमतुलां दिवौकसो ववाशिरे न मृगगणा न पक्षिणः ।

न सस्वनुर्वनतरवोऽनिलाहताः कृतासने भगवति निश्चितात्मनि ॥१२.१२१

जब दृढ़ निश्चय करके भगवान् ने आसन ग्रहण किया, तब देवों ने अतुल आनन्द पाया, पशु-पक्षी बोले नहीं, और हवा से आहत होनेपर भी जङ्गल के पेड़ों से शब्द नही हुआ ॥121 ॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृतेऽराडदर्शनो नाम द्वादशः सर्गः ॥१२ ॥

त्रयोदश सर्ग

मार की पराजय

तस्मिन्विमोक्षाय कृतप्रतिज्ञे राजर्षिवंशप्रभवे महर्षौ।
तत्रोपविष्टे प्रजहर्ष लोकस्तत्रास सद्धर्मरिपुस्तु मारः ॥१३.१

मोक्ष के लिए प्रतिज्ञा कर राजर्षि-वंश में उत्पन्न वह महर्षि वहाँ बैठ गया, तब संसार को हर्ष हुआ, किन्तु सद्धर्म-शत्रु मार को भय हुआ ॥1 ॥

यं कामदेवं प्रवदन्ति लोके चित्रायुधं पुष्पशरं तथैव।
कामप्रचाराधिपतिं तमेव मोक्षद्विषं मारमुदाहरन्ति ॥१३.२

संसार में जिसे कामदेव, चित्रायुध तथा पुष्पशर कहते हैं उसी मोक्ष-शत्रु को जो काम-संचार का अधिपति है, मार कहते हैं ॥2 ॥

तस्यात्मजा विभ्रमहर्षदर्पास्तिस्रोऽरतिप्रीतितृषश्च कन्याः।
पप्रच्छुरेनं मनसो विकारं स तांश्च ताश्चैव वचोऽभ्युवाच ॥१३.३

विभ्रम, हर्ष व दर्प नामक उसके पुत्रों ने तथा अरति, प्रीति व तृष्णा (=प्यास) उसकी तीन कन्याओं ने उससे मानसिक विकार (का कारण) पूछा। उसने उन पुत्रों व कन्याओं से यह वचन कहा:– ॥3 ॥

असौ मुनिर्निश्चयवर्म बिभ्रत्सत्त्वायुधं बुद्धिशरं विकृष्य।
जिगीषुरास्ते विषयान्मदीयान्तस्मादयं मे मनसो विषादः ॥१३.४

"निश्चयरूप कवच धारण कर, बुद्धिरूप तीरवाला सत्त्वरूप अस्त्र (=धनुष) खींचकर, वह मुनि मेरा राज्य जीतना चाहता है; इसलिए मेरा यह मेरा मानसिक विषाद है ॥4 ॥

यदि ह्यसौ मामभिभूय याति लोकाय चाख्यात्यपवर्गमार्गम्।
शून्यस्ततोऽयं विषयो ममाद्य वृत्ताच्च्युतस्येव विदेहभर्तुः ॥१३.५

यदि वह मुझे जीत जाता है और जगत् को अपवर्ग का मार्ग बताता है, तो मेरा वह राज्य आज उसी प्रकार सूना हो जायगा जिस प्रकार सदाचार से च्युत होनेपर विदेह-राज (=कराल जनक या निमि विदेह) का राज्य (सूना हो गया था) ॥5 ॥

तद्यावदेवैष न लब्धचक्षुर्मद्गोचरे तिष्ठति यावदेव।
यास्यामि तावद्व्रतमस्य भेत्तुं सेतुं नदीवेग इवातिवृद्धः ॥१३.६

इसलिए जबतक यह ज्ञान-चक्षु नही प्राप्त करता है; जबतक मेरे ही क्षेत्र में रहता है, तबतक इसका व्रत भङ्ग करने के लिए जाऊँगा जैसे नदी का अत्यन्त बढ़ा हुआ वेग पुल को तोड़ता है।" ॥6 ॥

ततो धनुः पुष्पमयं गृहीत्वा शरान् जगन्मोहकरांश्च पञ्च।
सोऽश्वत्थमूलं ससुतोऽभ्यगच्छदस्वास्थ्यकारी मनसः प्रजानाम् ॥१३.७

तब फूलों का धनुष तथा जगत् को मूढ़ करनेवाले पाँच तीर लेकर, प्रजाओं के मन को अस्वस्थ करनेवाला वह मार अपनी सन्तानों के साथ अश्वत्थ वृक्ष के नीचे गया ॥7 ॥

अथ प्रशान्तं मुनिमासनस्थं पारं तितीर्षुं भवसागरस्य।
विषज्य सव्यं करमायुधाग्रे क्रीडन् शरेणेदमुवाच मारः ॥१३.८

तब अस्त्र के अग्रभाग पर बाँया हाथ रखकर, तीर से खेलते हुए मार ने आसन पर स्थित प्रशान्त मुनि से, जो भव-सागर के पार तक तैरने को इच्छुक था, यह कहा:– ॥8 ॥

उत्तिष्ठ भोः क्षत्रिय मृत्युभीत चर स्वधर्मं त्यज मोक्षधर्मम्।
बाणैश्च यज्ञैश्च विनीय लोकं लोकात्पदं प्राप्नुहि वासवस्य ॥१३.९

"ऐ मौत से डरनेवाले क्षत्रिय, उठो, स्वधर्म का आचरण करो, मोक्ष-धर्म का त्याग करो। बाणों व यज्ञों से संसार को जीतो और संसार से इन्द्र का पद प्राप्त करो ॥9 ॥

पन्था हि निर्यातुमयं यशस्यो यो वाहितः पूर्वतमैर्नरेन्द्रैः।
जातस्य राजर्षिकुले विशाले भैक्षाकमश्लाघ्यमिदं प्रपत्तुम् ॥१३.१०

(संसार से) निकलने का मार्ग यही है, यश देनेवाला मार्ग है, जिसपर पूर्व के राजा लोग चले थे। जो विशाल राजर्षि-कुल में उत्पन्न हुआ है, उसके लिए इस भिक्षा-वृत्ति का अवलम्बन करना श्लाघ्य नही ॥10 ॥

अथाद्य नोत्तिष्ठसि निश्चितात्मन् भव स्थिरो मा विमुचः प्रतिज्ञाम्।
मयोद्यतो ह्येष शरः स एव यः शूर्पके मीनरिपौ विमुक्तः ॥१३.११

या यदि, हे स्थिरात्मन्, आज नही उठते हो, तो स्थिर हो जाओ, प्रतिज्ञा मत छोड़ो। मैंने यह वही तीर उठाया है, जो मछलियों के शत्रु (=मछुए) शूर्पक पर छोड़ा गया था ॥11 ॥[52]

स्पृष्टः स चानेन कथञ्चिदैडः सोमस्य नप्ताप्यभवद्विचित्तः।
स चाभवच्छान्तनुरस्वतन्त्रः क्षीणे युगे किं बत दुर्बलोऽन्यः ॥१३.१२

इसके स्पर्श मात्र से चन्द्रमा के नाती ऐडका भी चित्त विचलित हो गया और वह शन्तनु अपने वश में नही रहा, फिर (इस) क्षीण युग में दूसरे दुर्बल का क्या कहना? ॥12 ॥

तत्क्षिप्रमुत्तिष्ठ लभस्व सञ्ज्ञां बाणो ह्ययं तिष्ठति लेलिहानः।
प्रियाविधेयेषु रतिप्रियेषु यं चक्रवाकेष्विव नोत्सृजामि ॥१३.१३

इसलिए शीघ्र उठो, होश सँभालो; क्योंकि बार-बार विनाश करनेवाला यह बाण तैयार है। इसे मैं उनपर नही छोड़ता जो चक्रवाकों के समान अपनी प्रियाओं के अनुकूल हैं और रति-प्रिय हैं।" ॥13 ॥

इत्येवमुक्तोऽपि यदा निरास्थो नैवासनं शाक्यमुनिर्बिभेद।
शरं ततोऽस्मै विससर्ज मारः कन्याश्च कृत्वा पुरतः सुतांश्च ॥१३.१४

---

[52]- शूर्पक के लिए देखिए–सौ० आठ 44, और दस 53।

इस प्रकार कहे जानेपर भी जब शाक्य-मुनि ने न ध्यान दिया और न आसन तोड़ा, तब अपनी कन्याओं और पुत्रों को आगे कर मार ने उसके ऊपर तीर छोड़ा ॥14 ॥

तस्मिंस्तु बाणेऽपि स विप्रमुक्ते चकार नास्थां न धृतेश्चचाल ।

दृष्ट्वा तथैनं विषसाद मारश्चिन्तापरीतश्च शनैर्जगाद ॥१३.१५

किन्तु उस बाण के छोड़े जानेपर भी उसने न ध्यान दिया और न वह धैर्य से ही विचलित हुआ। उस प्रकार उसे देखकर, मार को विषाद हुआ और चिन्तित होकर उसने धीरे-धीरे कहा:– ॥15 ॥

शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव ।

न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः ॥१३.१६

"जिससे विद्ध होकर महादेव भी शैलेन्द्र-पुत्री (पार्वती) के प्रति चलायमान हुआ, उसी बाण की यह चिन्ता नही कर रहा है। क्या इसे चित्त ही नही है या यह वह तीर ही नही है? ॥16 ॥

तस्मादयं नार्हति पुष्पबाणं न हर्षणं नापि रतेर्नियोगम् ।

अर्हत्ययं भूतगणैरसौम्यैः सन्त्रासनातर्जनताडनानि ॥१३.१७

इसलिए यह (मुनि) पुष्प-बाण, प्रसन्न करने, या रति-प्रयोग के योग्य नही। यह असौम्य भूतों द्वारा डराये, धमकाये और पीटे जाने योग्य है" ॥17 ॥

सस्मार मारश्च ततः स्वसैन्यं विघ्नं शमे शाक्यमुनेश्चिकीर्षन् ।

नानाश्रयाश्चानुचराः परीयुः शलद्रुमप्रासगदासिहस्ताः ॥१३.१८

तब शाक्य-मुनि की शान्ति में विघ्न करने की इच्छा से मार ने अपनी सेना का स्मरण किया और विविध रूपों में अनुचरगण उसके चारों ओर आ गये; उनके हाथों में त्रिशूल, वृक्ष, भाले, गदाएँ और तलवारें थीं ॥18 ॥

वराहमीनाश्वखरोष्ट्रवक्त्रा व्याघ्रर्क्षसिंहद्विरदाननाश्च ।

एकेक्षणा नैकमुखास्त्रिशीर्षा लम्बोदराश्चैव पृषोदराश्च ॥१३.१९

सूअर, मछली, घोड़े, गधे, ऊँट, बाघ, रीछ, सिंह और हाथी के-से उनके मुख थे। वे एक आँखवाले थे, उनके अनेक मुख थे, तीन तीन शिर थे, उदर लम्बे थे, पेटों पर धब्बे थे ॥19 ॥

अजानुसक्था घटजानवश्च दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च ।

करङ्कवक्त्रा बहुमूर्तयश्च भग्नार्धवक्त्राश्च महामुखाश्च ॥१३.२०

उनके घुटने व जाँघें नही थीं, या घड़ों के समान घुटने थे, दाँत ही उनके अस्त्र थे, नख ही हथियार थे, मस्तक-खप्पर ही मुँह थे, अनेक शरीर थे मुखों के आधे भाग भग्न थे, या बड़े-बड़े मुख थे ॥20 ॥

भस्मारुणा लोहितबिन्दुचित्राः खट्वाङ्गहस्ता हरिधूम्रकेशाः ।

लम्बस्रजो वारणलम्बकर्णाश्चर्माम्बराश्चैव निरम्बराश्च ॥१३.२१

वे भस्म से रङ्गे थे, लाल बिन्दुओं से रङ्ग-बिरङ्गे थे, उनके हाथों में खट्वाङ्ग (=खाट के अङ्ग या नर-पञ्जर) थे, केश वानर के समान धूम्रवर्ण थे, लम्बी (मुण्ड-) मालाएँ थीं, हाथी के समान लम्बे कान थे, वे चमड़े के कपड़े पहने हुए थे या वस्त्र-हीन थे ॥21 ॥

श्वेतार्धवक्त्रा हरितार्धकायास्ताम्राश्च धूम्रा हरयोऽसिताश्च ।

व्यालोत्तरासङ्गभुजास्तथैव प्रघुष्टघण्टाकुलमेखलाश्च ॥१३.२२

उनके आधे मुँह सफेद थे, आधे शरीर हरे थे, वे ताम्र-वर्ण व धूम्र-वर्ण थे, पीले व काले थे, उनकी भुँजाएँ साँपों से ढकी थीं, बजती घण्टियों से उनके कटि-सूत्र आकुल थे ॥22 ॥

तालप्रमाणाश्च गृहीतशूला दंष्ट्राकरालाश्च शिशुप्रमाणाः ।

उरभ्रवक्त्राश्च विहङ्गमाक्षा मार्जारवक्त्राश्च मनुष्यकायाः ॥१३.२३

वे तालवृक्ष के समान लम्बे थे और शूल पकड़े हुए थे, बच्चों के आकार के थे और दाढ़ों से भयानक लगते थे। भेड़ों के-से उनके मुँह थे और चिड़ियों की-सी आँखें थीं, बिलाड़ों के-से मुँह थे और मनुष्य के-से शरीर थे ॥23 ॥

प्रकीर्णकेशाः शिखिनोऽर्धमुण्डा रक्ताम्बरा व्याकुलवेष्टनाश्च ।

प्रहृष्टवक्त्रा भृकुटीमुखाश्च तेजोहराश्चैव मनोहराश्च ॥१३.२४

उनके बाल बिखरे हुए थे, वे शिखा-धारी थे, अधमुण्डे थे, लाल वस्त्र पहने थे, उनकी पगड़ियाँ उलट-पुलटी थीं। उनके मुख उत्साहित थे, मुखों पर भृकुटी थी, वे तेज हरण करनेवाले थे और मन हरण करनेवाले थे ॥24 ॥

केचिद्व्रजन्तो भृशमाववल्गुरन्योऽन्यमापुप्लुविरे तथान्ये ।

चिक्रीडुराकाशगताश्च केचित्केचिच्च चेरुस्तरुमस्तकेषु ॥१३.२५

कोई-कोई जाते हुए जोरों से कूदते थे और दूसरे एक-दूसरे पर उछलते थे। कोई आकाश में जाकर खेलते थे और कोई वृक्ष-शिखरों पर चलते थे ॥25 ॥

ननर्त कश्चिद्भ्रमयंस्त्रिशूलं कश्चिद्विपुस्फूर्ज गदां विकर्षन् ।

हर्षेण कश्चिद्वृषवन्ननर्द कश्चित्प्रजज्वाल तनूरुहेभ्यः ॥१३.२६

कोई त्रिशूल घुमाता नाचता था, कोई गदा खींचता हुआ गरजता था। कोई हर्ष से साँड के समान गरजा और किसी के रोम से ज्वाला निकली ॥26 ॥

एवंविधा भूतगणाः समन्तात्तद्बोधिमूलं परिवार्य तस्थुः ।

जिघृक्षवश्चैव जिघांसवश्च भर्तुर्नियोगं परिपालयन्तः ॥१३.२७

इस प्रकार के भूत उस बोधि-वृक्ष के मूल को चारों से घेरकर खड़े हो गये। वे पकड़ना चाहते थे और हत्या करना चाहते थे, स्वामी की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे ॥27 ॥

तं प्रेक्ष्य मारस्य च पूर्वरात्रे शाक्यर्षभस्यैव च युद्धकालम् ।

न द्यौश्चकाशे पृथिवी चकम्पे प्रजज्वलुश्चैव दिशः सशब्दाः ॥१३.२८

रात्रि के आरम्भ में मार व शाक्य-ऋषभ का युद्ध-काल देखकर, आकाश चमका नही, पृथ्वी काँपी, एवं शब्द करती हुई दिशाएँ प्रज्वलित हुईं ॥28 ॥

विष्वग्ववौ वायुरुदीर्णवेगस्तारा न रेजुर्न बभौ शशाङ्कः ।

तमश्च भूयो विततान रात्रिः सर्वे च सञ्चुक्षुभिरे समुद्राः ॥१३.२९

खुले वेग से हवा चारों ओर बही, न तारे शोभित हुए और न चन्द्रमा। रात्रि ने और भी अन्धकार फैलाया और सब समुद्रों में क्षोभ हुआ ॥29 ॥

महीभृतो धर्मपराश्च नागा महामुनेर्विघ्नममृष्यमाणाः ।

मारं प्रति क्रोधविवृत्तनेत्रा निःशश्वसुश्चैव जजृम्भिरे च ॥१३.३०

और पृथ्वी को धारण करनेवाले धर्मपरायण नागों ने महामुनि का विघ्न नही सहा; मार के प्रति क्रोध से आँखें घुमाकर उन्होंने फुफकार किया और जँभाई ली ॥30 ॥

शुद्धाधिवासा विबुधर्षयस्तु सद्धर्मसिद्ध्यर्थमभिप्रवृत्ताः ।

मारेऽनुकम्पां मनसा प्रचक्रुर्विरागभावात्तु न रोषमीयुः ॥१३.३१

किन्तु शुद्धाधिवास देवों ने, जो सद्धर्म की सिद्धि में लगे हुए थे, मार के ऊपर मन में अनुकम्पा की, राग-रहित होने के कारण उन्होंने क्रोध नही किया ॥31 ॥

तद्बोधिमूलं समवेक्ष्य कीर्णं हिंसात्मना मारबलेन तेन ।

धर्मात्मभिर्लोकविमोक्षकामैर्बभूव हाहाकृतमन्तरीक्षे ॥१३.३२

उस हिंसात्मक मार बल से उस बोधि-वृक्ष के मूल को भरा हुआ देखकर संसार का मोक्ष चाहनेवाले धर्मात्माओं ने अन्तरिक्ष में हाहाकार किया ॥32 ॥

उपप्लुतं धर्मविधेस्तु तस्य दृष्ट्वा स्थितं मारबलं महार्षिः ।

न चुक्षुभे नापि ययौ विकारं मध्ये गवां सिंह इवोपविष्टः ॥१३.३३

वहाँ पर स्थित मार-बल उस धर्म-विधि में बाधक है, यह देखकर गौओं के बीच बैठे हुए सिंह के समान, महर्षि को न क्षोभ हुआ, न विकार (=भय) ॥33 ॥

मारस्ततो भूतचमूमुदीर्णामाज्ञापयामास भयाय तस्य ।

स्वैः स्वैः प्रभावैरथ सास्य सेना तद्धैर्यभेदाय मतिं चकार ॥१३.३४

तब खुली हुई भूत-सेना को मार ने उसे डराने की आज्ञा दी और उसकी उस सेना ने अपने अपने प्रभावों से उसका धैर्य भङ्ग करने का निश्चय किया ॥34 ॥

केचिच्चलन्नैकविलम्बिजिह्वास्तीक्ष्णोग्रदंष्ट्रा हरिमण्डलाक्षाः ।

विदारितास्याः स्थिरशङ्कुकर्णाः सन्त्रासयन्तः किल नाम तस्थुः ॥१३.३५

कुछ (भूत) उसे डराने की कोशिश करते हुए खड़े रहे; उनकी लटकती हुई अनेक जीभें हिल रही थीं, दाँतों के अग्रभाग तेज थे, आँखें सूर्य-मण्डल के समान थीं, मुँह खुले हुए थे और कान बर्छी के समान कठोर थे ॥35 ॥

तेभ्यः स्थितेभ्यः स तथाविधेभ्यः रूपेण भावेन च दारुणेभ्यः ।

न विव्यथे नोद्विविजे महर्षिः क्रीडत्सुबालेभ्य इवोद्धतेभ्यः ॥१३.३६

खड़े हुए वैसे उन (भूतों) से, जो रूप व भाव से दारुण थे, महर्षि को न व्यथा हुई न भय, जैसे खेल में उत्तेजित बालकों से (न व्यथा होती है, न भय) ॥36 ॥

कश्चित्ततो रोषविवृत्तदृष्टिस्तस्मै गदामुद्यमयाञ्चकार ।

तस्तम्भ बाहुः सगदस्ततोऽस्य पुरन्दरस्येव पुरा सवज्रः ॥१३.३७

तब किसी ने रोष से आँखें घुमाकर उसके ऊपर गदा उठाई; किन्तु गदा-सहित उसकी बाहु वैसे ही स्तम्भित हो गई, जैसे प्राचीन समय में इन्द्र की वज्र-युक्त बाहु ॥37 ॥

केचित्समुद्यम्य शिलास्तरूंश्च विषेहिरे नैव मुनौ विमोक्तुम् ।

पेतुः सवृक्षाः सशिलास्तथैव वज्रावभग्ना इव विन्ध्यपादाः ॥१३.३८

कतिपयों ने शिलाएँ व वृक्ष उठाये, किन्तु मुनि पर छोड़ न सके। वृक्षों व शिलाओं के साथ वे वैसे ही गिरे जैसे वज्र से भग्न हुए विन्ध्याचल के पाद ॥38 ॥

कैश्चित्समुत्पत्य नभो विमुक्ताः शिलाश्च वृक्षाश्च परश्वधाश्च ।

तस्थुर्नभस्येव न चावपेतुः सन्ध्याभ्रपादा इव नैकवर्णाः ॥१३.३९

कतिपयों ने आकाश में उड़कर जो शिलाएँ, वृक्ष व कुठार छोड़े, वे गिरे नहीं, आकाश में ही रहे, जैसे संध्याकालीन बादलों के रङ्ग-बिरङ्गे टुकड़े हों ॥39 ॥

चिक्षेप तस्योपरि दीप्तमन्यः कडङ्गरं पर्वतशृङ्गमात्रम् ।

यन्मुक्तमात्रं गगनस्थमेव तस्यानुभावाच्छतधा पफाल ॥१३.४०

दूसरे ने उसके ऊपर पहाड़ की चोटी के बराबर जलता कुंदा फेंका; जैसे ही यह फेंका गया कि उस (मुनि) के प्रभाव से आकाश में ही इसके सौ टुकड़े हो गये ॥40 ॥

कश्चिज्ज्वलन्नर्क इवोदितः खादङ्गारवर्षं महदुत्ससर्ज ।

चूर्णानि चामीकरकन्दराणां कल्पात्यये मेरुरिव प्रदीप्तः ॥१३.४१

उदय होते सूर्य के समान जलते हुए किसी ने आकाश से अङ्गारों की झड़ी लगा दी, जैसे कल्प के अन्त में जलता हुआ मेरु पर्वत सुवर्ण-कन्दराओं के चूर्ण बरसा रहा हो ॥41 ॥

तद्बोधिमूले प्रविकीर्यमाणमङ्गारवर्षं तु सविस्फुलिङ्गम् ।

मैत्रीविहारादृषिसत्तमस्य बभूव रक्तोत्पलपत्त्रवर्षः ॥१३.४२

उस बोधि-वृक्ष के मूल में स्फुलिङ्गों के साथ जो अङ्गार-वृष्टि की जा रही थी, वह ऋषि श्रेष्ठ के मैत्री में विहार करने के कारण (=सबके प्रति मैत्री-भाव रखने के कारण) लाल कमलों के पत्तों की वृष्टि (में परिणत) हो गई ॥42 ॥

शरीरचित्तव्यसनातपैस्तैरेवंविधैस्तैश्च निपात्यमानैः ।

नैवासनाच्छाक्यमुनिश्चचाल स्वनिश्चयं बन्धुमिवोपगुह्य ॥१३.४३

यद्यपि शरीर व मन के लिए ऐसी विपत्तियाँ व पीड़ाएँ दी जा रही थीं, तो भी अपने निश्चय का बन्धु के समान आलिङ्गन कर शाक्यमुनि आसन से विचलित नही हुआ ॥43 ॥

अथापरे निर्जिगिलुर्मुखेभ्यः सर्पान्विजीर्णेभ्य इव द्रुमेभ्यः ।

ते मन्त्रबद्धा इव तत्समीपे न शश्वसुर्नोत्ससृपुर्न चेलुः ॥१३.४४

तब दूसरों ने अपने मुखों से, जैसे जीर्ण वृक्षों से, साँप उगले। वे (सर्प) मानो मन्त्र-बद्ध होकर उसके समीप न फुफकारे, न ऊपर उठे और न चले ॥44 ॥

भूत्वापरे वारिधरा बृहन्तः सविद्युतः साशनिचण्डघोषाः ।

तस्मिन्द्रुमे तत्यजुरश्मवर्षं तत्पुष्पवर्षं रुचिरं बभूव ॥१३.४५

वज्र के प्रचण्ड घोष तथा बिजली से युक्त विशाल बादल बनकर दूसरों ने उस वृक्ष पर अश्म-वृष्टि की, जो रुचिर पुष्प-वृष्टि (में परिणत) हो गई ॥45 ॥

चापेऽथ बाणो निहितोऽपरेण जज्वाल तत्रैव न निष्पपात ।

अनीश्वरस्यात्मनि धूयमानो दुर्मर्षणस्येव नरस्य मन्युः ॥१३.४६

दूसरे ने धनुष पर बाण रखा, जो वहीं प्रज्वलित हुआ, छुटा नही, जैसे ऐश्वर्य-रहित क्रोधी मनुष्य का क्रोध अपने में ही बीजित होता है, वहीं धधकता है, निकलता नही ॥46 ॥

पञ्चेषवोऽन्येन तु विप्रमुक्तास्तस्थुर्नभस्येव मुनौ न पेतुः ।

संसारभीरोर्विषयप्रवृत्तौ पञ्चेन्द्रियाणीव परीक्षकस्य ॥१३.४७

दूसरे के द्वारा छोड़े गये पाँच बाण आकाश में ही रहे, मुनि पर गिरे नहीं, जैसे विषय उपस्थित होनेपर संसार (=जन्म-चक्र) से डरनेवाले पारखी की पाँचों इन्द्रियाँ स्थिर रहती हैं, पतित नहीं होती हैं ॥47 ॥

जिघांसयान्यः प्रससार रुष्टो गदां गृहीत्वाभिमुखो महार्षेः ।

सोऽप्राप्तकामो विवशः पपात दोषेष्विवानर्थकरेषु लोकः ॥१३.४८

दूसरा हत्या करने की इच्छा से रुष्ट हो गदा लेकर महर्षि के सामने दौड़ पड़ा; वह विफल-मनोरथ विवश होकर गिर पड़ा, जैसे (विफल मनोरथ) जगत् (विवश होकर) अनर्थकारी दोषों में गिरता है ॥48 ॥

स्त्री मेघकाली तु कपालहस्ता कर्तुं महर्षेः किल चित्तमोहम् ।

बभ्राम तत्रानियतं न तस्थौ चलात्मनो बुद्धिरिवागमेषु ॥१३.४९

मेघ के समान काली स्त्री हाथ में कपाल लेकर महर्षि का चित्त-मोह करने के लिए वहाँ अनियन्त्रित होकर घूमी, खड़ी नही रही, जैसे चञ्चल मनवाले की बुद्धि (विविध) शास्त्रों में अनिश्चित होकर भटकती है, स्थिर नही होती है ॥49 ॥

कश्चित्प्रदीप्तं प्रणिधाय चक्षुर्नेत्राग्निनाशीविषवद्दिधक्षुः ।

तत्रैव नासीनमृषिं ददर्श कामात्मकः श्रेय इवोपदिष्टम् ॥१३.५०

किसी ने जलती आँखें (उसकी ओर) स्थिर करके आँखों की अग्नि से साँप के समान उसे जलाना चाहा; किन्तु वहीं पर बैठे हुए ऋषि को देखा नही, जैसे कामात्मा पुरुष बताये हुए कल्याण को नही देखता है ॥50 ॥

गुर्वीं शिलामुद्यमयंस्तथान्यः शश्राम मोघं विहतप्रयत्नः ।

निःश्रेयसं ज्ञानसमाधिगम्यं कायक्लमैर्धर्ममिवाप्तुकामः ॥१३.५१

भारी शिला को उठाये हुए दूसरे ने व्यर्थ श्रम किया, उसका प्रयत्न नष्ट हुआ, जैसे ज्ञान व समाधि से प्राप्य धर्म को शारीरिक क्लेशों से पाने की इच्छा करनेवाला व्यर्थ श्रम करता है, उसका प्रयत्न नष्ट होता है ॥51 ॥

तरक्षुसिंहाकृतयस्तथान्ये प्रणेदुरुच्चैर्महतः प्रणादान् ।

सत्त्वानि यैः सञ्चुकुचुः समन्ताद्वज्राहता द्यौः फलतीति मत्वा ॥१३.५२

तेंदुए और सिंह की आकृतिवाले दूसरों ने जोरों से महा-गर्जन किये, जिनसे जीव (डर के मारे) चारों-ओर सिकुड़ गये, यह समझकर कि वज्र से आहत होकर आकाश फट रहा है ॥52 ॥

मृगा गजाश्चार्त्तरवान् सृजन्तो विदुद्रुवुश्चैव निलिल्यिरे च ।

रात्रौ च तस्यामहनीव दिग्भ्यः खगा रुवन्तः परिपेतुरार्त्ताः ॥१३.५३

मृग और हाथी आर्त-नाद करते हुए दौड़कर छिप गये और पक्षीगण आर्त होकर उस रात को दिन की तरह बोलते हुए चारों ओर घूमे ॥53 ॥

तेषां प्रणादैस्तु तथाविधैस्तैः सर्वेषु भूतेष्वपि कम्पितेषु ।

मुनिर्न तत्रास न सञ्चुकोच रवैर्गरुत्मानिव वायसानाम् ॥१३.५४

किन्तु उनके वैसे उन शब्दों से सब जीवों के काँपने पर भी मुनि न डरा, न सिकुड़ा, जैसे कौओं के शब्दों से गरुड़ न डरता है, न सिकुड़ता है ॥54 ॥

भयावहेभ्यः परिषद्गणेभ्यो यथा यथा नैव मुनिर्बिभाय ।

तथा तथा धर्मभृतां सपत्नः शोकाच्च रोषाच्च ससाद मारः ॥१३.५५

भय-प्रद परिषद्-गणों से जैसे-जैसे मुनि नही डरा, वैसे-वैसे धर्म-पालकों के शत्रु मार को शोक और रोष से ग्लानि हुई ॥55 ॥

भूतं ततः किञ्चिददृश्यरूपं विशिष्टभूतं गगनस्थमेव ।

दृष्ट्वर्षये द्रुग्धमवैररुष्टं मारं बभाषे महता स्वरेण ॥१३.५६

तब अदृश्यरूप किसी विशिष्ट जीव ने आकाश से ही ऋषि के प्रति द्रोही व बिना वैर के ही रुष्ट हुए मार को देखकर गम्भीर स्वर में कहा– ॥56 ॥

मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुं हिंस्रात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म ।

नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिर्मेरुरिवानिलेन ॥१३.५७

"हे मार तुम्हें व्यथ श्रम नही करना चाहिए, हिंसा-भाव छोड़ो और शान्त हो जाओ; क्योंकि तुम इसे कँपा नही सकते, जैसे हवा से महापर्वत मेरु नही कँपाया जा सकता ॥57 ॥

अप्युष्णभावं ज्वलनः प्रजह्यादापो द्रवत्वं पृथिवी स्थिरत्वम् ।
अनेककल्पाचितपुण्यकर्मा न त्वेव जह्याद्व्यवसायमेषः ॥१३.५८

अग्नि उष्णता छोड़ दे, पानी द्रवत्व छोड़ दे, पृथिवी स्थिरता छोड़ दे; किन्तु यह, जिसने अनेक कल्पों में पुण्य एकत्र किये हैं, अपना निश्चय न छोड़ेगा ॥58 ॥

यो निश्चयो ह्यस्य पराक्रमश्च तेजश्च यद्या च दया प्रजासु ।
अप्राप्य नोत्थास्यति तत्त्वमेष तमांस्यहत्वेव सहस्ररश्मिः ॥१३.५९

क्योंकि इसका जो निश्चय है, जो पराक्रम है, जो तेज है और जीवों के प्रति जो दया है, (उससे तो यही जान पड़ता है कि) तत्त्व को प्राप्त किये यह नही उठेगा जैसे अन्धकार को नष्ट किये बिना सूर्य नही उगता है ॥59 ॥

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं भूमिं खन्विन्दति चापि तोयम् ।
निर्बन्धिनः किञ्चन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥१३.६०

काठ को रगड़नेवाल (आदमी) अग्नि प्राप्त करता है और पृथिवी को खोदनेवाला जल प्राप्त करता है। हठी (=आग्रही) के लिए कुछ भी असाध्य नही है। उचित तरीके के साथ करने पर सब कुछ किया जा सकता है ॥60 ॥

तल्लोकमार्त्तं करुणायमानो रोगेषु रागादिषु वर्तमानम् ।
महाभिषङ् नार्हति विघ्नमेष ज्ञानौषधार्थं परिखिद्यमानः ॥१३.६१

राग आदि रोगों में पड़े हुए आर्त जगत् के ऊपर करुणा करनेवाला महावैद्य ज्ञानरूप औषध के लिए कष्ट उठा रहा है, इसलिए यह विघ्न के योग्य नही है ॥61 ॥

हृते च लोके बहुभिः कुमार्गैः सन्मार्गमन्विच्छति यः श्रमेण ।
स दैशिकः क्षोभयितुं न युक्तं सुदेशिकः सार्थ इव प्रनष्टे ॥१३.६२

अनेक कुमार्गों द्वारा संसार का अपहरण होनेपर जो श्रमपूर्वक सन्मार्ग को खोज रहा है उस उपदेशक (=पथ-प्रदर्शक) को क्षुब्ध करना ठीक नही ॥62 ॥

सत्त्वेषु नष्टेषु महान्धकारे ज्ञानप्रदीपः क्रियमाण एषः ।
आर्यस्य निर्वापयितुं न साधु प्रज्वाल्यमानस्तमसीव दीपः ॥१३.६३

महा-अन्धकार में जीवों के भटकने पर यह ज्ञान-प्रदीप हो रहा है; अँधेरे में जलाये जाते दीप के समान उसे निर्वापित करना (=शान्त करना, मार डालना, बुझाना) आर्य के लिए ठीक नही ॥63 ॥

दृष्ट्वा च संसारमये महौघे मग्नं जगत्पारमविन्दमानम् ।
यश्चेदमुत्तारयितुं प्रवृत्तः कश्चिन्तयेत्तस्य तु पापमार्यः ॥१३.६४

जन्म-चक्ररूपी महाबाढ़ में डूबा हुआ जगत् पार नही पा रहा है, यह देखकर इसे उबारने में जो लगा हुआ है उसके प्रति पाप-कर्म की चिन्ता कौन आर्य पुरुष करेगा? ॥64 ॥

क्षमाशिफो धैर्यविगाढमूलश्चारित्रपुष्पः स्मृतिबुद्धिशाखः ।
ज्ञानद्रुमो धर्मफलप्रदाता नोत्पाटनं ह्यर्हति वर्धमानः ॥१३.६५

यह बढ़ता हुआ ज्ञान-वृक्ष—क्षमा ही जिसकी जटा है, धैर्य ही जिसका गहरा मूल है, चरित्र ही जिसके फूल हैं, स्मृति व बुद्धि ही जिसकी शाखाएँ हैं और जो धर्मरूपी फल देता है—काटा जाने योग्य नही ॥65 ॥

बद्धां दृढैश्चेतसि मोहपाशैर्यस्य प्रजां मोक्षयितुं मनीषा ।
तस्मिन् जिघांसा तव नोपपन्ना श्रान्ते जगद्बन्धनमोक्षहेतोः ॥१३.६६

मन में मोह के दृढ़ बन्धनों के बँधे हुए जीवों को यह मुक्त करना चाहता है; जगत् का बन्धन खोलने के लिए श्रम करनेवाले उस मुनि को मार डालने की तुम्हारी इच्छा उचित नही ॥66 ॥

बोधाय कर्माणि हि यान्यनेन कृतानि तेषां नियतोऽद्य कालः ।
स्थाने तथास्मिन्नुपविष्ट एष यथैव पूर्वे मुनयस्तथैव ॥१३.६७

इसने बुद्धत्व के लिए जो कर्म किये, उनके पकने का आज नियत समय है। इस स्थान पर यह उसी प्रकार बैठा हुआ है, जिस प्रकार पूर्व के मुनि बैठे थे ॥67 ॥

एषा हि नाभिर्वसुधातलस्य कृत्स्नेन युक्ता परमेण धाम्ना ।
भूमेरतोऽन्योऽस्ति हि न प्रदेशो वेशं समाधेर्विषहेत योऽस्य ॥१३.६८

यह भूतल की नाभि है, जो समस्त उत्तम प्रभाव से युक्त है; क्योंकि इस भूमि के अतिरिक्त दूसरा स्थान नही, जो इसकी समाधि का वेग सह सके ॥68 ॥

तन्मा कृथाः शोकमुपेहि शान्तिं मा भून्महिम्ना तव मार मानः ।
विश्रम्भितुं न क्षममध्रुवा श्रीश्चले पदे किं मदमभ्युपैषि ॥१३.६९

इसलिए शोक मत करो, शान्त हो जाओ; हे मार, अपनी महिमा का अभिमान मत करो। चपल श्री पर विश्वास करना उचित नही; अपनी स्थिति अस्थिर होनेपर क्यों मद कर रहे हो?" ॥69 ॥[53]

ततः स संश्रुत्य च तस्य तद्वचो महामुनेः प्रेक्ष्य च निष्प्रकम्पताम् ।
जगाम मारो विमना हतोद्यमः शरैर्जगच्चेतसि यैर्विहन्यते ॥१३.७०

तब उसकी यह बात सुनकर और महामुनि की स्थिरता देखकर विफल-प्रयत्न मार, उदास होकर अपने उन तीरों के साथ, जिनसे लोगों का चित्त घायल किया जाता है, चला गया ॥70 ॥

गतप्रहर्षा विफलीकृतश्रमा प्रविद्धपाषाणकडङ्गरद्रुमा ।
दिशः प्रदुद्राव ततोऽस्य सा चमूर्हताश्रयेव द्विषता द्विषच्चमूः ॥१३.७१

53- **"विस्मय" के स्थान में "किं मद" रक्खा गया है।**

तब उसकी वह सेना, जिसका आनन्द दूर हो गया था, जिसका श्रम विफल कर दिया गया था, जिसके पत्थर कुन्दे और वृक्ष बिखरे पड़े थे, चारों-ओर वैसे भी भाग गई जैसे शत्रु-द्वारा नायक के मारे जानेपर विपक्षी सेना (भाग जाती है) ॥71 ॥

द्रवति सपरिपक्षे निर्जिते पुष्पकेतौ जयति जिततमस्के नीरजस्के महर्षौ ।

युवतिरिव सहासा द्यौश्चकाशे सचन्द्रा सुरभि च जलगर्भं पुष्पवर्षं पपात ॥१३.७२

जब अपने पक्ष के साथ पराजित होकर, मार भाग गया और जब (अज्ञानरूपी) अन्धकार को जीतनेवाला निर्मल (=राग-रहित) महर्षि विजयी हुआ, तब चन्द्रयुक्त आकाश हँसती युवती के समान शोभित हुआ और सुगन्धित जल-पूर्ण पुष्प-वृष्टि हुई ॥72 ॥

तथापि पापीयसि निर्जिते गते दिशः प्रसेदुः प्रबभौ निशाकरः ।

दिवो निपेतुर्भुवि पुष्पवृष्टयो रराज योषेव विकल्मषा निशा ॥१३.७३

उस प्रकार वह पापी जब हारकर चला गया, तब दिशाएँ प्रसन्न हुईं, चन्द्रमा शोभित हुआ, आकाश से पृथ्वी पर पुष्प-वृष्टि हुई और निष्पाप स्त्री के समान निर्मल रात्रि की शोभा हुई ॥73 ॥[54]

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते मारविजयो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३ ॥

चतुर्दश सर्ग

बुद्धत्व-प्राप्ति

ततो मारबलं जित्वा धैर्येण च शमेन च ।

परमार्थं विजिज्ञासुः स दध्यौ ध्यानकोविदः ॥१४.१

तब धैर्य और शान्ति से मार की सेना को जीतकर परमार्थ जानने की अच्छा से उस ध्यान-पटु ने ध्यान किया ॥1 ॥

सर्वेषु ध्यानविधिषु प्राप्य चैश्वर्यमुत्तमम् ।

सस्मार प्रथमे यामे पूर्वजन्मपरम्पराम् ॥१४.२

और ध्यान-विधियों पर उत्तम स्वामित्व (=अधिकार) प्राप्त कर प्रथम पहर में पूर्व-जन्मों की परम्परा का स्मरण किया ॥2 ॥

अमुत्राहमयं नाम च्युतस्तस्मादिहागतः ।

इति जन्मसहस्राणि सस्मारानुभवन्निव ॥१४.३

"वहाँ मैं वह था, वहा से गिरकर यहाँ आया" इस तरह हजारों जन्मों को मानो अनुभव करते हुए स्मरण किया ॥3 ॥

स्मृत्वा जन्म च मृत्युं च तासु तासूपत्तिषु ।

ततः सत्त्वेषु कारुण्यं चकार करुणात्मकः ॥१४.४

तब उन जन्मों में उत्पत्ति व मौत का स्मरण कर करुणात्मक ने जीवों पर करुणा की ॥4 ॥

कृत्वेह स्वजनोत्सर्गं पुनरन्यत्र च क्रियाः ।

अत्राणः खलु लोकोऽयं परिभ्रमति चक्रवत् ॥१४.५

वहाँ स्वजनों को छोड़, अन्यत्र (जन्म लेकर) कर्म करता है; इस तरह अवश्य ही यह संसार रक्षा-रहित है और पहिए के समान घूमता रहता है ॥5 ॥

इत्येवं स्मरतस्तस्य बभूव नियतात्मनः ।

कदलीगर्भनिःसारः संसार इति निश्चयः ॥१४.६

इस प्रकार स्मरण करते उस निश्चितात्मा को यह निश्चय हुआ—"कदली गर्भ (=केले के पेड़ के भीतरी भाग) के समान संसार असार है" ॥6 ॥

द्वितीये त्वागते यामे सोऽद्वितीयपराक्रमः ।

दिव्यं लेभे परं चक्षुः सर्वचक्षुष्मतां वरः ॥१४.७

दूसरा पहर आनेपर अद्वितीय पराक्रमवाले ने, जो सब दृष्टिवानों में श्रेष्ठ था, परम दिव्य चक्षु पाया ॥7 ॥

ततस्तेन स दिव्येन परिशुद्धेन चक्षुषा ।

ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले ॥१४.८

तब उस अत्यन्त शुद्ध दिव्य चक्षु से उसने समस्त जगत् को इस तरह देखा, जैसे निर्मल दर्पण में देख रहा हो ॥8 ॥

सत्त्वानां पश्यतस्तस्य निकृष्टोत्कृष्टकर्मणाम् ।

प्रच्युतिं चोपपत्तिं च ववृधे करुणात्मता ॥१४.९

निकृष्ट व उत्कृष्ट कर्मवाले जीवों का पतन व जन्म देखते हुए उसकी करुणा बढ़ी ॥9 ॥

इमे दुष्कृतकर्माणः प्राणिनो यान्ति दुर्गतिम् ।

इमेऽन्ये शुभकर्माणः प्रतिष्ठन्ते त्रिपिष्टपे ॥१४.१०

ये पाप-कर्मवाले प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते है, ये दूसरे शुभ-कर्मवाले स्वर्ग में स्थान पाते हैं ॥10 ॥

उपपन्नाः प्रतिभये नरके भृशदारुणे ।

अमी दुःखैर्बहुविधैः पीड्यन्ते कृपणं बत ॥१४.११

अत्यन्त दारुण व भयावह नरक में उत्पन्न होकर ये (पापी) अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित होते हैं ॥11 ॥

पाय्यन्ते क्वथितं केचिदग्निवर्णमयोरसम् ।

आरोप्यन्ते रुवन्तोऽन्ये निष्टप्तस्तम्भमायसम् ॥१४.१२

---

[54]- यह श्लोक चीनी अनुवाद में नही है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त बताते हैं। कीथ ने "संस्कृत साहित्य के इतिहास" में "अश्वघोष की शैली व भाषा" के अन्तर्गत इसे उद्धृत किया है।

कुछ लोगों को पिघले हुए लोहे का पानी, जो आग के रङ्ग का होता हे, पिलाया जाता है; चिल्लाते हुए दूसरों को लोहे के तपे खम्भे पर चढ़ाया जाता है ॥12 ॥

पच्यन्ते पिष्टवत्केचिदयस्कुम्भीष्ववाङ्मुखाः ।
दह्यन्ते करुणं केचिद्दीप्तेष्वङ्गारराशिषु ॥१४.१३

कोई-कोई लोहे के कड़ाहों में औंधे-मुख, पुए के समान, पकाये जाते हैं; कोई-कोई जलते अङ्गारों के ढेर पर कष्टपूर्वक जलाये जाते हैं ॥13 ॥

केचित्तीक्ष्णैरयोदंष्ट्रैर्भक्ष्यन्ते दारुणैः श्वभिः ।
केचिद्धृष्टैरयस्तुण्डैर्वायसैरायसैरिव ॥१४.१४

कोई-कोई लोहे के दाँतवाले तीक्ष्ण व दारुण कुत्तों द्वारा भक्षित होते हैं; कोई-कोई लोहे की ढीठ चोंचों (=चञ्चुओं) द्वारा, मानो लोहे के चने कौओं द्वारा खाये जाते हैं ॥14 ॥

केचिद्दाहपरिश्रान्ताः शीतच्छायाभिकाङ्क्षिणः ।
असिपत्त्रवनं नीलं बद्धा इव विशन्त्यमी ॥१४.१५

कोई-कोई दाह से थककर शीतल छाया की आकाङ्क्षा करते हैं; वे नीले असि पत्र-वन में (=तलवारों के वन में) बन्दी के समान प्रवेश करते हैं ॥15 ॥

पाट्यन्ते दारुवत्केचित्कुठारैर्बद्धबाहवः ।
दुःखेऽपि न विपच्यन्ते कर्मभिर्धारितासवः ॥१४.१६

कुछ, जिनकी भुजाएँ बँधी रहती हैं, कुठारों द्वारा लकड़ी के समान काटे जाते हैं। दुःख में भी उनका अन्त नही होता है; कर्मों से उनके प्राण धारण किये जाते हैं ॥16 ॥

सुखं स्यादिति यत्कर्म कृतं दुःखनिवृत्तये ।
फलं तस्येदमवशैर्दुःखमेवोपभुज्यते ॥१४.१७

"सुख होगा" इस आशा से दुःख-निवृत्ति के लिए उन्होंने जो कर्म किया था उसका यह दुःखमय फल ही वे बेचारे भोगते हैं ॥17 ॥

सुखार्थमशुभं कृत्वा य एते भृशदुःखिताः ।
आस्वादः स किमेतेषां करोति सुखमण्वपि ॥१४.१८

सुख पाने के लिए अशुभ (कर्म) करके जो ये अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, क्या (अशुभ का) यह आस्वाद थोड़ा-सा भी सुख इन्हें देता है? ॥18 ॥

हसद्भिर्यत्कृतं कर्म कलुषं कलुषात्मभिः ।
एतत्परिणते काले क्रोशद्भिरनुभूयते ॥१४.१९

पापात्मा हँसते हुए जो पाप-कर्म करते हैं, समय पकने पर (उसका) यह (फल) वे रोते हुए अनुभव करते हैं ॥19 ॥

यद्येव पापकर्माणः पश्येयुः कर्मणां फलम् ।
वमेयुरुष्णं रुधिरं मर्मस्वभिहता इव ॥१४.२०

यदि पाप-कर्म करनेवाले पाप-कर्मों का ऐसा फल देखें, तो मर्मस्थल में घायल हुए के समान उष्ण रुधिर वमन करें ॥20 ॥

इमेऽन्ये कर्मभिश्चित्रैश्चित्तविस्पन्दसम्भवैः ।
तिर्यग्योनौ विचित्रायामुपपन्नास्तपस्विनः ॥१४.२१

ये दूसरे बेचारे चित्त की चञ्चलता से होनेवाले विविध कर्मों के कारण पशु-पक्षिओं की विविध योनि में उत्पन्न होते हैं, ॥21 ॥

मांसत्वग्बालदन्तार्थं वैरादपि मदादपि ।
हन्यन्ते कृपणं यत्र बन्धूनां पश्यतामपि ॥१४.२२

जहाँ मांस त्वचा बाल व दाँत के लिए, या वैर व मद से भी, और बन्धुओं के देखते रहने पर भी, वे दीनतापूर्वक मारे जाते हैं ॥22 ॥

अशक्नुवन्तोऽप्यवशाः क्षुत्तर्षश्रमपीडिताः ।
गोऽश्वभूताश्च वाह्यन्ते प्रतोदक्षतमूर्तयः ॥१४.२३

और बैल-घोड़े होनेपर, भूख प्यास व थकावट की पीड़ा से विवश व अशक्त होनेपर भी, वे अङ्कुशों से क्षत-शरीर (घायल) होते हुए हाँके जाते हैं ॥23 ॥

वाह्यन्ते गजभूताश्च बलीयांसोऽपि दुर्बलैः ।
अङ्कुशक्लिष्टमूर्धानस्ताडिताः पादपार्ष्णिभिः ॥१४.२४

और हाथी होकर, बलवान् होनेपर भी, दुर्बलों द्वारा अङ्कुशों से मस्तकों पर क्लेश पाते हुए तथा पाँवों व एडियों से ताड़ित होते हुए हाँके जाते हैं ॥24 ॥

सत्स्वप्यन्येषु दुःखेषु दुःखं यत्र विशेषतः ।
परस्परविरोधाच्च पराधीनतयैव च ॥१४.२५

अन्य दुःखों के रहने पर भी वहाँ (पशु पक्षियों की योनि में) परस्पर-विरोध और पराधीनता के कारण विशेष दुःख है ॥25 ॥

खस्थाः खस्थैर्हि बाध्यन्ते जलस्था जलचारिभिः ।
स्थलस्थाः स्थलसंस्थैश्च प्राप्य चैवेतरेतरैः ॥१४.२६

आकाश-वासी आकाश-वासियों द्वारा, जल-चारी जल-चारियों द्वारा, स्थल-वासी स्थल-वासियों द्वारा परस्पर पीड़ित होते हैं ॥26 ॥

उपपन्नास्तथा चेमे मात्सर्याक्रान्तचेतसः ।
पितृलोके निरालोके कृपणं भुञ्जते फलम् ॥१४.२७

उसी प्रकार ये, जिनके चित्त परस्पर द्वेष से आक्रान्त रहते हैं आलोक-रहित प्रेत-लोक में उत्पन्न होकर दीनतापूर्वक कर्म-फल भोगते हैं ॥27 ॥

सूचीछिद्रोपममुखाः पर्वतोपमकुक्षयः ।

क्षुत्तर्षजनितैर्दुःखैः पीड्यन्ते दुःखभागिनः ॥१४.२८

सूई के छेद के समान मुखवाले और पर्वत के समान पेटवाले ये दुःख-भागी भूख-प्यास से उत्पन्न दुःखियों से पीड़ित होते हैं ॥28 ॥

आशया समतिक्रान्ता धार्यमाणाः स्वकर्मभिः ।

लभन्ते न ह्यमी भोक्तुं प्रविद्धान्यशुचीन्यपि ॥१४.२९

आशा द्वारा अतिक्रमण किये जानेपर (अर्थात् निराश होनेपर) भी वे अपने कर्मों द्वारा धारण किये जाते हैं; फेंकी गई अपवित्र वस्तु भी खाने को वे नही पाते ॥29 ॥

पुरुषो यदि जानीत मात्सर्यस्येदृशं फलम् ।

सर्वथा शिबिवद्दद्याच्छरीरावयवानपि ॥१४.३०

पुरुष यदि द्वेष का ऐसा फल जानता, तो सब प्रकार से शिवि के सामने अपने शरीर के अवयव भी दान कर देता ॥30 ॥

इमेऽन्ये नरकप्रख्ये गर्भसञ्ज्ञेऽशुचिह्रदे ।

उपपन्ना मनुष्येषु दुःखमर्छन्ति जन्तवः ॥१४.३१

ये दूसरे जन्तु नरकतुल्य गर्भ-नामक अपवित्र सरोवर में उत्पन्न होकर मनुष्यों के बीच दुःख पाते हैं ॥31 ॥

* * * *

- **शुरु में जन्म-घड़ी में ही तीक्ष्ण हाथों से पकड़े जाते हुए, मानो तेज तलवारों से काटे जाते हुए, वे खूब रोते हैं ॥32 ॥[55]**
- **स्वजन उन्हें प्यार करते हैं, उनका पालन-पोषण व रक्षा करते हैं, अत्यन्त सावधानी से संवर्धन करते हैं, और पीछे दुःख से महादुःख में जाते हुए वे अपने ही विविध कर्मों से कलुषित ही होते हैं ॥33 ॥**
- **और इस अवस्था में तृष्णा से आक्रान्त मूर्ख "यह करना है और वह करना है" इस तरह अधिकाधिक चिन्ता करते हुए, निरन्तर बहती धारा में बहते रहते हैं ॥34 ॥**
- **ये दूसरे, जिन्होंने पुण्य संचय किये हैं, स्वर्ग में जन्म लेते हैं और काम की ज्वालाओं से इस तरह जलते हैं जैसे आग में जल रहे हों ॥35 ॥**
- **और विषयों में अतृप्त ही वे वहाँ से गिरते हैं, उनकी आँखें ऊपर लगी रहती हैं, वे निस्तेज रहते हैं और अपनी मालाओं के मुरझाने से दुःखी होते हैं ॥36 ॥**
- **जब अप्सराओं के प्रेमी असहाय होकर गिरते हैं, तब वे करुणापूर्वक उन्हें देखती हैं और अपने हाथों से उनके वस्त्र पकड़ती हैं ॥37 ॥**
- **विमानों से दीनतापूर्वक गिरते हुए प्रेमियों को पकड़ने की कोशिश करते समय, कुछ अप्सराएँ ऐसे देख पड़ती हैं जैसे झूलती हुई मोती की लड़ियों के साथ वे पृथ्वी पर गिर रही हों ॥38 ॥**
- **दूसरी भाँति भाँति की मालाएँ व गहने पहनकर, अपने प्रेमियों के दुःख में पड़ने से शोकित होकर, सहानुभूतिपूर्वक चञ्चल आँखों से उनका अनुसरण करती हैं। ॥39 ॥**
- **उन गिरनेवालों के प्रति प्रेम होने से अप्सराएँ हाथों से छाती पीटती हैं और मानो महा-पीड़ा से पीड़ित होकर उनमें आसक्त रहती हैं ॥40 ॥**
- **स्वर्ग में रहनेवाले "हा, चैत्ररथ वन! हा दिव्य सरोवर! हा मन्दाकिनी! हा प्रेयसी!" इस तरह विलाप करते हुए आर्त होकर पृथ्वी पर गिरते हैं ॥41 ॥[56]**
- **यह देखते हुए कि उतने परिश्रम से प्राप्त होनेवाला स्वर्ग अनिश्चित व क्षणिक है और इससे वियोग होनेपर ऐसा दुःख होता है, ॥42 ॥**
- **जगत् में यह नियम विशेष रूप से ध्रुव है; जगत् का यह स्वभाव है और तो भी लोग इसे ऐसा नहीं देखते ॥43 ॥**
- **दूसरे, जिन्होंने काम (-वासना) से अपने को अलग रखा है, अपने मन में निश्चय करते हैं कि उनका निवास शाश्वत है; तो भी वे स्वर्ग से दीनतापूर्वक गिरते हैं ॥44 ॥**
- **नरकों में अत्यन्त कष्ट है, पशुओं के बीच परस्पर भक्षण होता है, प्रेतों के बीच भूख-प्यास का दुःख है, मनुष्यों के बीच तृष्णाओं का दुःख है ॥45 ॥**
- **प्रेम-मुक्त स्वर्गों में पुनर्जन्म का दुःख बहुत है। निरन्तर भ्रमणशील जीवलोक के लिए निश्चय ही कहीं भी शान्ति नहीं ॥46 ॥**
- **संसार-चक्र की यह धारा निराधार है और मरणशील है। इस तरह चारों ओर से घिरे हुए जीव कहीं विश्राम-भूमि नही पाते हैं ॥47 ॥**
- **इस तरह दिव्य दृष्टि से उसने पाँच जीव-लोकों का निरीक्षण किया और जीवन में कुछ भी सारवान् नही पाया, जैसे काटे जानेपर केले के पेड़ में कुछ सार नही मिलता है ॥48 ॥**
- **रात्रि का तीसरा पहर समीप आने पर, उस उत्तम ध्यान-ज्ञ ने जगत् के सच्चे स्वभाव के बारे मे ध्यान किया:— ॥49 ॥**

---

[55]- अध्याय 14 श्लोक 31 के बाद के पूरे अध्याय तिब्बती पाठ से जौन्स्टन ने English में अनुवाद किये जिनका हिन्दी अनुवाद सूर्यनारायण चौधरीजी द्वारा किया गया।

[56]- हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये ।
इत्यार्था विलपन्तोऽपि गां पतन्ति दिवौकसः ॥—सौ० ग्यारह 50 ।

- "अहो! जीवित प्राणी केवल थकावट पाते हैं, बार-बार जन्म लेते हैं, बूढ़े होते हैं, मरकर चले जाते हैं और फिर जन्म लेते हैं ॥50 ॥
- और मनुष्य की दृष्टि काम व मोहान्धकार से ढकी रहती है और अपनी अन्धता की अधिकता से वह इस महादु:ख से निकलने का मार्ग नही जानता है" ॥51 ॥
- इस तरह विचार कर उसने अपने मन में सोचा, "सचमुच में यह क्या है, जिसका अस्तित्व जरा-मरण का कारण है?" ॥52 ॥
- सत्य की गहराई तक प्रवेश कर उसने समझा कि जन्म होने से जरा-मरण की उत्पत्ति होती है ॥53 ॥
- उसने देखा कि शिर होनेपर ही शिर-दर्द सम्भव है, क्योंकि वृक्ष का जन्म होनेपर ही यह काटकर गिराया जा सकता है ॥54 ॥
- तब उसने फिर सोचा, "यह जन्म किससे होता है?" तब उसने ठीक-ठीक देखा कि कर्मभव से जन्म होता है ॥55 ॥
- अपनी दिव्य दृष्टि से उसने देखा कि प्रवृत्ति (=जीवन) कर्म से होती है, न कि स्रष्टा से या प्रकृति से या आत्मा से या अकारण ही ॥56 ॥
- जैसे बाँस की पहली गिरह बुद्धिमानी से काटनेपर सब तेजी से ठीक हो जाता है (अर्थात् शेष बाँस अच्छी तरह चीरा जाता है), वैसे ही उसका ज्ञान उचित क्रम से बढ़ा ॥57 ॥
- तब ऋषि ने भव का कारण निश्चित करने में अपना मन लगाया। तब उसने देखा कि भव का कारण उपादान में पाया जाता है ॥58 ॥[57]
- जीवन के विविध शील-व्रतों, काम, आत्मवाद और असम्यक् दृष्टि ग्रहण करने से यह कर्म (उपादान) होता है, जैसे जलावन ग्रहण करने से अग्नि उत्पन्न होती है ॥59 ॥
- तब उसने सोचा—"उपादान किस कारण से होता है?" तब उसने पहचाना कि उपादान का प्रत्यय (=कारण) तृष्णा में है ॥60 ॥
- जैसे हवा का साथ पाकर थोड़ी सी आग से जङ्गल प्रज्वलित हो जाता है, वैसे ही तृष्णा से काम आदि महापाप होते हैं ॥61 ॥
- तब उसने सोचा—"तृष्णा किससे होती है?" तब उसने निश्चय किया कि तृष्णा का कारण वेदना है ॥62 ॥[58]
- वेदनाओं से अभिभूत होकर मनुष्य उसकी तृप्ति के उपाय चाहते हैं; क्योंकि प्यास के अभाव में किसी को जल में आनन्द नही आता (और प्यास लगनेपर ही पानी की चाह होती है) ॥63 ॥
- तब उसने फिर ध्यान किया—"वेदना का स्रोत क्या है?" उसने, जिनसे वेदना का अन्त कर दिया था, देखा कि वेदना का कारण स्पर्श में है ॥64 ॥
- स्पर्श की व्याख्या है, "वस्तु, इन्द्रिय और मन का संयोग" जिससे वेदना वैसे ही उत्पन्न होती है, जैसे दो अरणियों और जलावन के संयोग से आग पैदा होती है ॥65 ॥
- तब उसने सोचा कि स्पर्श का भी कारण है। इसपर उसने जाना कि कारण छ: आयतनों (=काय, मन, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और रसना) में है ॥66 ॥
- अन्धा वस्तुओं को नही देखता है, क्योंकि उसकी आँखें मन के साथ उन (वस्तुओं) का संयोग नही करती; दृष्टि होनेपर संयोग होता है। इसलिए छ: आयतनों के होनेपर स्पर्श होता है ॥67 ॥
- फिर उसने छ: आयतनों का कारण जानने का निश्चय किया। तब उस कारण-ज्ञ ने नामरूप को कारण जाना ॥68 ॥
- जैसे अङ्कुर का अस्तित्व होनेपर ही पत्ते व तने का अस्तित्व होता है, वैसे ही नाम-रूप का अस्तित्व होनेपर ही छ: आयतन होते हैं ॥69 ॥
- तब उसने सोचा—"नाम-रूप का क्या कारण है?" इसपर उसने, जो ज्ञान के उस पार तक पहुँच चुका था, इसका कारण विज्ञान (=सञ्ज्ञा, चेतना) में देखा ॥70 ॥
- विज्ञान का उदय होनेपर नाम-रूप उत्पन्न होता है। बीज का विकास पूरा होनेपर अङ्कुर शारीरिक रूप धारण करता है ॥71 ॥
- फिर उसने सोचा—"विज्ञान किससे पैदा होता है?" तब उसने जाना कि नाम-रूप का आश्रय लेकर यह पैदा होता है ॥72 ॥
- तब निमित्त-नैमित्तिक का क्रम समझने के बाद उसने इसपर विचार किया; उसका मन उसके द्वारा स्थिर किये गये विचारों में विचरा और दूसरी बातों की ओर नही गया ॥73 ॥
- विज्ञान प्रत्यय है जिससे नाम-रूप पैदा होता है। और नाम-रूप आधार है जिसपर विज्ञान आश्रित है ॥74 ॥
- जैसे (जल में) नाव आदमी को ढोती है (और स्थल पर आदमी नाव को ढोता है), वैसे ही विज्ञान व नाम-रूप एक दूसरे के कारण हैं ॥75 ॥
- जैसे तपा हुआ लोहा तृण को प्रज्वलित करता है और प्रज्वलित तृण लोहे को तपाता है, वैसे ही उनका पारस्परिक कार्य-कारण सम्बन्ध है ॥76 ॥
- इस तरह उसने समझा कि विज्ञान से नाम-रूप का उदय होता है, नाम-रूप से आयतन पैदा होते हैं और आयतनों से स्पर्श का उदय होता है ॥77 ॥
- उसने जाना कि स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, और वैसे ही उपादान से भव उत्पन्न होता है ॥78 ॥

---

[57]- उपादान = भोग-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करनेवाले की तात्कालिक अवस्था—अ० को०।

[58]- वेदना = इन्द्रियों और विषयों के स्पर्श से होनेवाली अनुभूति; चक्षु-स्पर्श, श्रोत-स्पर्श, घ्राण-स्पर्श, जिह्वा-स्पर्श, काय-स्पर्श और मन-स्पर्श से उत्पन्न होनेवाली वेदना।

- भव से जन्म होता है, जन्म से जरा-मरण का उदय उसने जाना। उसने ठीक ठीक समझा कि प्रत्ययों से संसार उत्पन्न होता है ॥79 ॥
- तब उसे यह दृढ़ निश्चय हुआ कि जन्म-विनाश से जरा-मरण का निरोध होता है, भव-विनाश से स्वयं जन्म नष्ट होता है और उपादान के निरोध से भव बन्द हो जाता है ॥80 ॥
- फिर तृष्णा-निरोध से उपादान का निरोध होता है; यदि वेदना का अस्तित्व नही, तो तृष्णा का अस्तित्व नही; स्पर्श का नाश होने से वेदना पैदा नही होती; छ: आयतनों का अस्तित्व नही होनेपर स्पर्श का नाश होता है ॥81 ॥
- उसी प्रकार नाम-रूप का सम्यक् निरोध होनेपर छ: आयतन भी नष्ट हो जाते है; और विज्ञान का निरोध होने से नाम-रूप का निरोध होता है; और संस्कारों का निरोध होने से विज्ञान का निरोध होता है ॥82 ॥
- उसी प्रकार महर्षि ने समझा कि अविद्या के सर्वथा अभाव से संस्कारों का निरोध होता है। इसलिए उसने ज्ञेय को उचित रीति से जाना और वह संसार के सामने बुद्ध होकर खड़ा हुआ ॥83 ॥
- उस नर-श्रेष्ठ ने भव के ऊपर से नीचे तक कहीं आत्मा को नही देखा और परम ज्ञान के अष्टाङ्गिक मार्ग द्वारा, जो शुरु होकर जल्द ही इष्ट स्थान को पहुँचता है, शान्ति को प्राप्त किया, जैसे जलावन के जलनेपर अग्नि (शान्ति को प्राप्त करती है) ॥84 ॥
- तब पूर्णता प्राप्त करनेपर उसके मन में यह विचार हुआ—"मैंने यह पूर्ण मार्ग प्राप्त किया है, जिसपर भली-बुरी बातों को जाननेवाले पूर्व के महर्षि-वंश परमार्थ के लिए चले थे" ॥85 ॥
- चौथे पहर के उस क्षण में जब उषा का आगमन हुआ और जब सब चराचर शान्त थे, महर्षि ने अविनाशी पद प्राप्त किया, उत्तम नायक ने सर्वज्ञता प्राप्त की ॥86 ॥
- जब बुद्ध होकर उसने इस सत्त्व को जाना, तब मदिरा से माती कामिनी के समान पृथ्वी काँपी, सिद्ध-सङ्घों के साथ दिशाएँ दीप्त हुईं और आकाश में बड़ी बड़ी दुन्दुभियाँ बजी ॥87 ॥
- सुख देनेवाली हवा धीरे-धीरे बही, देव ने अनभ्र आकाश से जल-वृष्टि की और वृक्षों ने मानो उसका सम्मान करने के लिए, असमय में फल-फूल गिराये ॥88 ॥
- उस समय, जैसे स्वर्ग में, मान्दारव फूल, सुवर्ण व वैदूर्य के कमल व कुमुद आकाश से गिरे और उससे शाक्य-ऋषि का स्थान भर गया ॥89 ॥
- उस क्षण किसी को क्रोध नही हुआ, कोई बीमार नही था, किसी ने पाप-मार्ग का आश्रय नही किया, किसी ने मन में मद नही किया; जगत् इस तरह शान्त हुआ, जैसे उसने पूर्णता प्राप्त की हो ॥90 ॥
- मोक्ष में प्रवृत्त देव-सङ्घ प्रसन्न हुए, नीचे के लोकों में रहनेवाले जीव भी आनन्दित हुए। धर्म-प्रिय सङ्घ की समृद्धि से धर्म का चारों ओर प्रचार हुआ और जगत्, काम व अज्ञानरूप अन्धकार के ऊपर उठा ॥91 ॥
- इक्ष्वाकु-वंश के ऋषि, जो पहले मनुष्यों के शासक थे, राजर्षि व महर्षि उनकी सिद्धि से आनन्दित व विस्मित होकर अपने दिव्य विमानों में उनका सम्मान करते हुए खड़े हुए ॥92 ॥
- अदृश्य जीव-समूहों के महर्षिगण ने ऊँचे स्वर से उनकी स्तुति की और जीव-समूह इस तरह आनन्दित हुआ, जैसे उसकी बढ़ती हो रही हो। किन्तु मार वैसे ही निराश हुआ, जैसे किसी महाविपत्ति से पूर्व (निराशा होती है) ॥93 ॥
- तब सात दिनों तक, शारीरिक क्लेश से मुक्त होकर, निरन्तर निश्चल आँखों से अपने ही चित्त को देखते हुए वह बैठे रहे। "इस स्थान पर मैंने मुक्ति पाई" इस तरह चिन्तन करते हुए उसने अपनी हार्दिक अभिलाषा पूरी की ॥94 ॥
- तब ऋषि ने, जो कार्य-कारण का सिद्धान्त समझ चुके थे और जो अनात्मवाद की पद्धति में दृढ़तापूर्वक स्थिर थे, अपने को जगाया और महाकरुणा से युक्त होकर, जगत् को उसकी शान्ति के लिए अपनी बुद्ध-दृष्टि से देखा ॥95 ॥
- जगत् मिथ्या विचारों और व्यर्थ प्रयत्नों में नष्ट हो रहा है, इसकी काम-वासनाएँ अधिक हैं, और मोक्ष-धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है, यह देखकर उसने अविचल रहने का निश्चय किया ॥96 ॥
- तब अपनी पहली प्रतिज्ञा याद कर उसने शान्ति का उपदेश देने का निश्चय किया। इसपर उसने अपने मन में सोचा कि किस प्रकार कुछ लोगों की काम-वासना अधिक है और दूसरों की कम ॥97 ॥
- तब सुगत के मन ने शान्ति का उपदेश करने के लिए निश्चय किया है, यह जानकर स्वर्ग में रहनेवाले दो प्रधान देवों ने जगत् का हित चाहा और वे चमकते हुए उनके समीप गये ॥98 ॥
- पाप-परित्याग द्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध कर और उत्तम धर्म को अपना उत्तम साथी समझकर वह बैठे हुए थे; उन्होंने सम्मानपूर्वक उनकी स्तुति की और जगत् के हित के लिए ये वचन उनसे कहे:— ॥99 ॥
- "अहो! क्या संसार इस सौभाग्य के योग्य नही कि आपका चित्त जीवों के प्रति करुणा अनुभव करे? संसार मे विविध योग्यताओं के प्राणी हैं, कुछ की काम-वासना अधिक है, कुछ की काम-वासना कम है ॥100 ॥
- हे मुनि, आपने स्वयं भव-सागर पार कर लिया है, अब दु:ख में डूब रहे जगत् को उबारिये, और जैसे कोई बड़ा सेठ धन दान करता है वैसे ही दूसरों को भी आप अपने गुण दीजिए ॥101 ॥

- यहाँ कुछ लोग ऐसे हैं जो इह-लोक व पर-लोक में अपने लाभ की बात सोचकर केवल अपने ही हित के लिए काम करते हैं। किन्तु इस जगत् या स्वर्ग में ऐसा व्यक्ति दुर्लभ है, जो जगत् के हित के लिए काम करेगा" ॥102 ॥
- इस प्रकार महर्षि से कहकर, वे जिस रास्ते से आये थे उसी से दिव्य लोक को लौट गये। जब ऋषि ने भी इस भाषण पर विचार किया, तब जगत् की मुक्ति के लिए उनका निश्चय दृढ़ हुआ ॥103 ॥
- भिक्षाटन के समय चार दिशाओं के देवों ने ऋषि को भिक्षा-पात्र दिये; उन्हें ग्रहण कर गौतम ने धर्म के लिए उन्हें एक में परिणत कर दिया ॥104 ॥
- तब उस समय जाते हुए काफिले के दो सेठों ने अनुकूल देवता से प्रेरित होकर उदात्त चित्त से ऋषि की आनन्दपूर्वक पूजा की और पहले-पहल उन्हें भिक्षा दी ॥105 ॥
- मुनि ने सोचा कि अराड और उद्रक रामपुत्र दोनों के चित्त धर्मग्रहण करने के योग्य थे; किन्तु जब उसने देखा कि दोनों स्वर्गीय हो गये, तब उन्हें पाँच भिक्षुओं का खयाल हुआ ॥106 ॥
- तब, जैसे उगता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर करता है वैसे ही अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करने के लिए शान्ति का उपदेश करने की इच्छा से, गौतम उस धन्य-नगर की ओर गये, जो भीमरथ का प्रिय था और जिसके विविध वन वाराणसी से अलङ्कृत हैं ॥107 ॥[59]
- तब मुनि ने, जिनकी आँखें वृषभ की-सी थीं और जिनकी चाल मत्त हाथी की-सी थी, लोगों को विनीत करने के लिए काशी देश जाना चाहा और हाथी के समान समूचा शरीर घुमाकर उसने बोधि-वृक्ष पर अपनी निश्चल आँखें स्थिर कीं ॥108 ॥

॥अश्वघोष-कृत-बुद्धचरित महाकाव्य का "बुद्धत्व-प्राप्ति" नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त॥

[59]- भीमरथ:—काशी का एक राजा था।

पन्द्रहवाँ सर्ग[60]

धर्मचक्र-प्रवर्तन

1 अपना काम पूरा करने पर उन्हें शान्ति की शक्ति विदित हुई; और यद्यपि वे अकेले ही चल दिए, फिर भी ऐसा लगा जैसे बहुत-से लोग उनके साथ जा रहे हों। मार्ग में उन्हें देखकर एक पवित्र भिक्षु ने हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा:—

2 "जो लोग आसक्ति के अधीन हैं और जिनके इन्द्रियरूपी घोड़े दुर्दान्त हैं, उनके बीच आप आसक्ति-रहित और जितेन्द्रिय हैं; इसीलिए चन्द्रमा जैसी आपकी आकृति अभिनव प्रज्ञा के मधुर रस द्वारा आपका हार्दिक सन्तोष प्रकट कर रही है।[61]

3 आपका धैर्य-युक्त चेहरा यहाँ चमक रहा है, आप अपने इन्द्रियों के स्वामी बन गए हैं और आपकी आँखें बलवान् वृषभ की तरह हैं; अवश्य ही आप कृतार्थ हैं। हे आर्य, आपके गुरु कौन हैं? किनसे आपने यह सिद्धि (=मुक्ति) पाई है?"

4 इसपर उन्होंने उत्तर दिया—"मेरा गुरु कोई नही। मेरे लिए सम्माननीय कोई नहीं, निन्दनीय तो और भी कोई नहीं। मैंने निर्वाण प्राप्त किया है और मैं वैसा नही जैसे कि दूसरे हैं। धर्म (=परधर्म) के विषय में मुझे स्वयंभू जानो।[62]

5 मैंने उसे पूरा-पूरा समझ लिया है जो समझने योग्य है और जिसे दूसरों ने नही समझा है, इसलिए मैं बुद्ध हूँ। और क्योंकि मैंने क्लेशों को शत्रु की तरह जीत लिया है, मुझे शान्तिमय जानो।

[60]- इस सर्ग से अन्तिम सर्ग तक व्यवहृत निम्न-लिखित चिह्नों की व्याख्या यों है :—

*	यह चिह्न जिन श्लोकों के शुरु में है वे चीनी अनुवाद में नही हैं।
( )	कोष्ठक के भीतर के शब्द अर्थ स्पष्ट करने के लिए दिये गये हैं। ये शब्द कहीं-कहीं पूर्ववर्ती शब्दों के अर्थ हैं और कहीं-कहीं बाहर से दिये गये पूरक शब्द हैं।
(=)	कोष्ठक के भीतर बराबर के चिह्न से युक्त शब्द मूल संस्कृत शब्द समझकर दिये गये हैं।
(_)	कोष्ठक के भीतर रेखांकित पद अप्राप्त पद के स्थान पर अन्दाज से दिये गये हैं या चीनी अनुवाद से।
...	ऐसे चिह्नवाले रिक्त स्थानों के मूल पदों का अनुवाद अप्राप्त, दुर्बोध या संदेहजनक है।

[61]- जितेन्द्रिय की जगह अविकल अनुवाद होगा—"इन्द्रियरूपी घोड़ों का दमन कर लिया है"।

[62]- निर्वाण = "इसी शरीर में राग-द्वेष आदि चित्त-मलों का नष्ट होना क्लेश-निर्वाण है और क्लेश-रहित अर्हत् की मृत्यु होनेपर भविष्य में उसके जन्म की सम्भावना के नष्ट होने का नाम स्कन्ध-निर्वाण है; इस प्रकार निर्वाण के दो भेद किये जाते हैं।" —बुद्धवचन।

'चित्त-मल से रहित ऐसे द्युतिमान् पुरुष ही लोक में निर्वाण-प्राप्त हैं।'—धम्मपद छ: 14।

6 हे सौम्य, इस समय मैं अमर-धर्म की दुन्दुभि बजाने के लिए वाराणसी जा रहा हूँ, यश (से होनेवाले) सुख के लिए नही, अभिमान से नही, किन्तु दु:ख से पीड़ित साथी जनों के हित के लिए।

7 पूर्व में जीव-लोक को दु:खी देखकर मैंने ये प्रतिज्ञा की—स्वयं पार होनेपर मैं जगत् को पार लगाऊँगा, स्वयं मुक्त होनेपर मैं यहाँ रहनेवालों को मुक्त करूँगा।

8 इस जगत् में कुछ लोग धन (=योग्यता) पाकर केवल अपने लिए ही रखते हैं और इससे लज्जा को प्राप्त होते हैं; किन्तु (ज्ञान-) विशेष प्राप्त करने पर खुली दृष्टिवाले महापुरुष के लिए केवल वही धन है जिसे वह बाँटता है।

9 सूखी भूमि पर खड़ा रहनेवाला यदि धारा में बहते इन्सान को बाहर खींचने का प्रयास नहीं करे, तो वह वीर नही; और योग्यता पानेवाला यदि उसे पीड़ितों के बीच नहीं बाँटे, तो वह दाता नही।

10 स्वस्थ (=स्वयं में स्थित) व्यक्ति को सुलभ उपचारों से व्याधि ग्रस्त का उपचार करना चाहिए और मार्गपति को कुमार्ग से जानेवाले को उचित मार्ग बताना चाहिए।

11 जैसे कि जब प्रदीप जलता है तब इसके कारण अन्धकार नही हो सकता, वैसे ही जब बुद्ध अपना ज्ञान प्रदीप्त करता है तब मनुष्य काम के वशीभूत नहीं होते।

12 जैसे काष्ठ में अग्नि का रहना, आकाश में हवा का रहना, और पृथ्वी में जल का रहना नियत है, वैसे ही गया में मुनियों का बुद्धत्व-प्राप्ति और काशी में उनका उपदेश करना नियत है।"

13 तब धीरे-धीरे प्रशंसा करके उस भिक्षु ने बुद्ध को छोड़कर इच्छानुसार अपना रास्ता पकड़ा; किन्तु उत्कण्ठित होकर विस्मित आँखों से वह उन्हें बार-बार देखता रहा।

14 तब क्रम से मुनि ने कोश-गृह के भीतरी भाग के सदृश काशी नगरी को देखा, जिसे भागीरथी और वाराणसी एक साथ मिलकर इस तरह आलिङ्गन कर रहीं थीं, जैसे वे सखी हों।

15 शक्ति और गौरव से उज्जवल मुनि, सूर्य के समान चमकते हुए, मृगदाव में आए, जहाँ कोयलों की ध्वनि से गूँजते वृक्षों के बीच महर्षिगण रहते थे।[63]

16 तब वह कौण्डिन्य गोत्रवाला, महानाम, वाष्प, अश्वजित्, और भद्रजित्—ये पाँचों भिक्षु दूर से ही उन्हें देखकर आपस में ये वचन बोले—

17 "भिक्षु गौतम समीप आ रहा है, जो आराम-प्रियता के कारण तप से विमुख हो गया है। अवश्य ही हमें न तो उससे मिलना है और न उसका अभिवादन करना है; क्योंकि जो व्रत से विमुख हो गया है वह सम्मान के योग्य नहीं।

18 किन्तु यदि वह हम से बातचीत करना चाहे तो, हम अवश्य उससे बातचीत करेंगे; क्योंकि आर्य को अवश्य वैसा करना चाहिए, चाहे आगत अथिति (=तथागत) कोई भी हो।"

19 बुद्ध बैठे हुए भिक्षुओं की ओर आगे बढ़े, जिन्होंने इस तरह अपने विचार स्थिर किए थे; और जैसे-जैसे वह उनके समीप आते गए वैसे-वैसे वे अपना निश्चय तोड़ते गए।

20 उनमें से एक ने उनका चीवर ग्रहण किया और उसी प्रकार दूसरे ने हाथ जोड़कर उनका भिक्षा-पात्र ग्रहण किया। तीसरे ने उन्हें उचित आसन दिया और उसी तरह दूसरे दो ने पाँव धोने के लिए उन्हें जल दिया।

21 इस प्रकार उनकी अनेक परिचर्याएँ करते हुए उन सब ने उनसे गुरुवत् व्यवहार किया; किन्तु जब उन्होंने उनको गोत्र-नाम से पुकारना नहीं छोड़ा, तब भगवान् ने करुणापूर्वक उनसे कहा:—

22 "हे भिक्षुओं, पूज्य अर्हत् से पहले की तरह असम्मानपूर्वक मत बोलो; क्योंकि यद्यपि मैं सचमुच ही प्रशंसा व निन्दा से उदासीन हूँ, फिर भी मैं तुम्हें अ-पुण्यों (=अशुभों) से अलग कर सकता हूँ।

23 जगत् के हित के लिए बुद्ध बोधि प्राप्त करता है, अत: वह सदा सब जीवों के हित के लिए कार्य करता है; और जो अपने गुरु को नाम लेकर पुकारता है उसके लिए धर्म उच्छिन्न हो जाता है, जैसे माता-पिता का असम्मान करने से।"

24 इस तरह वक्ता-श्रेष्ठ महर्षि ने अपने हृदय की करुणा से उन्हें उपदेश दिया; किन्तु अ-सार और मोह द्वारा बहकाये जाने के कारण उन्होंने सिकोड़ते मुखों से उत्तर दिया:—

25 "हे गौतम, तुमने परम उत्कृष्ट तपों द्वारा तत्त्व को नहीं समझा और यद्यपि कष्ट से ही लक्ष्य प्राप्त होता है, फिर भी तुम आराम-प्रिय हो। कैसे कह सकते हो— मैंने (-तत्त्व को) देखा है?"

26 जब भिक्षुओं ने तथागत की सच्चाई के बारे में इस प्रकार अविश्वास प्रकट किया, तब मार्ग-दर्शी ने बोधि-मार्ग को उस (-तत्त्वमार्ग) से भिन्न देखते हुए उनसे मार्ग की व्याख्या इस प्रकार की:—

27 "अपने को क्लेश देनेवाले अज्ञानी और वैसे ही इन्द्रियों-विषयों में आसक्त रहनेवाले, इन दोनों को तुम्हें दोष में स्थित समझना चाहिए; क्योंकि उन्होंने जो मार्ग ग्रहण किए हैं वे अमरत्व की ओर नहीं ले जाते।

28 अज्ञानी का चित्त जब तप नामक शारीरिक क्लेशों से आक्रान्त और संक्षुब्ध (=उतावला) होता है तब वह मूढ (=सञ्ज्ञाहीन) हो जाता है और साधारण लोक-व्यवहार को भी नहीं जान सकता है, फिर तत्त्व के अतीन्द्रिय मार्ग को कहाँ से जानेगा?

[63]- मृगदाव=मृगों का वन, सारनाथ का प्राचीन नाम।

29 जैसे इस जगत् में अन्धकार के विनाश के लिए प्रकाश पाने के हेतु से कोई जल नही गिराता, वैसे ही ज्ञानाग्नि द्वारा (-नष्ट होनेवाले) अज्ञानरूपी अन्धकार के विनाश के लिए शारीरिक क्लेश पूर्व-आवश्यकता नही है।

30 जैसे अग्नि चाहनेवाला व्यक्ति काठ को छेदकर या उसे चीरकर अग्नि नही पाता। किन्तु उचित साधनों के सहारे से ही वह सफल होता है, वैसे ही योग से अमरत्व प्राप्त होता है, क्लेशों से नहीं।

31 वैसे ही जो लोग अनर्थकारी काम-वासनाओं में आसक्त रहते हैं, उनके चित्त, तम व रज से आक्रान्त हो जाते हैं, वे (तर्कज्ञान-) शास्त्र भी नहीं समझ सकते, फिर निरोध का राग-रहित मार्ग कहाँ से समझेंगे? अर्थात् इस परधर्मरूपी रुकावट का राग-रहित मार्ग कहाँ से समझेंगे?

32 जैसे रोग से अभिभूत व्यक्ति अ-स्वास्थ्यकर भोजन करके रोग-मुक्त नही होता, वैसे ही अज्ञानरूपी रोग से अभिभूत इन्सान काम-वासनाओं में आसक्त होकर शान्ति कहाँ से पाएगा?

33 जैसे जलावन (=अग्नि) के लिए सूखी घास रहने पर और हवा से वीजित (=प्रेरित) होनेपर आग नही बूझती है, वैसे ही राग को साथ व काम का आश्रय पाकर चित्त शान्त नही होता है।

34 इन दोनों मार्गों (=तप व भोग) को छोड़कर मैंने इनसे अलग— 'मध्यम-मार्ग' पाया है—जो दुःख का अन्त करके प्रीति-सुख के परे चला जाता है।

35 सम्यक् दृष्टिरूपी सूर्य इसे प्रकाशित करता है, सम्यक् सङ्कल्परूपी रथ इस पर चलता है, ठीक-ठीक बोली गई सम्यक् वाणी (इसके-) विहार (=विश्राम-स्थल) हैं, और यह सम्यक् कर्मान्त (=सदाचार, कर्मों का अन्त) के सौ-सौ उपवनों से प्रसन्न है।

36 यह सम्यक् आजीविकारूपी सुभिक्षा (=सुलभ भिक्षा) का उपभोग करता है और सम्यक् व्यायाम (=प्रयत्न) रूपी सेना व परिचारक-गुण से युक्त है; यह सम्यक् स्मृति (=सावधानी, जागरूकता) रूपी किलेबन्दी से सब ओर सुरक्षित है और (सम्यक्-) समाधि (=मानसिक एकाग्रता) रूपी शय्या व आसन से सुसज्जित है।

37 इस जगत् में यह ऐसा परम उत्तम अष्टाङ्गिक-मार्ग है, जिसके द्वारा जरा-मरण व रोग से मुक्ति मिलती है।

38 यह केवल दुःख है, यह समुदय (=कारण) है, यह निरोध है और यह इसका मार्ग; इस प्रकार निर्वाण के हेतु अभूतपूर्व और अश्रुतपूर्व धर्म-पद्धति के लिए मेरी दृष्टि विकसित हुई है।

39 जन्म जरा रोग और मरण भी, इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग, अभिलषित अन्त (=लक्ष्य, वस्तु) की अप्राप्ति—ये विविध दुःख लोगों को सहने पड़ते हैं।

40 जिस किसी अवस्था में मुनष्य हो, चाहे वह काम-वासनाओं के अधीन हो या उसने अपने को जीत लिया हो, चाहे वह शरीर-धारी हो या नहीं, जो कोई भी गुण उसे नहीं है सङ्क्षेप में उसी को दुःख जानो।

41 मेरा यह निश्चित मत है कि जैसे ज्वालाओं के शान्त होनेपर, अति अल्प अग्नि भी उष्ण होने का अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ती है, वैसे ही शान्ति आदि से अति सूक्ष्म होनेपर भी आत्मभाव दुःखधर्मा ही रहता है।

42 जानो कि जैसे भूमि जल बीज व ऋतु, अङ्कुर के कारण-स्वरूप हैं, वैसे ही काम-राग आदि दोष तथा दोषों से होनेवाले कर्म, दुःख के कारण-स्वरूप हैं।

43 स्वर्ग में या नीचे (के लोक में), भव-धारा का कारण काम-राग आदि दोषों का समूह है और इहलोक और परलोक में हीन, मध्य व ऊँच के भेद का मूल कारण कर्म है।

44 दोषों के विनाश से संसाररूपी चक्र का कारण बन्द हो जाता है और कर्म का क्षय होने से दुःख का अन्त होता है; क्योंकि किसी दूसरी चीज' के होने से सब चीजों का प्रादुर्भाव होता है, इसलिए उस दूसरी चीज' का लोप होने से उन सबका अन्त होता है।

45 जानो कि निरोध वह है जिसमें न जन्म है, न जरा, न मरण, न अग्नि, न पृथ्वी, न जल, न शून्य (आकाश), न वायु, और जो अनादि अनन्त आर्य अहार्य (जो हरण नही किया जा सके) सुखमय (=सुखं) और अविनाशी (=अक्षर) है।

46 मार्ग वह है जिसे अष्टाङ्गिक कहा गया है इसे छोड़कर (लक्ष्य-) प्राप्ति (=अधिगम) का (दूसरा) उपाय नही। इस मार्ग को नहीं देखने के कारण लोग विविध मार्गों में भटकते रहते हैं।

47 इस विषय में मैंने इस प्रकार निश्चय किया है कि दुःख की पहचान करनी चाहिए, कारण का त्याग करना चाहिए, निरोध का अनुभव करना चाहिए और मार्ग की भावना करनी चाहिए।

48 मुझमें दृष्टि (=चक्षु, ज्ञान) इस तरह विकसित हुई कि यह दुःख पहचाना गया और कारण छोड़ा गया, उसी तरह निरोध का अनुभव हुआ और उसी तरह इस मार्ग की भावना की गई।

49 जबतक आर्य सत्य की ये चार अवस्थाएँ मैंने नहीं देखीं, तबतक इस जगत् में मुक्त होने का दावा मैंने नही किया और अपने में लक्ष्य-प्राप्ति भी नही देखी।

50 किन्तु जब मैंने आर्य सत्यों को अच्छी तरह जाना और उन्हें जानकर कर्तव्य कार्य को किया, तब इस विषय में मैंने मुक्त होने का दावा किया और देखा कि मैंने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है।"

51 जब करुणामय महर्षि ने इन शब्दों में वहाँ इस तरह धर्मोपदेश किया, तब उस कौण्डिन्य गोत्रवाले और सौ देवताओं ने पवित्र और निर्मल (=विरज) दृष्टि पाई।

52 जब उसने सब कर्त्तव्य (करणीय) पूरा किया, तब सर्वज्ञ ने वृषभ के-से ऊँचे स्वर में पूछा– "क्या तुमने ज्ञान प्राप्त किया?" उस महात्मा ने उत्तर दिया– "हाँ, मैंने आपका उत्तम विचार जाना।"

53 तब "हाँ, मैंने जाना" यह कहनेवाले कौण्डिन्य ने जगत् में (पहले-पहल) उस पद का ज्ञान ग्रहण किया और आर्य गुरु तथागत के भिक्षुओं में प्रधान धर्म-ज्ञाता हुआ।

54 पृथ्वी पर रहनेवाले यक्षों ने यह शब्द सुनकर गूँजती वाणी में घोषणा की–"यह ध्रुव है कि श्रेष्ठ दृष्टिमान् ने सब जीवों की अमर शान्ति के लिए धर्म-चक्र को अच्छी तरह चलाया।

55 शील इसके आरे (=अणि, कीलक) हैं, शम एवं विनय इसकी पुट्ठियाँ (=नेमि) हैं, यह बुद्धि (?) में विशाल है और स्मृति (जागरूकता) एवं मति (ज्ञान) से स्थिर है, लज्जा (=ह्री) इसकी नाभि है। गम्भीरता असत्य-अभाव तथा उपदेश की उत्तमता के कारण त्रिभुवन में उपदिष्ट होते समय यह धर्म-चक्र अन्य शास्त्रों द्वारा उलटाया नही जा सकता।"

56 पर्वत पर के यक्षों के शब्द सुनकर स्वर्ग के देव-सङ्घों ने ध्वनि ग्रहण की ओर उसी तरह परलोक से परलोक को ब्रह्मलोक तक यह जोरो से चढ़ गई।

57 महर्षि से 'तीनों लोग अनित्य हैं' यह सुनकर कुछ संयतात्मा (=आत्मवान्) देवगण (=दिवौकस्) इन्द्रिय-विषयों से विरत हुए और चित्त में संवेग होने के कारण उन्होंने तीन भवों के विषय में शान्ति पाई।[64]

58 जब तीन लोकों (त्रिभुवन) की परम शान्ति के लिए स्वर्ग में और पृथ्वी पर धर्म-चक्र उस तरह चलाया गया, तब उस मुहूर्त में अनभ्र आकाश से फूलों से भरी जल-वृष्टि हुई और तीन लोकों के निवासियों ने बड़ी बड़ी दुन्दुभियाँ बजाईं॥

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "धर्मचक्र-प्रवर्तन" नामक 15वाँ सर्ग समाप्त॥

सोलहवाँ सर्ग

अनेक शिष्य

1 तब सर्वज्ञ ने अश्वजित् तथा अन्य संयतचित भिक्षुओं को निर्वाण-धर्म में स्थापित किया।

2 उन पञ्च-वर्गीय (भिक्षुओं) से घिरे (बुद्ध) आकाश के उस चन्द्रमा के समान शोभित हुए, जो सूर्याधिपति (जिसका अधिपति सूर्य है) नक्षत्र (हस्ता) के पाँच तारों से युक्त हो।

3 उस समय यश नामक कुल-पुत्र (या श्रेष्ठी के पुत्र) ने असावधानी से सोई हुई कुछ स्त्रियों को देखा और इससे उसके चित्त में संवेग हो गया।

4 "यह सब इतना कृपण है", यह वचन कहकर, उज्जवल आभूषणों से चमकता हुआ, वह वहाँ गया जहाँ बुद्ध थे।

5 उसे देखकर मनुष्यों के आशय और दोष जाननेवाले तथागत ने कहा– "निर्वाण के लिए कोई निश्चित समय नही, यहाँ आओ और सौगत्य प्राप्त करो।"

6 जिनका यश दूर तक फैला हुआ था उनके ये वचन सुनकर, आतप से पीड़ित होकर नदी में प्रवेश करनेवाले के समान, उसने अत्यन्त मानसिक शान्ति पाई।

7 तब पूर्व कारण के बल से उसने उसी शरीर में (अर्थात् गृहस्थ वेष में ही) शरीर व मन से अर्हत्-पद (=अर्हत्त्व) का अनुभव किया।

8 जैसे खारे जल से स्वच्छ हुआ वस्त्र रङ्ग ग्रहण करता है वैसे ही उस निर्मल-चित्त ने सद्धर्म को सुनते ही पूरा-पूरा समझ लिया।

9 उन वक्ता-श्रेष्ठ (=वदतां वरः) ने, जो अपना कार्य पूरा कर चुके थे और जो अच्छे लक्ष्य को जानते (=जानन् सदर्थे) थे, अपने वस्त्रों के कारण उसे वहाँ लज्जित होते देखकर कहा:–

10 "भिक्षु-वेष धर्म का कारण नही है; जो सब जीवों को समान भाव से देखता है और जिसने शम एवं विनय द्वारा अपने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह आभूषण पहनकर भी धर्म में विचरण करता है।

11 जो शरीर से घर को छोड़ता है चित्त से नही और जो काम के अधीन है, वह वन में रहने पर भी गृहस्थ समझा जाता है।

12 जो चित्त से जाता है किन्तु शरीर से नही और जो अनात्म है, वह घर में रहने पर भी वनवासी समझा जाता है।

13 जिसने यह सिद्धि पाई है वह मुक्त कहा जाता है, चाहे घर में रहता हो या भ्रमणशील भिक्षु हो गया हो।

14 जैसे विजय चाहनेवाला (राजा) विपक्षी सेना को जीतने के लिए कवच पहनता है, वैसे ही दोषों की विपक्षी सेना को जीतने के लिए आदमी (भिक्षु-) वेष ग्रहण करता है।"

15 तब तथागत ने उसे कहा–"यहाँ आओ, भिक्षु"। यह वचन सुनकर वह भिक्षु-वेष पहने हुए आया।

16 तब उसने अनुरक्त होने के कारण उसके मित्रों ने, जो संख्या में 50 और 3 और 1 (=54) थे, धर्मलाभ किया।

17 जैसे क्षार से लिपे वस्त्र, जल के स्पर्श से तुरत साफ हो जाते हैं, वैसे ही पूर्व युगों में उनके कर्म पवित्र हो चुकने के कारण वे तुरत पूत हो गए।

18 उस समय शिष्यों की पहली टोली में कुल 60 हुए, जो अर्हत् भी थे; और तब अर्हतों द्वारा सम्यक् रूप से सम्मानित होकर उन अर्हत् ने उन्हें यों कहा:–

---

[64]- लोक (= भव) तीन हैं; रूप अरूप और काम।

19 "हे भिक्षुओं, तुम सब दु:ख के परे चले गए हो और अपना महान कार्य पूरा कर चुके हो। अब उनकी मदद करनी चाहिए, जो इस समय भी दु:खी है।

20 इसलिए तुम सब अकेला-अकेला इस पृथ्वी पर घूमो और लोगों के दु:ख के प्रति दया-भाव से उन्हें धर्मोपदेश करो।

21 मैं स्वयं राजर्षियों की निवास-भूमि गया (=गय) की ओर काश्यप ऋषियों को विनीत करने के लिए जा रहा हूँ, जो अपनी सिद्धियों के कारण दिव्य शक्तियों से युक्त (=ऋद्धिमान्) हैं"।

22 तब उन (भिक्षुओं) ने, जिन्हें तत्त्व का दर्शन हो चुका था, उनकी आज्ञा से सब दिशाओं में प्रस्थान किया और द्वन्द्वों से मुक्त महर्षि सुगत गया की ओर गये।

23 तब क्रम से वह वहाँ पहुँचे और धर्म-वन (तपोवन?) के समीप जाकर उन्होंने कश्यप को मूर्त्त तप के समान वहाँ रहते देखा।

24 यद्यपि पर्वतों पर और उपवनों में रहने के स्थान थे, तो भी दशबल-धारी शास्ता ने उसे विनीत करने की इच्छा से उससे निवास-स्थान माँगा।

25, 26 ... ...[65]

27 तब सिद्ध को नष्ट करने के लिए बुरे आशय (=विषमस्थ) से उसने उन्हें अग्नि-शाला दी, जहाँ एक बड़ा साँप रहता था।[66]

28 रात को विषाक्त दृष्टिवाले साँप ने महामुनि को शान्त और निर्भय होकर वहाँ अपनी ओर देखते देखा और क्रोध से वह उनके ऊपर फुत्कार उठा।

29 उसके क्रोध से अग्नि-गृह में आग लग गई, किन्तु अग्नि ने मानो डर के मारे महामुनि के शरीर का स्पर्श नही किया।

30 जैसे महाकल्प के अन्त में अग्नि के शान्त होनेपर ब्रह्मा बैठा हुआ प्रदीप्त होता है, वैसे ही गौतम, अग्निशाला के सर्वथा प्रज्वलित होनेपर भी निर्भय (असंविग्न) रहे।

31 जब बुद्ध वहाँ बिना किसी हानि के निश्चल होकर बैठे रहे, तब साँप को विस्मय हुआ और उसने ऋषि-श्रेष्ठ को प्रणाम किया।

32 मुनि को वहाँ बैठा हुआ समझकर मृगदाव (तपोवन ?) के लोग अत्यन्त आर्त एवं दयाभिभूत हुए कि वैसा भिक्षु जल गया होगा।

33 रात के बीतने पर विनायक ने अपने भिक्षा-पात्र में साँप को शान्तिपूर्वक ले लिया और काश्यप को दिखाया।

34 बुद्ध की शक्ति देखकर वह विस्मित हुआ, तो भी उसका विश्वास बना रहा कि शक्ति में उससे बढ़कर कोई नहीं।

35 तब उसका यह विचार जान, शान्त ऋषि ने समयानुकूल विविध रूप धारण कर उसके हृदय को पवित्र किया।

36 इसपर उसने ऋद्धि में बुद्ध को अपने से बड़ा माना और उसने उनका धर्म लाभ करने का निश्चय किया।

37 औरुविल्व काश्यप का आकस्मिक हृदय-परिवर्तन देखकर उसके 500 अनुयायियों ने भी धर्म का आश्रय लिया।

38 जब गय (काश्यप) और नदी (काश्यप) का भाई (औरुविल्व काश्यप) अपने शिष्यों सहित (दु:ख के) पार चला गया और वल्कल वस्त्र फेंक चुका, तब वे दोनों (भाई) भी वहाँ पहुँचे और मार्ग पर आरुढ़ हुए।

39 तब गयशीर्ष पर्वत पर अनुयायियों सहित तीनों काश्यप भाईयों को ऋषि ने निर्वाण-धर्म का उपदेश दिया:—

40 "मोहरूपी धुएँ से ढ़की हुई तथा वितर्कों से पैदा होनेवाली राग-द्वेषरूपी अग्नि से सारा जगत् विवश होकर जल रहा है।

41 शान्ति एवं नेतृत्व के बिना इस तरह दोषों की अग्नि से जलता हुआ यह (जगत्) जरा-मरण व रोग की अग्नियों से बार-बार निरन्तर उपभुक्त (नष्ट) हो रहा है।

42 इस जगत् का निराश्रय व विविध अग्नियों से दग्ध देखकर, बुद्धिमान् पुरुष को चित्त एवं इन्द्रियों से युक्त अपने शरीर पर संवेग होता है।

43 संवेग से उसे निष्कामता होती है और निष्कामता से मुक्ति, तब मुक्त होकर वह अपने को सब प्रकार से मुक्त हुआ जानता है।

44 भव-धारा का पूरा-पूरा परीक्षण कर, वह सन्न्यास ग्रहण करता है और अपना कार्य पूरा करता है; उसके लिए फिर जन्म नही"।

45 जब हजार भिक्षुओं ने भगवान् का यह उपदेश सुना, तब अनुपादान (उपदान के अभाव) के कारण उनके चित्त तुरत आस्रवों (मलों) से मुक्त हो गये।

46 तब अत्यन्त बुद्धिमान् (=महाप्रज्ञ) तीनों कश्यपों के साथ बुद्ध इस तरह शोभित हुए, जैसे धर्म का अवतार, दान, शील और विनय से घिरा हो।

47 तपोवन उन उत्तम ... से वञ्चित होकर निष्प्रभ हो गया, जैसे धन धर्म और आनन्द से रहित रोगी मनुष्य का जीवन फीका पड़ जाता है।

---

[65]- इनके फुटनोट में जौन्स्टन ने लिखा है:—

There Seems to be a lacuna of uncertain length here, C giving a long account of the conversation. The line which W takes as the last of 26, I take to 24, understanding *rub-tu-berten* as *pratiśraya*.

[66]- अग्नि-शाला = पानी गर्म करने का घर—बुद्धचर्या।

48 तब मगध-राज के साथ अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा याद कर, उन सबसे घिरे हुए ऋषि, राजगृह की ओर गये।

49 तब वेणुवन में तथागत का आगमन सुनकर, राजा अपने मन्त्रियों के साथ उन्हें देखने के लिए गया।

50 तब विस्मय से विकसित आँखोंवाली जनता, जीवन में अपनी अपनी स्थिति के अनुसार पैदल या सवारी पर पहाड़ी रास्ते से बाहर आई।

51 दूर से ही उत्तम ऋषि को देखकर, मगध-राज उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए शीघ्रतापूर्वक अपने रथ से उतर गया।

52 चँवर, व्यजन और परिजनों को पीछे छोड़, राजा ऋषि के पास गया, जैसे इन्द्र ब्रह्मा के पास जा रहा हो।

53 उसने सिर नवाकर महर्षि को प्रणाम किया, जिससे उसका मुकुट काँप उठा और उनकी अनुमति पाकर वह कोमल तृणों से आवृत पृथ्वी पर बैठ गया।

54 वहाँ लोगों के मन में हुआ—"अहो! शाक्य-ऋषि का प्रभाव! क्या ऋषि काश्यप भी उनके शिष्य हो गये"?

55 तब उनके मन (की बात) जानकर, बुद्ध ने काश्यप से कहा— "काश्यप कौन गुण देखकर तुमने अग्नि की पूजा छोड़ी"?

56 बलवान् बादल की-सी आवाज में जब गुरु ने उसे इस तरह उत्तेजित किया, तब हाथ जोड़कर भरी सभा में उसने जोरों से कहा:—

57 "अग्नि की पूजा करने का और उसमें आहुति देने का फल है संसार-चक्र में प्रवृत्ति एवं विविध मानसिक आधियों की सङ्गति; इसलिए मैंने अग्नि (-पूजा) छोड़ी।

58 विषयों की तृष्णा से, मन्त्रोच्चारण करने से और आहुति आदि देने से विषयों की तृष्णा दृढ़तर ही होती है; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी।

59 मन्त्रोच्चरण एवं अग्नि-आहुति द्वारा जन्म से मुक्ति नही होती और जन्म का दु:ख महान् है; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी।

60 पूजा-कर्म और तप से श्रेय प्राप्त होता है, यह मिथ्या विश्वास है; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी।

61 मैं जन्म-मरण से मुक्त, सुखमय व अविनाशी (=अक्षर) पद को जानता हूँ; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी।"

62 विनीत (दीक्षित) हुए काश्यप का वैसा श्रद्धोत्पादक एवं तथ्यपूर्ण वचन सुनकर विनायक ने उसे कहा:—

63 "हे महाभाग, तुम्हारी विजय हो; तुमने विविध धर्मों में सबसे उत्तम धर्म प्राप्त किया, निस्सन्देह यह तुमने बड़ा अच्छा किया है।

64 जैसे महा-ऐश्वर्यशाली व्यक्ति अपने विविध कोषों का प्रदर्शन करता है वैसे ही अपनी विविध ऋद्धियाँ (दिव्य शक्तियाँ) दिखाकर सभा के लोगों के हृदय उत्तेजित करो"।

65 तब काश्यप ने कहा—"बहुत अच्छा" और अपने को अपने में ही सङ्कुचित कर पवन-पथ (आकाश) में पक्षी के समान उड़ गया।

66 वह ऋद्धि-विशारद आकाश में खड़ा रहा, जैसे वृक्ष के तने पर (खड़ा हो), इधर-उधर घूमा जैसे पृथ्वी पर (घूम रहा हो), बैठ गया जैसे शय्या पर (बैठा हो), और तब पड़ रहा।

67 कभी वह अग्नि के समान प्रज्वलित हुआ, कभी मेघ के समान पानी बरसाया, कभी एक ही साथ प्रज्वलित हुआ और पानी बरसाया।

68 जब चमकते हुए और पानी बरसाते हुए उसने लम्बे पग बढ़ाये, तब वह उस बादल के समान शोभित हुआ जो पानी बरसा रहा हो और चमकती बिजली से उज्जवल हो।

69 उसमें लगी हुई आँखों से लोगों ने उसे विस्मयपूर्वक देखा और उसे सम्मानपूर्वक प्रणाम करते हुए उन्होंने सिंह-गर्जन किये।

70 तब ऋद्धि-प्रदर्शन बन्द कर उसने शिर झुकाकर ऋषि को प्रणाम किया और कहा "मैं शिष्य हूँ, जिसने यह काम किया और मेरे गुरु (ये) भगवान् (बुद्ध) है"।

71 काश्यप, महर्षि को इस प्रकार प्रणाम कर रहा है, यह देखकर मगध-निवासियों ने निश्चय किया कि सुगत ही सर्वज्ञ हैं।

72 तब श्रेय में रमनेवाले उन (सुगत) ने भूमि को तैयार समझा और धर्म को सुनने के लिए इच्छुक श्रेण्य (बिम्बसार) से उसके हित के लिए कहा—

73 "हे पृथ्वीपति, हे जितेन्द्रिय महात्मन्, चित्त और इन्द्रियों के साथ रूप का उदय और अस्त (=व्यय) होता है।

74 धर्म-वृद्धि के लिए उनका उदय और व्यय ठीक ठीक जानना चाहिए और इन दो बातों को ठीक ठीक जानकर शरीर को ठीक ठीक समझो।

75 शरीर को उदय और व्यय के अधीन जान लेने से उपादान बिलकुल नही रहता और "मैं" या "मेरा" का भाव नही होता।

76 मानसिक कल्पनाओं के बाहर शरीर और इन्द्रियों की वास्तविकता नही है; दु:ख होकर वे उदय होते हैं, दु:ख होकर वे अस्त होते हैं।

77 यह सब "मैं" या "मेरा" नही है, ऐसा समझने पर परम अविनाशी निर्वाण प्राप्त होता है।

78 "मैं" आदि का अस्तित्व मानने के दोषों से मनुष्य मिथ्या आत्म-वाद में बँध जाते हैं और "आत्मा नही है" यह देखने पर वे कामनाओं से मुक्त होते हैं।

79 मिथ्या दृष्टि बाँधती है, सम्यक् दृष्टि मुक्त करती है। "आत्मा है" इस विचार में रहनेवाला यह जगत् सत्य को ग्रहण नही करता।

80 यदि आत्मा रहती, तो यह नित्य या अनित्य होती; दोनों (मतों) में ही बड़े-बड़े दोष हैं।

81 यदि इसे अनित्य माना जाय, तो कर्म-फल नही होगा; और पुनर्जन्म नही होने से निर्वाण हमें अनायस ही प्राप्त होगा।

82 यदि यह नित्य और सर्व-व्यापी रहती, तो न जन्म होता न मरण; क्योंकि सर्वव्यापी और नित्य शून्य का न उदय है न व्यय।

83 यदि ये आत्मा स्वभाव से सर्वव्यापी रहती तो कोई स्थान नहीं जहाँ यह नही होती; और इसका अस्त होनेपर सबको साथ ही निर्वाण प्राप्त होता।

84 स्वभाव से सर्वव्यापी होने के कारण यह कर्मशील नही होती और कर्म नही किया जाता; और कर्म नहीं करने से फल के साथ उन (कर्मों) का संयोग कैसे होता?

85 यदि आत्मा कर्म करती तो यह अपने को दु:ख नही देती; क्योंकि अपना स्वामी आप होकर कौन अपने को दु:ख देगा?

86 आत्मा को नित्य मानने से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह परिवर्तनशील नही; किन्तु क्योंकि यह दु:ख-सुख अनुभव करती है, अत: हम देखते हैं कि इसमें परिवर्तन होता है।

87 ज्ञान-प्राप्ति और दोष-परित्याग से निर्वाण होता है; और क्योंकि आत्मा अकर्मशील एवं सर्वव्यापी है; इसलिए इसे निर्वाण प्राप्त नही होगा।

88 यह नही कहना चाहिए कि आत्मा है, क्योंकि वास्तव में इसका अस्तित्व नही है।

89 करणीय कार्य क्या है और कौन इसे करता है– यह स्पष्ट नही है, अत: आत्मा इस प्रकार (नित्य या अनित्य होकर) रहती है, ऐसा नहीं कह सकते; और इसलिए इसका अस्तित्व नही।

90 हे उत्तम श्रोता, इस उपदेश को सुनो कि भव-धारा इस शरीर को—जिसमें न करनेवाला है, न वेदना अनुभव करनेवाला (=वेदक), और न आदेश देनेवाला—धारण करती हुई कैसे बह रही है।

91 छः इन्द्रियों और उनके छः विषयों के आधार पर छः प्रकार की चेतना (सञ्ज्ञा, Consciousness) उत्पन्न होती है; और प्रत्येक तीन के लिए अलग-अलग स्पर्श उत्पन्न होता है; जहाँ से स्मृति इच्छा व कर्म प्रवृत्त होते हैं।

92 जैसे सूर्यकान्त-मणि जलावन और सूर्य का संयोग होने के कारण अग्नि उत्पन्न होती है, वैसे ही व्यक्ति पर अवलम्बित सब कर्म भी बुद्धि (Consciousness), इन्द्रियों और विषयों के आधार पर होते हैं।

93 जैसे बीज से अङ्कुर पैदा होता है और तो भी अङ्कुर का तादात्म्य बीज से नही होता और दो में से कोई एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता, वैसे ही शरीर इन्द्रियों और चेतना का पारस्परिक सम्बन्ध है।"

94 जब मगध-राज ने मुनि-वर का परमार्थपूर्ण नैष्ठिक उपदेश सुना, तब उसमें निर्मल बिरज एवं अद्वितीय धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

95 मुनि का उपदेश सुनकर मगध की राजधानी में रहनेवाले बहुत-से लोग तथा स्वर्ग के निवासी देवगण भी उस सभा में विशुद्धचित्त होकर अक्षर व अमर पद को प्राप्त हुए॥

॥अश्वघोष-कृत-बुद्धचरित महाकाव्य का "अनेक शिष्य" नामक 16वाँ सर्ग समाप्त॥

सत्रहवाँ सर्ग

महाशिष्यों की प्रव्रज्या

1 तब (मगध के) राजा ने मुनि के रहने के लिए उज्ज्वल वेणुवन भेंट किया, और उनकी अनुमति से नगर को लौट गया; तत्त्व को समझकर वह बिल्कुल ही बदल गया था।

2 तब ज्ञान से उत्पन्न शुभ प्रदीप को निर्वाण के लिए धारण करते हुए बुद्ध, ब्रह्मा देवों और विविध लोकों के आर्यों के साथ, विहार में रहने लगे।

3 तब अश्वजित्, जिसने इन्द्रियरूपी घोड़ों का दमन कर लिया था, भिक्षा की खोज में राजगृह आया और अपने सौन्दर्य शान्ति एवं आकृति से (लोगों की) एक बड़ी भीड़ की आँखें आकृष्ट कीं।

4 कपिल सम्प्रदाय के बहुत शिष्योंवाले शारद्वतीपुत्र नामक सन्यासी ने उस शान्तेन्द्रिय को आते देखा और सड़क पर उसका अनुसरण करते हुए उसे यों कहा:—

5 "आपकी अभिनव आकृति एवं शान्ति देखकर मेरा चित्त अत्यन्त विस्मित है। यदि आप तत्त्व को जानते हों तो कहिए; आपके शिक्षक का क्या नाम है, वह क्या सिखाते हैं और वह कौन हैं?"

6 तब ब्राह्मण ने इस तरह सम्मानपूर्वक पूछा, तब अश्वजित् ने भी उसे कहा:—"मेरे गुरु इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे, वे सर्वज्ञ एवं अद्वितीय हैं।

7 मैं अज्ञानी हूँ और हाल में ही धर्म की शरण आया हूँ, अत: आपको (बुद्ध की) शिक्षा बताने में असमर्थ हूँ। तो भी वक्ताश्रेष्ठ महामुनि के वचनों का थोड़ा-सा ही अंश सुनिये।

8 "भगवान् ने कारणों से होनेवाले सब पदार्थों (=धर्मों) की व्याख्या की है। उन्होंने निरोध और निरोध-मार्ग की व्याख्या की है।"

9 अश्ववजित् के ये शब्द सुनते ही उपतिष्य (शारद्वतीपुत्र) नामक द्विज की आँखें धर्म में खुल गईं और निर्मल सुखमय व पवित्र हो गईं।

10 पहले उसका मत था कि क्षेत्रज्ञ, अकृत अकर्मशील और ईश्वर है; सब चीजें कारणों के आश्रय से होती हैं—यह सुनकर उसने जाना कि आत्मा नही है और उसने तत्त्व को देखा।

11 उसने समझा था कि सांख्य के अनुसार शरीर अवयवों का बना होता है और इसलिए स्थूल दोषों का ही नाश होता है: किन्तु बुद्ध की शिक्षा के अनुसार स्थूल एवं सूक्ष्म (दोषों) का समान रूप से नाश होता है।

12 आत्मवाद मानने पर अहंवाद का परित्याग नही होता और इसलिए "अहं" रहता है। जब प्रदीप एवं सूर्य दोनों रहें, तब प्रकाश-विनाश का कारण (भला) क्या हो सकता है?

13-14 जैसे कमल के मूल काटने पर सूक्ष्म तन्तु एक दूसरे से उलझे रहते हैं वैसे ही उसने सांख्य-मार्ग को नैष्ठिक नही समझा, जब कि बुद्ध-मार्ग पत्थर काटने के समान है (पत्थर काटने से टुकड़े अलग अलग हो जाते हैं, एक दूसरे से लगे नही रहते हैं)।

15 तब ब्राह्मण ने अश्वजित् को प्रणाम किया और स्वयं अत्यन्त सन्तुष्ट होकर घर के लिए प्रस्थान किया, और क्रम से अपना भिक्षाटन पूरा करके गम्भीरता एवं बुद्धिमत्तापूर्वक वेणुवन की ओर चला।

16 उपतिष्य को इस तरह परम प्रसन्न होकर लौटते देखकर मौद्गल्यायन ने, जिसके कर्म उसकी विद्या एवं ज्ञान के अनुरूप थे, उससे कहा:—

17 "हे सन्यासिन्, (स्वयं) वही होते हुए आप दूसरे-जैसे क्यों हो गए? आप धीर और प्रसन्न होकर लौटै हैं? क्या आज आपने अमर-पद (अमृत) पा लिया है? यह ऐसी शान्ति अकारण नही।"

18 तब उसे तत्त्व बताते हुए उसने कहा "यह ऐसे होता है।" तब उसने कहा "मुझे शास्त्र कहिये।" इसपर उसने वे ही वचन उससे फिर कहे। उन्हें सुनकर उसमें भी सम्यक् दृष्टि उत्पन्न हुई।

19 कर्मों और आशयों (?) से उनके चित्त पवित्र हो जाने के कारण उन्होंने तत्त्व को हाथ में रखे दीप के समान देखा, और इसे जानने के कारण गुरु के प्रति उनके भाव अविचल थे, अत: उसी क्षण वे उन्हें देखने के लिए चले।

20 शिष्यों के साथ आते उन दोनों को दूर से ही देखकर महामुनि भगवान् ने भिक्षुओं से कहा:— "यहाँ आ रहे ये दोनों मेरे प्रधान शिष्य हैं, उनमें से एक ज्ञानी है और दूसरा दिव्य शक्तिवाला।"

21 तब शान्त ऋषि ने गम्भीर स्वर में उन दोनों से कहा:—"शान्ति के लिए यहाँ आये हुए भिक्षुओं, इस धर्म को ठीक-ठीक उचित रीति से ग्रहण करो।"

22 ज्यों ही तथागत ने ये वचन उनसे कहे कि त्रिदण्डी और जटाधारी ब्राह्मण बुद्ध के प्रभाव से काषायधारी भिक्षु बन गये।

23 इस तरह (काषाय) वस्त्र-युक्त होकर उन दोनों ने अपने शिष्यों के साथ शिर नवाकर सर्वज्ञ को प्रणाम किया। तब बुद्ध ने उन्हें धर्मोपदेश किया और वे दोनों काल-क्रम से नैष्ठिक-पद पर पहुँचे।

24 तब काश्यप-कुल के प्रदीप-स्वरूप एक ब्राह्मण ने, जो वर्ण रूप व धन से युक्त था, अपनी सम्पत्ति एवं सुन्दरी पत्नि का परित्याग किया, और वह काषाय वस्त्र पहनकर निर्वाण की खोज में चला।

25 उस सर्वस्व-त्यागी ने ब्रह्मपुत्रक चैत्य के समीप उत्तम सोने के बने पवित्र पताका-दण्ड के समान चमकते सर्वज्ञ को देखा; और विस्मित हो, हाथ जोड़े, उनके समीप गया।

26 उसने दूर से ही शिर नवाकर मुनि को प्रणाम किया, और हाथ जोड़कर उचित रीति से ऊँची आवाज में कहा—"मैं शिष्य हूँ, भगवान मेरे गुरु हैं, हे धीर, अन्धकार में मेरा प्रकाश बनिये।"

27 "(ज्ञान की) चाह उत्पन्न होने के कारण यह द्विज आया है, यह विशुद्धाशय एवं निर्वाण का इच्छुक है," ऐसा जानकर वाणी रूपी जल से चित्त को शान्त करनेवाले तथागत ने उसे कहा— "स्वागत।"

28 इन अक्षरों से उसकी थकावट मानो चली गई; नैष्ठिक पद की खोज करने के लिए वह यहाँ रहने लगा। उसका स्वभाव शुद्ध था, इसलिए मुनि ने उसके ऊपर कृपा की और सङ्क्षेप में उसके लिए धर्म की व्याख्या की।

29 मुनि ने सङ्क्षेप में ही धर्म की व्याख्या की और उसने अभिप्राय बिलकुल समझ लिया, अत: अपनी बुद्धि एवं विख्याति के कारण वह 'अर्हत् महाकाश्यप' कहलाया।

30 उसने पहले समझा था कि आत्मा 'मैं' और 'मेरा' दोनों ही है, और शरीर से भिन्न होते हुए भी शरीर में है। अब उसने आत्म-दृष्टि का परित्याग किया और इसे शाश्वत (नित्य) दु:ख समझा।

31 उसने पहले शील-व्रत द्वारा पवित्रता पाना चाहा था और जो कारण नही, उसे कारण समझा था; अब उसने दु:ख का स्वभाव समझा और वह मार्ग पर आया, और शील-व्रत को श्रेष्ठ मार्ग नही माना।[67]

32 वह कुमार्ग पर भटका था और श्रेष्ठ मार्ग नही पा सका था; अब उसने चार सत्यों का क्रम देखा और संशय-शङ्काओं को सर्वथा काट डाला।

33 उन काम-वासनाओं की—जिनके बारे में संसार ने मूढ़ता (मोह) की है, करता है और करेगा— अपवित्रता एवं असारता देखकर, उसने कामनामक इन्द्रिय-विषयों को छोड़ा।

34 मानसिक मैत्री प्राप्तकर उसने मित्र और शत्रु में भेद नही किया और सब जीवों पर दया करता हुआ वह मन के भीतरी द्वेष (=व्यापाद) से भी मुक्त हो गया।

35 रूप और इसके प्रतिघातों पर आश्रित विविध सञ्ज्ञाओं को उसने छोड़ा और रूप में रहनेवाली बुराईयों को समझा; इसलिए उसने रूप-धातु की आसक्ति को जीता।

[67]- शीलव्रत=क्रिया-कर्म, बाहरी आचार।

36 उसने पहचाना कि अरूप देवों की, जो मोहवश ध्यान को ही निर्वाण समझते हैं, अवस्था अनित्य है; शान्त होकर उसने निमित्त शून्य चित्त प्राप्त किया और अरूप-भव की आसक्ति छोड़ी।

37 उसने अनुभव किया कि महानदी (=सिन्धु) की बलवती धारा के समान बहते हुए चित्त की चञ्चलता विघ्न का मूल है; वीर्य के सहारे आलस्य छोड़कर उसने शान्ति प्राप्त की और वह पूर्ण (निर्मल ?) सरोवर के समान निश्चल हो गया।

38 उसने जीवन को असार अनात्म और नाशवान् (=व्ययधर्मा) देखा; किसी को छोटा-बड़ा या बराबर नहीं देखते हुए उसने मिथ्याभिमान छोड़ा;..।

39 ज्ञानरूपी अग्नि से अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर, उसने नित्य और अनित्य को (एक दूसरे से) भिन्न देखा और योग द्वारा अपनी विद्या को पूर्णकर, उसने अविद्या को अच्छी तरह काट डाला।

40 दृष्टि एवं भावना से युक्त होकर, वह दश (संयोजनों, बन्धनों) से मुक्त हुआ और अपना कार्य पूरा कर, वह शान्तिमय, हाथ जोड़े, बुद्ध को देखता खड़ा रहा।

41 अपने 3 शिष्यों के साथ–जो 3 विद्याओं के ज्ञाता (=त्रैविद्य) थे, जिन्होंने 3 (आस्रवों) को क्षीणकर दिया था, और जिन्होंने 3 (शील समाधि प्रज्ञा) को भलीभाँति प्राप्तकर लिया था– सुगत (तीसरे पर्व के) पूर्ण चन्द्रमा के समान शोभित हुए, जो 15वें मुहूर्त में 3 ताराओंवाले उस (जयेष्ठा) नक्षत्र से युक्त हो, जिसका अधिपति (=अधिदेव) अनुजदेव (इन्द्र) है।[68]

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "महाशिष्यों की प्रव्रज्या" नामक 17वाँ सर्ग समाप्त॥

अठारहवाँ सर्ग

अनाथपिण्डद की दीक्षा

1 तब एक बार उत्तर की ओर से कोशल देश से एक धनी गृहपति आया। उसे गरीबों को धन देने की आदत थी। उसका प्रसिद्ध नाम सुदत्त था।

2 उसने सुना "ऋषि यहीं रहते हैं" और यह सुनकर उसने उन्हें देखना चाहा और रात में उनके समीप गया। उसने सुगत को प्रणाम किया। वह विशुद्धस्वभाव होकर आया है, यह जानकर उन्होंने उसे उपदेश दिया:–

3 "हे मनीषी, धर्म की प्यास से नींद छोड़कर रात में तुम मेरा दर्शन करने आये हो, इसलिए इस प्रकार आये हुए मनुष्य (=तथागत) के लिए नैष्ठिक-पद का प्रदीप ऊपर उठाया जाय।

[68]- काम-आस्रव, भव-आस्रव और अविद्या-आस्रव।

4 (तुममें-) ये जो सद्गुण दिखाई पड़ते हैं इसका कारण है तुम्हारा (शुद्ध) आशय, तुम्हारा धैर्य, मेरे विषय में सुनकर (उत्पन्न) हुई तुम्हारी श्रद्धा और पूर्व-निमित्त द्वारा (शुद्ध) हुई तुम्हारी चित्त-वृत्ति।

5 जो उत्तम (वस्तु) है उसे दान करने से इस लोक में यश होता है और परलोक में फल, यह जानकर तुम्हें धर्म से प्राप्त होनेवाला कोष उचित समय पर भक्तिपूर्ण चित्त से सम्मानपूर्वक दान करना चाहिए।

6 शील ग्रहण कर अपना आचरण ठीक करो; क्योंकि शील का पालन एवं सम्मान करने से अधम अध:लोकों का भय जाता रहता और मनुष्य को ऊपर के स्वर्गों की प्राप्ति अवश्य होती है।

7 कामासक्तियों में होनेवाले अन्वेषण आदि के दुष्परिणामों को देखते हुए और त्याग-मार्ग के सुपरिणामों का अनुभव करते हुए, विवेक से उत्पन्न होनेवाली सच्ची शान्ति में लगो।

8 मौत व बुढ़ापे की पीड़ा के रहते संसार भटक रहा है, यह ठीक-ठीक देखकर जन्म-मुक्त शान्ति के लिए यत्न करो और जन्म के अधीन नही होने से वह (शान्ति) बुढ़ापे व मौत से (भी) रहित है।[69]

9 जैसे यह जानते हो कि अनित्यता के कारण लोगों को हरदम दु:ख होता है, वैसे ही जानो के देवताओं को (भी) वही दु:ख है। प्रवृत्ति में कुछ भी नित्यता नही है।

10 जहाँ अनित्यता है वहाँ दु:ख है; .....। तब जो (धातु अर्थात् धातुओं से बना शरीर) अनित्य दु:खमय एवं अनात्म है, उसमें 'मैं' या 'मेरा' कैसे हो सकता है? [70]

11 इसलिए इस दु:ख को दु:ख, इसकी उत्पत्ति (=समुदय) को उत्पत्ति, दु:ख निरोध को निरोध (=व्युपशम) और शुभ मार्ग को मार्ग समझो।

12 इस जगत् को दु:खमय एवं अनित्य जानो और मानव जाति को, कालरूपी आग से, जैसे असली आग से, बिलकुल दग्ध देखकर, तुम अस्तित्व एवं विनाश को समान रूप से अवांछनीय समझो।

13 इस जगत् को शून्य, 'मैं' या 'मेरा' से रहित, माया सदृश्य जानो और इस शरीर को संस्कारों (उत्पादकों, वस्तुओं) का परिणाम-मात्र विचारते हुए, इसे केवल तत्त्वों (=धातुओं) का बना हुआ समझो।

[69]- जन्म-मुक्त शान्ति=वह शान्ति जिसकी प्राप्ति होनेपर फिर जन्म नही होता है। "न जायते शान्तिमवाप्य भूय:"–सौन्दरनन्द, सोलह 5।

[70]- धातु के लिए देखिये–सौन्दरनन्द, सोलह 47-48।

14 अनित्य जीवन से अपने मन को मुक्त करो और संसार में विविध योनियों को देखते हुए, भावना-द्वारा अपने चित्त को वितर्क-रहित शान्ति-परायण और राग-मुक्त (=विराग, विरज) करो। तब 'अनिमित्त' का अभ्यास करो।" [71]

15 तब महर्षि का धर्म सुनकर उसने धर्माचरण का प्रथम फल पाया; और इसकी प्राप्ति होने से दु:खरूपी महासागर में से केवल एक बूँद उसके लिए रह गई।

16 गृहस्थ होते हुए भी उसने ज्ञान द्वारा श्रेय और तत्त्व (वास्तविक सत्य) का अनुभव किया जो अज्ञानी के लिए (सुलभ) नही है, चाहे वह तपोवन में हो या स्वर्ग में, चाहे वह तृष्णा-रहित मनुष्यों के झुण्ड (=वितृष्ण वन) में रहता हो या अरूप लोक के शिखर पर।

17 विविध मिथ्या दृष्टियों के जाल से तथा संसार के दु:खों से मुक्त नहीं होने के कारण वे अतत्त्वदर्शी नष्ट होते हैं और केवल रागरहित होनेवाले ही विशेष पद पर पहुँचते हैं।

18 अपने में सम्यक् दृष्टि उत्पन्न होनेपर उसने कुदृष्टियों का वैसे ही त्याग किया जैसे शरद् ऋतु का मेघ पत्थरों की झड़ी लगावे और ईश्वर आदि मिथ्या कारणों से संसार उत्पन्न होता है या यह (संसार) कारण-रहित है, ऐसा उसने नही माना। [72]

*19 क्योंकि यदि (परिणाम से) कारण भिन्न प्रकार का है, तब उत्पत्ति (=उपपत्ति) नही हो सकती; और कारण नही है, (ऐसा मानना) भारी भूल है। इन बातों को विद्या (=श्रुत) एवं ज्ञान द्वारा क्रमश: जानकर वह तत्त्व का दर्शन करने में अवश्य ही संशय-रहित था।

20 यदि ईश्वर संसार को पैदा करता तो, इसमें व्यवस्थित कार्य पद्धति नही होती और लोग भव-चक्र में नहीं भटकते; जिस किसी योनि में जो जन्म लेता वह वहीं रहता।

21 देहधारी प्राणियों को अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ नही होता और न उसके लिए इच्छित वस्तु की ही उत्पत्ति होती है। जो कुछ भला-बुरा (=शुभाशुभ ?) देह-धारियों को होता वह ईश्वर होने के कारण ईश्वर में (भी) होता।

22 लोगों को ईश्वर के प्रति कुछ सन्देह नही होता और वे उसके प्रति पिता की तरह स्नेह अनुभव करते। अपने ऊपर विपत्ति आनेपर वे उसे बुरी बातें नहीं कहते, और संसार भाँति-भाँति के देवताओं की पूजा नहीं करता।

23 यदि उसकी सृष्टि में कोई सङ्कल्प (अभिप्राय) है, तो वह आज यहाँ ईश्वर नही; क्योंकि (तब) यह (सृष्टि) सङ्कल्प का परिणाम होता (ईश्वर का नही)। यदि सङ्कल्प की निरन्तर कार्यशीलता मानी जाय, तो वही (सङ्कल्प) ईश्वर होने का कारण होगा।

24 या यदि यह सृष्टि किसी सङ्कल्प से प्रवृत्त नही होती है, तो उस (ईश्वर) के काम बच्चे के-से कारण-रहित हैं और यदि ईश्वर को अपने पर अधिकार नही, तो उसे संसार पैदा करने की ही क्या शक्ति?

25 यदि वह स्वेच्छानुसार लोगों से दु:ख-सुख अनुभव कराता है, तब किसी वस्तु में आसक्ति या उससे विमुखता उस (ईश्वर) को होती है और इसलिए अधिकार उसमें नही (बल्कि वस्तु में) रहता है।

26 लोग विवश होकर उसके अधीन होते और कार्यों का उत्तरदायित्व उसी पर होता। देहदारी के द्वारा कुछ भी नही किया जाता और कर्म-फल होता ही नहीं। कार्य के साथ सम्पर्क (=कर्मयोग) उस (ईश्वर) पर निर्भर करता।

27 यदि अपने कार्यों के कारण वह ईश्वर है, तब (क्योंकि उसके कार्यों में लोगों का भी भाग है, इसलिए) वह ईश्वर नही हो सकता। या यदि वह सर्वव्यापी (=विभु) एवं कारण-रहित है, तब समस्त जगत् का ईश्वरत्व स्थापित होता।

28 या यदि ईश्वर के कार्य के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य है, तब इसी कारण उसके अतिरिक्त कोई दूसरा शक्तिशाली ईश्वर होगा। और यह निश्चित (=व्यवस्थित) नही कि उसके अतिरिक्त कोई दूसरा (ईश्वर) है; इसलिए जगत् का कोई ईश्वर नहीं।

29 ईश्वर का स्रष्टा मानने से उठनेवाली परस्पर-विरोधी बातों को उसने देखा और स्वभाव के सिद्धान्त में भी वे ही दोष वर्तमान हैं।

30 स्वभाव-वाद, इंदप्रत्ययता (कार्य-कारण)-वादी के सिद्धान्तों (=आश्रय) को कुछ हद तक अस्वीकार करता है और कार्य के सम्बन्ध में कारण की कुछ शक्ति नही मानता है; किन्तु देखा जाता है कि बीज आदि विविध द्रव्यों से परिणाम (फल) पैदा होते हैं, इसलिए स्वभाव कारण नहीं है।

31 एक कर्ता विविध वस्तुओं का कारण नही हो सकता; इसलिए एकात्मक कहा जानेवाला स्वभाव सांसारिक प्रवृत्ति का कारण नहीं।

32 स्वभाव सर्वव्यापी है, ऐसा प्रतिपादित किया जाता है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कोई परिणाम पैदा नही कर सकता; और ..... इसलिए स्वभाव उत्पत्ति का कारण नहीं।

33 क्योंकि यह सर्वव्यापी है, इसलिए कारण होने के कारण इसे सब चीजों का निरन्तर सार्वभौम कारण होना चाहिए; किन्तु फल के सम्बन्ध में (कारण के) व्यापार में हम एक सीमा देखते हैं; इसलिए स्वभाव उत्पत्ति का कारण नहीं।

34 यह स्थापित होता है कि यह निर्गुण है, इसलिए इसका फल निर्गुण होना चाहिए; किन्तु संसार में सब चीजों को हम सगुण देखते हैं, इसलिए स्वभाव सांसारिक प्रवृत्ति का कारण नहीं।

---

[71]- अनिमित्त=निर्वाण—अभिधर्मकोष 8.44

[72]- प्रवृत्तिदु:खस्य च तस्य लोके तृष्णादयो दोषगणा निमित्तं।
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्न कालो नापि स्वभावो न विधिर्यदृच्छा॥— सौन्दरनन्द, सोलह 17।

35 शाश्वत कारण होने से इसमें कुछ विशेषता (=विशेष) नही हो सकती, इसलिए इसके फल (=विकार) में भी कोई विशिष्ट गुण नहीं हो सकता; और क्योंकि फल में विशिष्ट गुण पाये जाते हैं, इसलिए स्वभाव से उत्पत्ति नही।

36 स्वभाव उत्पादात्मक है, इसलिए फल के सम्बन्ध में नाश होने का कोई कारण स्थापित नही होता है; और क्योंकि फल का विनाश हम देखते हैं, इसलिए हमें मानना होगा कि कारण कुछ और ही है।

37 (पुनर्जन्म करने की) शक्ति के साथ सम्पर्क रहने के कारण नैष्ठिक मोक्ष चाहनेवाले यतियों को कुछ प्राप्त नही होता है; क्योंकि मनुष्य के स्वभाव का गुण है प्रवृत्ति, इसलिए परलोक में जाने के अतिरिक्त वे यति मुक्त कैसे हो सकते हैं?

38 यदि स्वभाव की विशेषता है उत्पत्ति, तब इसके फलों की भी समान रूप से वही विशेषता होगी, किन्तु इस संसार में फलों के बारे में हमेशा यह बात नही होती है; इसलिए स्वभाव उत्पादक नही है।

39 कहते हैं कि स्वभाव का कार्य चित्त (?) के लिए व्यक्त नही है, तो भी इसके फल व्यक्त बताये जाते हैं। इसलिए स्वभाव प्रवृत्ति का कारण नही है; क्योंकि यह निश्चित है कि संसार में कोई (व्यक्त) फल उसी कारण से निकल सकता है, जो समान रूप से व्यक्त है।

40 अचेतन स्वभाव के परिणाम घोड़े, बैल, खच्चर आदि चेतन प्राणी नहीं हो सकते; क्योंकि अचेतन कारणों से कोई चेतन उत्पन्न नहीं हो सकता।

41 जैसे सुवर्ण-हार (सुवर्ण का) विशिष्ट रूप है, वैसे ही स्वभाव के फल (=विकार) विशिष्ट रूप है; और क्योंकि फल तो विशिष्ट रूप है जब कि कारण विशिष्ट रूप नही है, इसलिए स्वभाव को उत्पादनशक्ति नही है।

42 यदि काल (समय) को संसार का ईश्वर माना जाय, तो (मुक्ति की) खोज करनेवालों के लिए मुक्ति नहीं। क्योंकि संसार का कारण शाश्वत रूप से उत्पादक होगा, जिससे मनुष्यों का अन्त होगा ही नहीं।

43 ... ...

*44-46 ... . [73] [74]

47 यदि कार्य के विषय में मनुष्य (=पुरुष) कारण होता, तो अवश्य ही सब किसी को इच्छित वस्तु मिल जाती; तो भी इस जगत् में कुछ इच्छाएँ अपूर्ण ही रह जाती हैं और लोग विवश होकर वही पाते हैं जो वे नहीं चाहते।

48 यदि अपने वश की बात होती, तो मनुष्य स्वयं बैल, घोड़ा, खच्चर या ऊँट होकर उत्पन्न नही होता; क्योंकि, मनुष्य इच्छित काम करते हैं और दु:ख से घृणा करते हैं, इसलिए कौन अपने ऊपर स्वयं दु:ख लेता?

49 यदि संसार में मनुष्य कर्ता होता, तो निश्चय ही वह अपने लिए प्रिय करता, अप्रिय नहीं; तो भी इच्छाओं की पूर्ति करने में चाहा और अनचाहा (इष्ट और अनिष्ट) दोनों ही किये जाते हैं, और यदि वह ईश्वर होता, तो कौन (स्वयं) अनचाहा करता?

*50 मनुष्य अधर्म से डरता है और धर्म (शुभ) प्राप्त करने के लिए यत्न करता है, तो भी विविध दोषों द्वारा वह विवश (बेचारा) पथभ्रष्ट किया जाता है; इसलिए इस विषय में मनुष्य परतन्त्र है।

*51 मनुष्य स्वतन्त्र नही, किन्तु परतन्त्र है; क्योंकि हम देखते हैं कि सर्दी, गर्मी, वर्षा, वज्र व बिजली के परिणाम उसके उद्योगों को विफल करते रहते हैं। अत: मनुष्य कार्यों का ईश्वर नहीं है।

52 क्योंकि, मिट्टी व पानी के सहारे तथा उचित ऋतु के सम्पर्क (योग) से अन्न पैदा होता है, और अग्नि काठ से उत्पन्न होती है और घी पाकर प्रदीप्त होती है, इसलिए अस्तित्व को कारण-रहित कहना ऐसा कारण का अभाव नही है।

53 यदि सांसारिक प्रवृत्ति अकारण होती तो मनुष्यों द्वारा कुछ काम नहीं होता। सब किसी को सब कुछ मिल जाता और ध्रुव है कि इस संसार में सार्वभौम सिद्धि होती।

---

[73]- 44-46 तीनों श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। इनमें तत्कालीन सांख्य मत का खण्डन किया गया है।

[74]- जौन्स्टन ने इनका अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार दिया है:—

43. Some see the determining principle as the selfness in the matters which is one and is made manifold by the attributes; though they take their stand on a single cause, yet it has separate characteristics.

44. The attribute-theorist sees in the variety of attributes the operation of matter, which is born from a certain maturation. Since the cause is held to be not different (from the effect), one must conclude that the matters are ineffective.

45. Certainly the unmanifested, from which matter arises, cannot be the subject of a valid inference; for by perception we do not see in fact the development of a result which is manifest from that which is unmanifest.

46. As for the result which first arises from the unmanifest and comes into activity from the pair of manifest, from it (sc. the unmanifest?) which is postulated arises in this world the great one which is not postulated, and there ensue the defects of the Nature-hypothesis.

*54 यदि दु:ख-सुख अकारण होता, तो प्रत्येक को दु:ख-सुख का भाग नही मिलता, और कारण के बिना दु:ख-सुख बोध-गम्य होता ही नहीं, इसलिए यह जो "कारण-रहित" कहा जाता है कारण नही है।

*55 उसने जाना कि ये और ऐसे ही अदृश्य कारण सांसारिक प्रवृत्ति के कारण नहीं हैं। उसने देखा कि संसार कारण-रहित नहीं है और उसने कारण-रहित होने के ये दोष समझे।

56 विविध चराचर जीव भी विविध कारणों के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, संसार में कुछ भी कारण-रहित नहीं है, तो भी संसार सार्वभौम कारण को नहीं जानता है।

57 यह सुन्दर दान पाकर, सुदत्त ने आर्यधर्मा महर्षि के सद्धर्म को समझा और श्रद्धा में अविचल चित्त हो उनसे ये वचन कहे:—

58 "मेरा निवास श्रावस्ती नगर में है, जो धर्म के लिए विख्यात है और जहाँ हर्यश्व-वंश का अङ्कुर शासन करता है। वहाँ मैं आपके लिए एक विहार बनाना चाहता हूँ; आप कृपा-पूर्वक उस अनवद्य एवं उत्तम निवास को स्वीकार करें।

59 हे ऋषि, आप राज-महल में रहें या निर्जन वन में—इस ओर से आप उदासीन हैं, यद्यपि मैं यह जानता हूँ, तो भी, हे अर्हत्, मेरे ऊपर करुणा करके आप इसे निवास के लिए स्वीकार करें।"

60 तब उन्होंने जाना कि वह देना चाहता है और उसका मन मुक्त है, अत: आशय जाननेवाले निर्मल-चित्त मुनि ने परम शान्तिपूर्वक अपना आशय कहा:—

61 "(यद्यपि) तुम बिजली की भाँति चञ्चल सम्पत्ति-राशि के बीच (रहते) हो (तो भी) तुम्हारा निश्चय दृढ़ है और तुम देने पर तुले हुए हो। तब इसमें आश्चर्य नहीं कि तुम सत्य को देखो, क्योंकि, धर्म में तुम्हें स्वभावत: आनन्द आता है और दान देने में प्रसन्नता होती है।

62 जलते हुए घर से जो चीजें निकाली जाती हैं वे जलती नहीं (बच जाती हैं), उसी प्रकार कालरूपी अग्नि से जलते हुए संसार में मनुष्य जो कुछ दान करता है वह उसे लाभ होता है।

63 इसलिए उदार हृदय पुरुष दान को असली (=सम्यक्) विषयोपभोग समझते हैं। किन्तु कृपण मनुष्य धन-क्षय का डर देखकर दान नहीं करते, इस डर से कि कहीं उपभोग के लिए उन्हें कुछ न बचे।

64 उचित समय पर सत्पात्र को धन देना वीरता व अभिमानपूर्वक युद्ध करने के समान है। जिस मनुष्य का निश्चय श्रेष्ठ है वह यह जानता है, किन्तु दूसरे नहीं, और केवल वही दान देता है और निश्चयपूर्वक युद्ध करता है।

65 क्योंकि जो दान देने में आनन्दित होता हुआ संसार-यात्रा करता है वह दाता है और दान-द्वारा यश एवं सुनाम प्राप्त करता है, अत: उसकी उदारता के लिए सज्जन उसका सम्मान करते हैं और उसकी सङ्गति करते हैं।

66 इस तरह वह संसार में सुखी है और दीर्घ दु:ख के अभाव से पाप में नही पड़ता। क्योंकि वह सत्कर्म करने का सच्चा दावा करता है, इसलिए वह सदा प्रसन्न रहता है और मरते समय भयभीत नही होता।

67 इस लोक में दान का फल कुछ फूल हो सकता है, किन्तु परलोक में वह (दानी) दान का पारितोषिक पाता है। संसार-चक्र में घूमनेवाले मनुष्य के लिए दान के समान दूसरा मित्र नहीं।

68 जो (दानी) मर्त्यलोक या स्वर्ग में जन्म लेते हैं, वे अपने दान के कारण बराबरीवालों से ऊँचा पद पाते हैं; जो लोग घोड़े या हाथी होकर उत्पन्न होते हैं, वे भी (घोड़े या हाथियों के) प्रधान होकर दान का फल पाते हैं।

69 दान द्वारा उसे स्वर्ग प्राप्त होता है, उपभोग उसे घेरे रहते हैं और शील उसकी रक्षा करता है। जो मनुष्य शान्त है और स्वयं समझ-बूझकर (=ज्ञानपूर्वक) चलता है, वह स्वतन्त्र (=निराश्रय) है और बहु-संख्यक मनुष्यों के मार्ग से नहीं जाता।

70 अमृत पाने के लिए भी वह उदारता का आचरण करता है और दान की बात सोचने में (=स्मृ) उसे आनन्द आता है; उस आनन्द के कारण अवश्य ही उसका चित्त एकाग्र हो जाता है।

71 मानसिक एकाग्रता की इस सफलता (=समुदय) से वह धीरे-धीरे जन्म व निरोध का ज्ञान प्राप्त करता है; क्योंकि दूसरों को दान देने से दाता के हृदय में रहनेवाले दोष क्षीण हो जाते हैं।

72 कहा जाता है कि दाता दान दी जानेवाली वस्तुओं से आसक्ति पहले ही अलग करता है; और क्योंकि वह सस्नेह चित्त से दान करता है, इसलिए वह क्रोध व अभिमान का परित्याग करता है।

73 जो दाता (दान) पानेवाले का आनन्द देखकर प्रसन्न होता है और इसलिए कृपण नहीं है और जो दान-फल का चिन्तन करता है, उसकी अश्रद्धा (=नास्तित्व) व अज्ञानरूपी अन्धकार (=तमस्) नष्ट हो जाते हैं।

74 इसलिए दान देना निर्वाण (-साधना) का एक अङ्ग है, क्योंकि इसके द्वारा वह लोभ जीता जाता है, अनार्य जिसका आश्रय लेते हैं और वह तृष्णा जीती जाती है, जिसके द्वारा दान देने की आदत नष्ट होती है; क्योंकि इस (दान देने की आदत) के होनेपर दोषों के विनाश से निर्वाण होता है।

75 जैसे कुछ लोग छाया के लिए पेड़ पसन्द करते हैं, कुछ लोग फल के लिए और कुछ लोग फूल के लिए, वैसे ही कुछ लोग शान्ति के लिए अपने को दान देने में लगाते हैं, तो दूसरे लोग सम्पत्ति के लिए।

76 इसलिए खासकर गृहस्थ लोग द्रव्य-संचय नहीं करते, किन्तु अपने साधन के अनुसार दान देते हैं; और क्योंकि दान देना ही असार सम्पत्ति का सार है (सारादानं दानमाहुर्धनानां [75]) अत: सज्जनों के चलने का यही मार्ग है।

77 भोजन देनेवाला बल देता है, वस्त्र देनेवाला भी सौन्दर्य देता है, किन्तु जो धर्मात्माओं को निवास देता है वह संसार में सब कुछ देता है।

*78 सवारी देनेवाला भी आराम देता है और दीप देनेवाला प्रकाश देता है। अत: जो नैष्ठिक धर्म का उपदेश देता है वह अमर पद देता है, जो छीना नहीं जा सकता, (=अहार्यममृतं पदं)।

79 कुछ लोग काम (उपभोगों) के लिए दान देते हैं, दूसरे सम्पत्ति के लिए, तीसरे यश के लिए, कुछ लोग स्वर्ग के लिए और दूसरे कृपण नहीं होने के लिए; किन्तु तुम्हारे इस दान का कोई गूढ़ उद्देश्य नहीं है।

80 इसलिए साधुवाद तुम्हें, जिसकी इच्छा ऐसी (उत्तम) है। अपनी इच्छा पूरी करके सन्तुष्ट हो जाओ। तुम यहाँ काम (=रजस्) व अज्ञानरूपी अन्धकार (=तमस्) के साथ आये थे और यहाँ से ज्ञान द्वारा विशुद्ध-चित्त होकर जाओगे।"

81 वह, जो कि (उचित) रास्ते से (चलकर) तत्त्व को ठीक-ठीक पा चुका था, परम प्रसन्न होकर विहार (बनाने) की बात से हार्दिक अनुराग करने लगा और उचित समयपर उपतिष्य के साथ चल पड़ा।

82 तब वह कौशल-राज की राजधानी में आया और विहार के स्थान की खोज में इधर-उधर घूमने लगा। तब उसने मनोहर वृक्षों से भरा भव्य एवं उपयुक्त जेत-वन देखा।

83 तब इसे खरीदने के लिए जेत के पास गया, जो इसमें इतना आसक्त था कि इसे बेच नही सकता था। उसने कहा—"यदि आप द्रव्य से इसे पूरा-पूरा ढक भी दें तो भी मैं आपको यह भूमि नही लेने दूँगा।"

84 तब सुदत्त ने उसे वहाँ कहा—"मुझे उपवन की जरूरत है" और इसके लिए आग्रह करने लगा। तब उसने इसे कोष से ढक दिया और इसे धर्म का व्यवहार समझते हुए खरीदा।

85 जब जेत ने उसे द्रव्य देते हुए देखा, तब वह बुद्ध के प्रति अत्यन्त अनुरक्त हो गया और तथागत के लिए सारा शेष उपवन दे दिया।

86 तब महर्षि उपतिष्य के साथ, जो निर्माण-कार्य का अध्यक्ष (नवर्मिक) नियुक्त हुआ, अनाथपिण्डद ने इसे जल्द तैयार करना चाहा और एक विशाल रूपोज्वल विहार बनाना शुरू किया,

[75]- देखिये जातकमाला, जातक 3, श्लोक 23।

87 जो उसकी सम्पत्ति शक्ति व ज्ञान का मूर्त्त आकार था, पृथ्वी पर आये हुए कुबेर-प्रासाद के भी समान था, उत्तर कौशल की राजधानी के समान सौभाग्य के समान था और तथागतत्व (प्राप्त होने) की भूमि के समान था।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "अनाथपिण्डद की दीक्षा" नामक 18वाँ सर्ग समाप्त॥

उन्नीसवाँ सर्ग

पितापुत्र-समागम[76]

1 तब अपने ज्ञान से विविध दर्शनों के शिक्षकों को जीतकर मुनि क्रम से पाँच पर्वतों के नगर से (निकलकर) उस नगर की ओर चले जहाँ उनका राजा पिता रहता था।

2 तब हजार भिक्षु भी चले, जिन्हें उन्होंने उसी क्षण प्रव्रजित किया था। वह अपने पिता के राज्य में पहुँचे और उसे अनुगृहीत करने के लिये पितृ-नगर के समीप ठहर गये।

3 लक्ष्य सिद्धकर आर्य लौट आये हैं, यह आनन्द-प्रद समाचार अपने विश्वस्त गुप्तचरों से सुनकर पुरोहित व बुद्धिमान् मन्त्री ने राजा से सविनय निवेदन किया।

4 उनके आने की बात जानकर राजा आनन्दित हुआ और उन्हें देखने की इच्छा से वह सब नागरिकों के साथ चल पड़ा, शीघ्रता में वह साधारण शिष्टाचार (=धैर्य) भी भूल गया?

5 उसने कुछ दूर पर उन्हें शिष्यों से घिरा देखा, जैसे ऋषियों के बीच ब्रह्मा बैठा हो; और महर्षि के धर्म के प्रति आदर-भाव होने के कारण वह रथ से उतर गया और पैदल ही उनके समीप गया।

6 मुनि को देखकर वह उनके समक्ष घबड़ा गया और कुछ बोल न सका; क्योंकि वह उन्हें न तो 'भिक्षु' कहकर ही पुकार सकता था और न 'पुत्र' कहकर ही।

*7 जब उसने उनका भिक्षु-वेष देखा और अपने शरीर पर के विविध आभूषणों का ख्याल किया, तब उसकी साँसें तेजी से चलने लगीं, और आँसू बहाते हुए उसने अस्फुट वाणी में विलाप किया:—

8 "उन्हें अपने समीप शान्तिपूर्वक निर्विकार होकर बैठे देखकर मैं पीड़ा से वैसे ही अभिभूत हो रहा हूँ, जैसे प्यास से आकुल पथिक, जो दूरवर्ती जलाशय के समीप जाकर उसे सूखा पावे।

9 जब कि मैं उनके उसी रूप को देख रहा हूँ, जैसे कोई अपने उस प्रिय जन की चित्रित आकृति को देखे, जो अब भी मन में याद है, किन्तु जो आवागमन के अन्त में है, तो मुझे कुछ आनन्द नही हो रहा है जैसे (मुझे देखकर) इन्हें कुछ आनन्द नही हो रहा है।

[76]- चीनी त्रिपिटक तथा तिब्बती कञ्जुर के अन्तर्गत "रत्नकूट" (अर्थात् रत्नराशि) में 49 सूत्र हैं, जिनमें एक है 'पिता-पुत्र समागम' अर्थात् पिता शुद्धोदन के साथ शाक्य-मुनि का मिलन। इस सूत्र के कुछ अंश "शिक्षा-समुच्चय" में पाये जाते हैं।

10 सब पर्वतों से परिवेष्टित पृथ्वी इनकी होनी चाहिये, जैसे कृतयुग में यह मान्धाता की थी; तो भी वह, जिन्हें राजा से भी याचना नही करनी चाहिये, अब दूसरों से भीख माँगकर जीते हैं।

11 वह यहाँ धैर्य में मेरु पर्वत से, दीप्ति में सूर्य से, कान्ति में चन्द्रमा से, गति में गजराज से और वाणी में वृषभ से बढ़कर है; तो भी पृथ्वी जीतने की जगह वह भिक्षा का अन्न खाते हैं।"

12 तब बुद्ध ने जाना कि अब भी उनका पिता उन्हें अपने मन में अपना पुत्र समझ रहा है और राजा (=लोकाधिदेव) के ऊपर करुणा करके वह उसके लिये आकाश में उड़ गये।

13 उन्होंने अपने हाथ से सूर्य का रथ स्पर्श किया और वह पवन-पथ (आकाश) में पैदल चले; उन्होंने अपने एक शरीर को अनेक में परिणत किया और फिर अनेक शरीरों को एक बनाया।

14 बिना किसी बाधा के उन्होंने पृथ्वी में ऐसे अवगाहन किया जैसे पानी में, और पानी की सतह पर ऐसे चले जैसे सूखी भूमि पर; और उन्होंने शान्त होकर पर्वत में प्रवेश किया और उसमें ऐसे निर्बाध होकर चले जैसे आकाश में चल रहे हों।

15 आधे शरीर से उन्होंने जल बरसाया और आधे से वह ऐसे प्रज्वलित हुए जैसे अग्नि से। गौरवपूर्वक चमकते हुए वह आकाश में ऐसे दिखाई पड़े जैसे पर्वत पर की उज्वज्ल ओषिधियाँ चमक रही हों।

16 इस तरह उन्होंने राजा के मन में आनन्द उत्पन्न किया, जो उनसे इतना अनुराग करता था, और आकाश में दूसरे सूर्य के समान बैठे हुए उन्होंने नरपति के लिये धर्म की व्याख्या की:—

17 "हे राजन्, मैं जानता हूँ कि अपनी दयालु प्रकृति के कारण आप मुझे देखकर दु:खी हो रहे हैं। पुत्रवान् होने का आनन्द छोड़िये और शान्त होकर आप मुझसे पुत्र की जगह धर्म ग्रहण कीजिये।

18 पूर्व में किसी पुत्र ने पिता को जो कभी नही दिया पूर्व में किसी पिता ने पुत्र से जो कभी नही पाया, जो राज्य अथवा स्वर्ग से भी अच्छा है, हे राजन्, आप उस परम उत्तम अमृत को जानें।

19 हे भूपति, कर्म का स्वभाव, कर्म की उत्पत्ति-भूमि (=योनि), कर्म का आश्रय और कर्म के विपाक से होनेवाला भाग पहचानिये और जगत् को कर्म के वशीभूत जानिये; इसलिये वह कर्म कीजिये जो हितकारी है।

20 जगत् के वास्तविक सत्य (=तत्त्व) पर विचार कीजिये। सत्कर्म मनुष्य का मित्र है और कुकर्म विपरीत (अर्थात् शत्रु)। (मरते समय) आपको सब कुछ छोड़ना पड़ेगा और निराश्रय हो अकेला ही जाना पड़ेगा, केवल कर्म आपके साथ जायँगे।

21 स्वर्ग में या नरक में या पशुओं में या मर्त्य-भूमि में जीवलोक कर्म के आश्रय से चलता है। भव का कारण त्रिविध है, उत्पत्तिभूमि (=योनि) त्रिविध है और मनुष्यों द्वारा किये जानेवाले कर्म विविध हैं।

22 इसलिये अपने को सम्यक् रूप से अन्य पक्ष (द्विवर्ग) में लगाइये और शरीर व वाणी के व्यापार (कृत्य) शुद्ध कीजिये। मानसिक शान्ति के लिये यत्न कीजिये। यही आपका लक्ष्य है, दूसरा नही।

23 जगत् को समुद्र-तरङ्ग के समान चञ्चल जानते हुए और इसकी भावना करते हुए आपको (रूप—, अरूप—, व काम—) भव में आनन्द नही पाना चाहिये और कर्म-शक्ति क्षीण करने के लिए धार्मिक व श्रेयस्कर कर्म करना चाहिए।

24 विदित हो कि संसार सदा नक्षत्र-मण्डल के समान घूमता रहता है। अपनी पराकाष्ठा पार करके देवता भी स्वर्ग से गिरते हैं; तब मानवी सत्ता पर कौन कितना भरोसा करे?

25 निर्वाण-सुख को परम सुख और आन्तरिक (=अध्यात्म) आनन्द का परमानन्द जानिये। वैभव-सुख साँपवाले घर के समान विपत्तिपूर्ण हैं, यह देखकर कौन आत्मवान् (संयतात्मा) व्यक्ति उसमें आनन्द पायेगा?

26 इसलिये इस जगत् को जलते हुए घर के समान विपत्ति-ग्रस्त देखिये और उस पद की खोज कीजिये जो शान्त एवं ध्रुव है, जहाँ न जन्म है न मौत, न श्रम है न दु:ख।

27 दोषों की विपक्षी सेना को पराजित कीजिए, जिसके लिए सम्पत्ति राज्य अस्त्र घोड़े या हाथी की जरूरत नही है। एक बार उन्हें जीत लेनेपर जीतने के लिये कुछ और नही रह जाता है।

28 दु:ख, दु:ख-समुदय, (दु:ख-) उपशम और उपशम-मार्ग को समझिये। इन चारों को पूर्णत: समझ लेने से महाभय व दुर्गतियों का निरोध होता है।"

29 सुगत के चमत्कार-प्रदर्शन से राजा का चित्त उपदेश (ग्रहण करने) के लिये उपयुक्त क्षेत्र पहले ही हो गया था, इसलिये अब सुन करके धर्म प्राप्त करनेपर रोमाञ्चित हो गया और हाथ जोड़कर उसने ये वचन कहे—

30 "आपके कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण और सफल हैं; क्योंकि आपने मुझे महादु:ख से मुक्त किया है। मैं, जो पहले विपत्तिपूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति में दु:ख-वृद्धि के लिए आनन्द पाता था, अब पुत्रवान् होने के फल में आनन्द पा रहा हूँ।

31 राज्य-लक्ष्मी का परित्याग कर आप ठीक ही (=स्थाने) चले गये। ठीक ही आपने कठोर श्रम किया और ठीक ही आप प्रिय ने प्रिय स्वजनों को छोड़ा और हमारे ऊपर करुणा की।

32 आर्त जगत् के हित के लिए आपने यह नैष्ठिक ज्ञान पाया है, जो पूर्व में देवर्षियों या राजर्षियों को प्राप्त नही हुआ।

33 यदि आप चक्रवर्ती सम्राट् होते तो आप मुझे यह आनन्द नही देते जो इस समय मैं, इन चमत्कारों एवं आपके धर्म को देखकर दृढ़तापूर्वक अनुभव कर रहा हूँ।

34 यदि आप इस जन्म में भी इस जीवन से बँधे रहते, तो चक्रवर्ती होकर आप मानव जाति का पालन करते, किन्तु अब मुनि होकर भव-चक्रके महादु:ख को तोड़कर आप जगत् के लिए धर्मोपदेश कर रहे हैं।

35 इन ऋद्धियों एवं गम्भीर ज्ञान का प्रदर्शन कर और भव-चक्र की विपत्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्तकर राज्य के बिना भी आप संसार के ईश्वर हो गये हैं, किन्तु राज्य-समृद्धि के रहते हुए भी आप वैसा नहीं होते, यदि आप असहाय होकर भव-चक्र में पड़े रहते।"

36 शाक्य-राज्य ने, जो उन करुणामय के धर्मोपदेश (ग्रहण करने) के योग्य हो गया था, ऐसी बहुत-सी बातें कहीं और यद्यपि वह राजा और पिता के पद पर था, तो भी उसने अपने पुत्र को प्रणाम किया, क्योंकि वह सत्य में प्रवेश कर चुका था।

37 बहुत से लोगों को, जिन्होंने मुनि का ऋद्धि-बल पर अधिकार देखा, जिन्होंने तत्त्व में प्रवेश करानेवाले शास्त्र को समझा और जिन्होंने राजा को—उनके पिता को—उनका सम्मान करते देखा, घर छोड़ने की इच्छा हुई।

38 तब कर्म-फल में स्थित बहुत से राजकुमारों ने उस धर्म-विधि को ग्रहण किया और वैदिक-मन्त्रों एवं मोह के बड़े-बड़े साधनों की उपेक्षा करके, राते हुये प्रिय परिवारों का परित्याग किया।

39 आनन्द, नन्द, कृमिल, अनिरुद्ध, नन्द, उपनन्द, कुण्ठधान और शिष्यों का मिथ्या शिक्षक देवदत्त भी मुनि का उपदेश पाकर घर से निकल गये।

40 तब पुरोहित-पुत्र महात्मा उदायी ने उसी मार्ग का अनुसरण किया; और उन लोगों का निश्चय देखकर अत्रि-पुत्र (आत्रेय) उपालि ने भी उसी मार्ग पर चलने का इरादा किया।

41 अपने पुत्र की शक्ति देखकर राजा ने भी परम अमरत्व की धारा में प्रवेश किया और आसक्ति से विमुख होकर उसने राज्य अपने भाई को सौंपा और (स्वयं) महल में राजर्षि की तरह आचरण करते हुए रहने लगा।

42 इन तथा अन्य बन्धुओं, मित्रों एवं अनुयायियों को विनीत (दीक्षित) कर, बुद्ध ने उचित समय पर, पूरे आत्म-संयम के साथ, नगर में प्रवेश किया, जहाँ रोते हुए पुरवासियों ने उनका सत्कार किया।

43 राजा ने पुत्र सर्वार्थसिद्ध अपना कार्य पूरा करके नगर में प्रवेश कर रहे हैं, यह समाचार सुनकर महल की स्त्रियाँ द्वारों एवं वातायनों की ओर दौड़ीं।

44 काषाय वस्त्रधारी होनेपर भी उन्हें संध्याकालीन बादल से आधा ढके सूरज के समान चमकते देखकर, स्त्रियों ने आँसू बहाये और अपने कर-कमल जोड़कर उन्हें प्रणाम किया।

45 उन्हें नीची-निगाह चेहरे से चलते तथा धर्म एवं शरीर-सौन्दर्य से प्रकाशित होते देखकर स्त्रियों ने दया एवं भक्ति प्रकट की और अश्रु-स्नान-आँखों से उन्होंने इस तरह विलाप किया:—

46 "शिर मुड़ाने से व फेंके हुए चिथड़े पहनने से यद्यपि उनका सुन्दर शरीर बदल गया है, तो भी अपने शरीर के सुनहले रङ्ग से वह व्याप्त हैं। वह जमीन की ओर देखते हुए चल रहे हैं।

47 जो श्वेत आतपत्र के नीचे आश्रय पाने योग्य थे, ..., ..., और जो विजेता होने योग्य थे, वह अब भिक्षा-पात्र लिए घूम रहे हैं।

48 जो घोड़े की पीठ पर उस छाते की छाया के नीचे, जो तमाल-पत्र-युक्त कपोलवाले सुन्दरि-मुख के समान उज्ज्वल हो, सवार होने योग्य थे, वह भिक्षा-पात्र धारण किये हुए पैदल जा रहे हैं।

49 जो विपक्षी राजकुमारों को विनीत (नम्र) करने योग्य थे और जो उज्ज्वल मुकुट पहनकर स्त्री-समूहों एवं अपने परिचारक-बृन्द द्वारा देखे जाने योग्य थे, वह आगे की ओर केवल जुए की दूरी तक जमीन देखते हुए (=अवेक्षमाणो युगमात्रमुर्व्याः[77]) चल रहे हैं।

50 यह उनका कैसा दर्शन है, ये कैसे भिक्षु-वेष हैं, कौनसा लक्ष्य वह खोज रहे हैं, सुख उनका शत्रु क्यों हो गया है कि वह व्रतों में आनन्द पायें, स्त्रियों और बच्चों में नहीं?

51 राजा की पुत्र-वधू यशोधरा निश्चय ही शोक से ग्रस्त हुई, तो भी उसने कैसा दुष्कर कर्म किया है कि अपने पति के इस आचरण का समाचार सुनकर वह जीती रही और विनाश को प्राप्त नही हुई।

52 रूप के अनुरूप ही चमकती हुई पुत्र की आकृति को, जो अब आभूषण-रहित (=विवर्ण) है, देखकर क्या नरपति भी अपने पुत्र से अनुराग करते हैं या उन्हें हानिकारक शत्रु समझते हैं?

53 अश्रु-जल से नहाये हुए अपने पुत्र राहुल का देखकर यदि वह उसमें आसक्त (अनुरक्त) नहीं होते हैं, तो भला कोई क्या सोचे इन दृढ़ व्रतों के बारे में, जिनके कारण मनुष्य अपने स्नेही स्वजन से विमुख होता है।

54 व्रतों के आचरण से न तो उनकी दीप्ति ही नष्ट हुई है, न उनके शरीर का रूप ही और न उनकी गति ही; और इन गुणों से चमकते हुए उन्होंने शान्ति प्राप्त की है तथा अपने को विषयों से अलग किया है।"

55 विविध मतावलम्बियों के समान भिन्न-भिन्न मत ग्रहण करती हुई स्त्रियों ने इस तरह बहुत विलाप किया। बुद्ध ने भी अनासक्त (कठोर, दृढ़) चित्त से अपने जन्म नगर में प्रवेश किया और भिक्षा प्राप्त कर वह न्यग्रोध-वन में लौट गये।

56 तृष्णा-रहित चित्त से तथागत ने अपने पितृ-नगर में भिक्षा के लिए प्रवेश किया था; और पूर्व में श्रेय नही करने से जिनके साधन अल्प थे और जो बहुत कम भीख दे सकते थे उन लोगों को मुक्त करने की, जिन श्रमणों को अपने चित्त पर संयम प्राप्त नही हुआ था और जिन्हें

[77]- देखिये जातकमाला, जातक 4 श्लोक 4।

(भिक्षाटन के) ऐसे कामों से सन्तोष नही होता था उन्हें दृढ़ (समर्थ) करने की, संसार को "तुम्हारा मङ्गल हो" यह कह सकने की, और उसी प्रकार शास्त्रोपदेश करने की अपनी इच्छा उन्होंने याद रक्खी।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "पितापुत्र-समागम" नामक 19वाँ सर्ग समाप्त॥

बीसवाँ सर्ग

जेतवन-स्वीकार

1 (कपिलवस्तु में) महा-जनसमूह पर दया दिखाने के बाद (बुद्ध) उस नगर की ओर चले, जो प्रसेनजित् के बाहु-बल से रक्षित था।

2 तब वह उस गौरव-पूर्ण जेत-वन में पहुँचे, जो अशोक के बिखरे फूलों से उज्ज्वल था, मत्त कोकिलों के कूजन से गुञ्जित था और कैलाश के बर्फ के समान उजले घरों की पँक्ति से युक्त था।

3 तब सुवर्ण एवं श्वेत माला से अलङ्कृत शुद्ध जल-कलश लेकर सुदत्त ने उचित समय पर तथागत को जेतवन भेंट किया।

4 तब शाक्य-ऋषि को देखने की इच्छा से राजा प्रसेनजित् जेतवन की ओर चला। वहाँ पहुँचकर उसने श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम किया और बैठकर उनसे निवेदन किया:—

5 "हे ऋषि, इस नगर में आप ठहरने की इच्छा करते हैं, इससे निश्चय ही कोशल-निवासियों का सौभाग्य-उदय होगा। क्योंकि क्या वह देश, जो ऐसे तत्त्वदर्शी के आश्रय से वञ्चित है, चौपट या अभागा नही है?

6 आपके दर्शन से और हमारे ऊपर अनुग्रह करने के लिये हमारा प्रणाम आपके द्वारा स्वीकृत होने से हमें वह सन्तोष हो रहा है जो सज्जनों से मिलने पर भी लोगों को अनुभव नहीं होता है।

7 हवा जिस किसी चीज पर बहती है उसी का गुण (अर्थात् गन्ध) ग्रहण कर लेती है, और पक्षी, मेरु के सम्पर्क में आकर, अपना स्वभाविक शरीर खो बैठते हैं और सुवर्ण में परिणत हो जाते हैं।

8 एक साधु पुरुष, जो इहलोक और परलोक के ईश्वर हैं, इसमें ठहरे हुए हैं, इसीलिये मेरा उपवन देखने में वैसा ही गौरवमय है जैसा कि त्रिशङ्कु का महल, जिसमें महर्षि गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) का स्वागत हुआ था।

9 संसार के विविध लाभ अनित्य व विनाशवान् हैं, किन्तु वे असंख्य चीजें, जो आपके समीप होने से प्राप्त होती हैं, विनाशवान् नहीं हैं।

10 हे साधु, आपके शास्त्र का दर्शन हो, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लाभ नही जाना जाता है। हे शास्ता, मैंने दु:ख भोगा है और मैं राग एवं राजधर्म से पीड़ित हुआ हूँ।"

11 मुनि ने इन्द्र-सदृश राजा के ये और ऐसे ही दूसरे वचन कृपापूर्वक सुने और उसे लोभ एवं काम में आसक्त जानकर उसके मन को प्रेरित करने के लिये यों उत्तर दिया:—

12 "हे राजन, ये बहुत अचरज की बात नही कि कि आप साधु ... के प्रति इस तरह कहें या ऐसा व्यवहार करें।

13 जो लोग नीचे से ... अपने हितैषी धर्मात्मा (=आर्य) पुरुषों के पास आना चाहते हैं ...।

14 हे भूपति, मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, इसलिए कि आपकी मानसिक अवस्था ऐसी है। अत: आप मेरा उपदेश ग्रहण करें और वैसा करें जिससे यह सफल हो।

15 हे नरपति, जब काल (आप) राजा को बाँधकर खींचेगा, तब न तो स्वजन आपके पीछे जायँगे, न मित्र, न राज्य। सब लोग दु:खी व विवश होकर अलग हो जायँगे। केवल आपके कर्म ही छाया की भाँति आपके साथ जायँगे।

16 इसलिए यदि आप स्वर्ग व सुयश चाहते हैं, तो धर्मानुसार राज्य की रक्षा कीजिए। क्योंकि मोहवश धर्म को आकुल करनेवाले राजा के लिये स्वर्ग में थोड़ा-सा भी राज्य (स्थान) नही है।

17 इस संसार में धर्मानुसार राज्य की रक्षा करनेवाले कृशाश्व ने स्वर्ग प्राप्त किया, जब कि इस संसार में मोहवश धर्म से विमुख रहनेवाले नृपति निकुम्भ ने काशी में पृथ्वी में प्रवेश किया।

18 हे सौम्य, मैंने भले-बुरे कर्मों का यह दृष्टान्त आपको दिया। अत: अपनी प्रजाओं का सदा अच्छी तरह पालन कीजिए और खूब समझ-बूझकर उचित के लिए दृढ़तापूर्वक यत्न कीजिए।

19 मनुष्यों को कभी तङ्ग न कीजिए, अपने इन्द्रियों को कभी स्वतन्त्र न छोड़िये, पापियों का सङ्ग या क्रोध न कीजिए, अपने मन को बुरे रास्तों पर न भटकने दीजिए।

20 अभिमानवश धर्मात्माओं को कष्ट न दीजिए, मित्र-तुल्य तपस्वियों को उत्पीड़ित न कीजिए, पाप के प्रभाव में रहते हुए पवित्र व्रत मत ग्रहण कीजिए और बुरे विचारों (=कुदृष्टि) में मत पड़िए।

21 अशुभ का आश्रय न लीजिए, कुकर्मों में आसक्त न होइये, मद से अभिभूत (युक्त) न होइये, अप्रसन्नता या असहिष्णुता से न सुनिये, अपना यश क्षीण न कीजिये या अपना मन असत्य में न लगाइये, शास्त्र-सम्मत अंश से अधिक भूमि-कर न लीजिए।

22 मन को स्थिर रखिए और धर्म का पालप कीजिए, सज्जनों का सङ्ग कीजिए और ...; ऐसा कीजिए जिससे (इस जन्म में) उत्कर्ष प्राप्त कर फिर (जन्मान्तर में) आप उत्तम पद प्राप्त कर सकें।

23 वीर्य की रक्षा करते हुए, धैर्य रखते हुए, विद्या उपार्जन करते हुए, दोषों को जीतते हुए, मृत्यु को सदा स्मरण करते हुए, आप आर्य-पुरुष का कार्य करें और माहात्म्य-लाभ करके मार्ग प्राप्त करें। (=माहात्म्य-लाभाद् अधिगच्छ मार्गम्)

24 हे मित्र, आपको फिर वह कार्य करना चाहिए, जिससे इस फल की रक्षा (उत्पत्ति ?) होती है; क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य, जिसने (पूर्व में) यह कर्म किया है, उस बीज को बोता है जिसका फल वह देख चुका है।

25 इस जगत् में जो मनुष्य ऊँचे पद पर रहकर पाप में आसक्त होता है वह प्रकाश में है, किन्तु उनका चित्त अन्धकार में स्थित है; और जो मनुष्य धर्मरत (=धर्म-प्रधान) रहता हुआ भी मनुष्यों का प्रधान नही है वह अन्धकार में है किन्तु उसका चित्त प्रकाश में है।

26 जो कोई ऊँचे पद (या कुल) का होकर धर्माचरण करता है, उसका चित्त अत्यन्त विशद हो जाता है, और जो कोई नीच पद (या कुल) का होकर पापकर्म करता है, उसका चित्त अत्यन्त तमोमय हो जाता है।

27 इसलिए, हे राजन्, इन चार समूहों का अस्तित्व जानते हुए आपकी जैसी इच्छा हो वैसा यत्न करें, किन्तु यदि आप आनन्द-भोग करना चाहते हैं, तो आप अपने को निचली तीन श्रेणियों में पायँगे, पहली (उत्तम) में नही।

28 किसी भी मनुष्य के लिए दूसरे के खाते कुशल कर्म करना असम्भव है, या यदि वह करे भी तो इसका फल दूसरे को नही मिलेगा। अपने ही कर्म का फल नष्ट नही होता है, किन्तु अपने ही द्वारा अनुभव किया जाता है, और जो किया नही जाता है उसकी फल-प्राप्ति वास्तविक नहीं मानी जाती है।

29 क्योंकि जो किया नही जाता है (=अकृत है) उसकी शक्ति नही है, इसलिए अकृत से परलोक में श्रेय नही मिलता है, और क्योंकि इससे जगत् में जन्म-विनाश (=विभव) नहीं होता है, अत: आप अपने को सत्कर्म-मार्ग में लगाये।

30 उस दुष्ट मनुष्य को, जो अत्यन्त पाप करता है, जीवलोक में आत्मसुख नही मिलता है। अपने ही खाते पाप करके परलोक में वह निश्चय ही स्वयं फल भोगेगा।

31 चार महापर्वत, हे महाराज, एक साथ आकर संसार को पीसते हैं, धर्मानुसार यथाशक्ति किये गये विविध कर्मों के आश्रय के बिना किया ही क्या जा सकता है?

32 उसी प्रकार जब जन्म जरा रोग और मृत्यु भी, ये चार, एक साथ आते हैं, तब सारा संसार विवश होकर चक्कर काटता है, जैसे चार पहाड़ों से घिरा हो।

33 जब यह दु:ख हम बेबसों पर आता है और इसके विरुद्ध हमें आश्रय प्रतिरोध-शक्ति या त्राण नही मिलता है, तब अव्यर्थ व अक्षय धर्म ग्रहण करने के अतिरिक्त हमारे लिए (दूसरी) कोई ओषधि नही।

34 क्योंकि संसार अनित्य है और बिजली की चमक के समान क्षणिक इन्द्रिय-सुखों में आसक्त है और क्योंकि यह (संसार) मौत की अँगुली के अग्रभाग पर स्थित है, इसलिए मनुष्य को धर्माचरण नही करने का फल नही भोगना चाहिए।

35 वे अनेक नृप, जो महेन्द्र के समान थे, देव युद्धों में लड़े, वे शक्तिशाली और अभिमानी (?) थे, तो भी कालक्रम से वे दु:ख के भागी हुए।

36 सब जीवों को धारण करनेवाली धरती भी नष्ट होती है, और मेरुपर्वत प्रलय-अग्नि से जल जाता है; महासागर सूख जाता है, फिर फेन के समान क्षणिक मर्त्य-लोक की विनाशशीलता का क्या कहना?

37 हवा जोरों से बहकर भी बन्द हो जाती है, सूरज जगत् को तपाकर भी अस्त हो जाती है, उसी प्रकार आग जलकर भी बूझ जाती है; जो कुछ है वह सब, मैं समझता हूँ, ऐसा ही है और परिवर्तनशील है।

38 यद्यपि इस शरीर का देर तक सावधानीपूर्वक पालन किया जाता है, और विविध उपभोगों से लालन किया जाता है, तो भी यह यहाँ ... कुछ ही दिनों तक रहनेवाला है।

39 विदित हो कि संसार की इस अवस्था में लोग, अभिमान एवं मद का पोषण करते हुए, समय पर ऊँची शय्याओं पर सोने के लिए लेटते हैं; आप उनपर न लेटें, किन्तु परम श्रेय के लिये जगे रहें।

40 भव-चक्र की निरन्तर चलती रहती दोलापर संसार चढ़ता है और असावधान रहता है, यद्यपि इस संसार का पतन ... निश्चित है।

41 उसका सेवन न करें जिसका परिणाम प्रिय नही होता है, वह न करें, जिसका फल बुरा होता है; वह मित्र मित्र नही है जो शुभ से युक्त नही है और वह ज्ञान ज्ञान नही है जो दु:ख दूर नही कर सकता।

42 यदि आपको ज्ञान है, तो आपके लिए पुनर्जन्म नही, या यदि जन्म हो भी तो यह अरूप अवस्था में होगा; यदि आप शरीर धारण करते रहे, तो आप विषयों से मुक्त नहीं हो सकते, और काम-लोक (=काम-भव) अनित्य एवं अनर्थकारी है।

43 क्योंकि कर्म-शक्ति के अधीन होकर अरूप देव भी अस्थायी एवं काल के वशीभूत हैं, अत: अप्रवृत्ति में अपना चित्त लगाइये; यदि प्रवृत्ति नही, तो दु:ख नही।

44 क्योंकि शरीर, जो कि चलना, खड़ा होना आदि विविध कार्यों पर आश्रित है, दु:ख का मूल है, इसलिए ज्ञान के होने से—ज्ञान जो कि अरूप अवस्था के होने में सहायक है—शरीररूप ऋण से मुक्ति होती है।

45 क्योंकि काम (-वासना) के कारण संसार जन्म लेता है और उसके द्वारा अत्यन्त महादुःख भोगता है, इसलिए जब मनुष्य अपने को काम-भव से अलग (=विविच्) करेगा, तब वह दुःख में आसक्त न होगा और न पीड़ित होगा।

46 इसलिए चाहे अरूप-देवों के बीच या रूप-देवों के बीच, जो कि काम के अधीन हैं ही पुनर्जन्म की शक्ति (विद्यमान) होने के कारण प्रवृत्ति बन्द नही होती है, फिर छः काम-वासनाओं के क्षेत्र में रहनेवालों की प्रवृत्ति कहाँ से बन्द होगी?

47 तीन भवों (काम-भव, रूप-भव, अरूप-भव) के इस तरह अनित्य दुःखमय अनात्म और सदा प्रज्वलित होनेपर लोगों के घुसने के लिए आश्रय-स्थल नही, जैसे कि उन चिड़ियों के लिए (आश्रय-स्थल नही) जिनका निवास-वृक्ष जल रहा हो।

48 यह परम ज्ञेय है, (इसके अतिरिक्त) और कुछ ज्ञेय नही है। यह उत्तम ज्ञान (=मति) है, (इसके अतिरिक्त) और कुछ ज्ञान नही है। यह उत्तम कार्य है, (ऐसा) ...और कुछ नही माना जाता है।

49 निश्चय ही ऐसा नही सोचना चाहिये कि यह धर्म गृहस्थों के लिए नही है। वन में रहता हो या घर में, वास्तम में वही (जीता) है जो शान्ति प्राप्त करता है।

50 आतप से दग्ध मनुष्य पानी में प्रवेश करता है, बादल से सब किसी को सुख (आराम) मिलता है। जिसे प्रदीप है वह अन्धकार में देखता है। योग प्रणाम है, न कि उम्र (=वयस) या वंश।[78]

51 कुछ लोग, यद्यपि वे बुढ़ापे में (=वयसि) वन में रहते हैं, योगाभ्यास नही कर सकते और व्रत-भङ्ग करके दुर्गति को प्राप्त होते हैं; दूसरे लोग घर में रहकर भी अपने कर्मों को विशुद्ध करते हैं और सावधान (=अप्रमत्त) रहते हुए नैष्ठिक पद प्राप्त करते हैं।

52 अज्ञान (=तम) रूप सागर में, कुदृष्टियाँ ही जिसकी तरङ्गें हैं और जन्म ही जिसका जल है, सङ्घर्ष करनेवाले लोगों के बीच केवल वही उस (सागर) से त्राण पाता है, जिसे स्मृति (=जागरूकता) एवं वीर्यरूपी पतवारों से युक्त प्रज्ञारूपी नाव है।"

53 इस तरह अत्यन्त विषयासक्त राजा ने सर्वज्ञ से यह धर्म-तत्त्व प्राप्त किया और अपने में यह विश्वास उत्पन्न होनेपर कि अकुशल राज्य अनित्य एवं चञ्चल है, वह मद-मुक्त हाथी की तरह गम्भीर होकर श्रावस्ती लौट गया।

54 भूपति ने उन्हें प्रणाम किया, यह जानकर दूसरे पण्डितों ने (=तीर्थिक) उन दसबल (शास्ता) को दिव्य शक्ति प्रदर्शन करने के लिये चुनौती दी; और जब पृथ्वी-पति ने उनसे वैसा करने के लिये अनुरोध किया, तब संयतात्मा (=जितात्मा) मुनि दिव्य शक्ति दिखाने को राजी हुए।

[78]- अन्तिम पाद का मूल यह हो सकता है—"योगः प्रमाणं न वयो न वंशः।"

55 तब मुनि अपने प्रभा-वर्षी मण्डल के साथ ऐसे चमकने लगे, जैसे सूर्य ताराओं को निष्प्रभ कर रहा हो, और उन्होंने भाँति-भाँति की दिव्य शक्तियों द्वारा विविध मतों के शिक्षकों को पराजित करके सबको आनन्दित किया।

56 तब श्रावस्ती के लोगों द्वारा इस (ऋषि-प्रदर्शन) के लिये सम्मानित एवं पूजित होकर वह अनुत्तर माहात्म्यपूर्वक (वहाँ से) चल पड़े और अपनी माता के हित के लिये धर्मोपदेश करने के लिए स्वर्ग-लोक (=त्रिविष्टप) के ऊपर चढ़ गये।

57 तब मुनि ने अपने ज्ञान द्वारा स्वर्ग में रहनेवाली अपनी माता को दीक्षित किया; और वर्षा-ऋतु वहीं बिताकर तथा दिव्य देवों के शासक से उचित रीति से भिक्षा ग्रहणकर वह स्वर्ग-लोक से संकाश्य में उतरे।

58 देवगण, जो शान्ति प्राप्त कर चुके थे, अपने विमानों में खड़े रहे और अपनी आँखों से उनका अनुसरण किया; जैसे पृथ्वी पर गिर रहे हों, और उनका सम्मान करते समय पृथ्वी के अनेक राजाओं ने अपने मुख ऊपर उठाकर अपने मस्तकों से उनका स्वागत किया।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "जेतवन-स्वीकार" नामक 20वाँ सर्ग समाप्त॥

इक्कीसवाँ सर्ग

प्रव्रज्या-स्रोत

1 स्वर्ग में अपनी माता को तथा निर्वाण के इच्छुक दूसरे देवों (=दिवौकः) को दीक्षित करने के बाद मुनि पृथ्वी पर दीक्षा पाने योग्य लोगों को दीक्षित करते हुए घूमने लगे।

2 तब पाँच पर्वतों के बीच में स्थित नगर में विनायक ने ज्योतिष्क, जीवक, शूर, श्रोण और अङ्गद को विनीत (प्रव्रजित) किया।

3 उन्होंने राजपुत्र अभय, श्रीगुप्त, उपालि, न्यग्रोध, और दूसरों को, जो (नित्यता और विनाश के) दो अन्तों को मानते थे, उनके पूर्व-मतों से विमुख किया।

4 उन्होंने पुष्कर नामक गान्धार-राज को दीक्षित किया, जिसने धर्म-श्रवण करते ही राज्य-लक्ष्मी का परित्याग किया।

5 तब उन विपुल-पराक्रम ने विपुल पर्वत पर हैमवत और साताग्र यक्षों को दीक्षित किया।

6 जीवक के आम्र-वन में रात के समय पाँच सौ रानियों के साथ राजा (अजातशत्रु) को गुणदर्शी बुद्ध ने धर्म में स्थापित किया।

7 तब पाषाण-पर्वत पर शान्ति-परायण पारायण (नामक) ब्राह्मण आधी गाथा के सूक्ष्म अर्थ द्वारा दीक्षित हुआ।[79]

[79]- इसका उत्तरार्ध चीनी अनुवाद से लिया गया है।

8 तब वेणु-कण्टक में उन्होंने नन्द की साध्वी मामा को प्रव्रजित किया, जो उत्तम जागरूकता (=सत्स्मृति)—द्वारा अपनी आँखों के आगे (गुप्त) कोषों को देखती थी।

9 तब स्थाणुतमी गाँव में ब्राह्मण-श्रेष्ठ कूटदत्त, जो सब प्रकार के यज्ञ करना चाहता था, निर्वाण-धर्म में प्रवेश कराया गया।

10 तब विदेह पर्वत पर पञ्चशिख (गंधर्व-पुत्र), असुरों और देवों को (धर्म में) दृढ़ विश्वास हुआ।

11 तब अङ्ग नगर में पूर्णभद्र यक्ष तथा श्रेष्ठ, दण्ड, श्वेत, पिङ्गल व चण्ड (नामक) बड़े-बड़े साँप (=महानाग) दीक्षित हुए।

12 आपण नगर में केन्य व शेल (नामक) ब्राह्मण, जो (स्वर्ग में जन्म लेने के लिए) तप कर रहे थे, निर्वाण-पथ पर लाये गये।

13 सुह्मों के बीच भगवान् ने दिव्य शक्ति (ऋद्धि) के प्रभाव से अङ्गुलिमाल ब्राह्मण को विनीत किया, जो सौदास के समान क्रूर था।[80]

14 भद्र में एक भद्र पुरुष के पुत्र से, जिसका नाम मेण्ढक था, जिसकी आजीविका अच्छी थी, जो उदार दाता था और जो सम्पत्ति में पूर्णभद्र के समान था, सम्यक् दृष्टि ग्रहण कराई गई।

15 तब विदेह नगर में वक्ता-श्रेष्ठ ने उपदेश द्वारा ब्रह्मायु नामक व्यक्ति को जीता, जिसकी आयु ब्रह्मा की-सी लम्बी थी।

16 उन्होंने वैशाली के जलाशय में माँस-भक्षक (मर्कट नामक) राक्षस को तथा सिंह उत्तर व सत्यक-प्रमुख लिच्छवियों को भी दीक्षित किया।

17 तब अलकावती नगर में वह आर्यकर्मा, भद्र नामक एक सदाशय (उत्तम आशयवाले) यक्ष को धर्म-पथ पर लाये।

18 तब एक अत्यन्त अकुशल अटवी (जङ्गल) में बुद्ध ने आटविक यक्ष को और कुमार हस्तक को उपदेश दिया।

*19 तब....नगर में निर्वाण-दर्शी ने नागायन यक्ष को निर्वाण कर उपदेश दिया और यक्ष-राज ने उन्हें प्रणाम किया।

20 गया में ऋषि ने टङ्कित ऋषियों को और खर तथा शूचीलोम नामक दो यक्षों को उपदेश दिया।[81]

21 तब वाराणसी नगर में दसबलधारी ने कात्यायन नामक ब्राह्मण को प्रव्रजित किया, जो असित ऋषि का भागिनेय था।

22 तब वह अपनी दिव्य शक्ति से शूर्पारक नगर में गये और स्तवकर्णी श्रेष्ठी को उपेदश दिया,

[80]- सुह्म=हजारीबाग, संथाल-पर्गन्ना जिलों का कितना ही अंश—बुद्धचर्या।
उस देश के रहनेवाले लोग सुह्म कहलाते हैं।

[81]- "टङ्कित ऋषि" से शायद "टङ्कित गुफाओं में रहनेवाले ऋषि" का अभिप्राय है।

23 जो उपदेश सुनते ही इतना श्रद्धालु हो गया कि वह मुनि-वर के लिए एक चन्दन-विहार बनाने लगा, जो सदा सुगन्धित एवं गगन-चुम्बी था।

24 तब उन्होंने तपस्वी कपिल को महीवती में विनीत किया, जहाँ एक शिला पर मुनि के पाँवों के चक्र-चिह्न देख पड़ते थे।

25 तब वरण में उन्होंने वारण (नामक) यक्ष को उपदेश दिया; उसी प्रकार मथुरा में भयानक गर्दभ दीक्षित हुआ।

26 तब स्थूलकोष्ठक नगर में विनायक ने राष्ट्रपाल कहे जानेवाले (व्यक्ति) को दीक्षित किया, जिसका धन राजा के धन के बराबर था।

27 तब वैरञ्जा में विरिञ्चि-सदृश एक महासत्त्व दीक्षित हुआ और उसी तरह कल्माशदम्य में विद्वान् भारद्वाज।

28 फिर श्रावस्ती में मुनि ने सभिय, निर्ग्रन्थ नप्त्रीपुत्रों और अन्य तीर्थिकों (पंडितों) का अन्धकार दूर किया।

29 यहाँ भी ब्राह्मण याज्ञिक पुष्कलसादी एवं जातिश्रोणी तथा कोशल-राज बुद्ध-धर्म में लाये गये।

30 तब शेतविक की वन-भूमि में उत्तम-शिक्षक ने एक मैने को और एक सुग्गे को—द्विजों के समान विद्वान् दो द्विजों को—सिखाया।

31 तब....नगर में जङ्गली नागर तथा क्रूरकर्मा कालक व कुम्भीर शम-धर्म में लाये गये।[82]

32 तब भार्गसों के बीच उन्होंने भेषक यक्ष को दीक्षित किया और नकुल के वृद्ध माता-पिता पर वैसा ही अनुग्रह किया।

33 कौशाम्बी में धनवान् घोषिल, कुब्जोत्तरा तथा दूसरी स्त्रियाँ और बहुत-से लोग दीक्षित हुए।

34 तब गान्धार देश में अपलाल (नामक) सर्प, जिसके इन्द्रिय विनय द्वारा शान्त हो गये, बुराई के परे चला गया।

*35 तब मृत्यु (काल) के समान जलाने की इच्छा करनेवाले.... को दीक्षित कर बुद्ध ने क्रम से धर्मोपदेश किया।

36 इन तथा अन्य स्थलचारी अथवा नभचारी जीवों को दीक्षित करने से बुद्ध का यश बढ़ता ही गया, जैसे (पूर्णिमा आदि) पर्व में समुद्र।

37 उनका माहात्म्य देखकर देवदत्त को द्वेष होग गया और ध्यान-संयम खोकर उसने बहुत-से अनुचित काम किये।

38 कलुषित चित्त से उसने मुनि के सङ्घ में भेद खड़ा किया और भेद के कारण उनसे अनुराग करने के बदले उसने उन्हें क्लेश पहुँचाने का प्रयत्न किया।

[82]- रिक्त स्थान में साकेत (अयोध्या) लिखा जा सकता है।

39 तब गृध्रकूट पर्वत पर उसने वेगपूर्वक एक शिला लुढ़काई; किन्तु मुनि के ऊपर लक्ष्य होनेपर भी यह उनपर नही गिरी, किन्तु दो टुकड़ों में विभक्त हो गई।

40 राज-मार्ग पर उसने तथागत की ओर एक गजेन्द्र छोड़ा, जो प्रलयकालीन काले बादलों के समान गरज रहा था और जो चाँद के छिपने पर आकाश में बहनेवाली आँधी के समान दौड़ रहा था।

41 राजगृह के मार्ग उन लाशों से (पटकर) चलने योग्य नहीं रहे, जिनपर उसने अपने शरीर से चोट की थी, या जिन्हें उसने अपनी सूँड़ से ऊपर उठाया था या जिनकी अँतड़ियाँ उसके दाँतों द्वारा खींची जाकर ढेर की ढेर बिखेरी गई थीं।[83]

42 मांस की प्यास से उसने लोगों की जाँघें खोदीं और जब उसकी सूँड़ ने अँतड़ियों का स्पर्श किया, तब छुटकारा पाने के लिए उसने उन (अँतड़ियों) की मालाएँ खींचकर पत्थर की तरह आकाश में फेंकीं, उस समय उसके भयावने मस्तक, कानों व जीभ से लोहू चू रहा था।

43 नगर-निवासी आतङ्कित हुए और उससे डर गये, इसलिये कि वह रक्त-बिन्दुओं और सड़ते हुए (दुर्गंध-युक्त) रुधिर से लिप्त होकर तथा मस्तक पर व्याप्त मद-जल की गन्ध से युक्त होकर असीम क्रोध से घूम रहा था।

44 जब उन लोगों ने यम-दण्ड के समान भयानक उस मतवाले हाथी को देखा, जिसका चेहरा अविनय से फूला हुआ था, जो गरज रहा था और क्रोध से आँखें घुमा रहा था, तब राजगृह में हाहाकार मच गया।

45 कुछ लोग निराश होकर चारों ओर भागे, कुछ लोग ऐसी जगह छिप गये जहाँ वे देखे नही जा सकते थे और दूसरे ऐसे डरे कि दूसरा सब भय खोकर दूसरों के घरों में घुस गये।

46 हाथी कहीं बुद्ध को क्लेश न पहुँचावे, इस डर से कुछों ने अपनी जान की पर्वाह न की और उसके पीछे से वीरतापूर्वक चिल्लाये, जैसे कूदने को उद्यत सिंह गरज रहा हो।

47 उसी प्रकार दूसरों ने महावत का पुकारा, कुछों ने प्रार्थनापूर्वक अपने हाथ उठाये, कुछों ने तब उसे धमकाया भी और दूसरों ने उसके द्रव्य-प्रेम से प्रार्थना (अपील) की।

48 छज्जों से देखती हुई नययुवतियाँ बाहुएँ फेंककर रोईं; कुछों ने डरकर सुवर्ण-कङ्कणयुक्त ताम्रवर्ण हाथों से आँखें मूँद लीं।

49 यद्यपि हत्या के अभिप्राय से हाथी आगे आ रहा था और रोते हुए लोग (मना करने के लिए) हाथ उठा रहे थे, तो भी सुगत शान्त एवं अविचल (-चित्त) होकर आगे ही बढ़े, न तो उन्होंने पाँव उठाना ही रोका, और न वे द्वेष के ही वशीभूत हुए।

50 शान्तिपूर्वक मुनि आगे आये; उस महागजेन्द्र को भी उन्हें स्पर्श करने की शक्ति नही थी, इसलिए कि अपनी मैत्री के कारण उनकी करुणा सब जीवों पर थी और इसलिए कि देवगण भक्तिवश उनके पीछे-पीछे चल रहे थे।

51 दूर से ही गजेन्द्र को देखकर बुद्ध के पीछे पीछे जानेवाले शिष्य भाग गये। केवल आनन्द ने बुद्ध का अनुसरण किया, जैसे सहज स्वभाव विविध पदार्थों का अनुसरण करता है।

52 जब क्रुद्ध हाथी समीप आया तो मुनि के दिव्य प्रभाव से उसे होश हो गया, और अपना शरीर झुकाकर, उस पर्वत के समान जिसके पङ्ख वज्र से विदीर्ण हुए हों, उसने अपना मस्तक पृथ्वी पर रक्खा।

53 जैसे सूरज अपनी किरणों से बादल को छूता है, वैसे ही मुनि ने अपने सुन्दर हाथ से, जो कमल के समान कोमल था और जिसकी सुगठित अङ्गुलियाँ (रेखा-) जाल से युक्त थीं, गजराज के माथे पर थपकी लगाई।

54 जब हाथी पानी से भरे बादल के समान उनके पाँवों पर झुका, तब ताल-पत्र-सदृश उसके (बड़े-बड़े) कानों को निश्चल देखकर मुनि ने उसे शम-धर्म का उपदेश दिया, जो बुद्धिधारी प्राणियों के लिए ही उपयुक्त है:—

55 "निरपराध (=नाग) की हत्या करने से दु:ख होता है; हे हाथी, निरपराध को पीड़ित न करो। क्योंकि, हे हाथी निरपराध की हत्या करनेवाले का जीवन जन्म जन्म में आठ जन्म तक विकसित नही होता है।

56 काम मोह व घृणा, ये तीन दुर्जेय मद हैं; फिर भी मुनिगण मद-त्रय से मुक्त हैं। अत: इन तापों से अपने को मुक्त करो और दु:ख के परे चले जाओ।

57 इसलिए ये अन्धकार-प्रेम (=तम:प्रसक्ति) त्याग करने के लिए मद-मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक अवस्था में लौट आओ। हे गजेन्द्र, काम की अधिकता से संसार-सागर के पङ्क में फिर मत गिरो।"

58 तब ये वचन सुनकर हाथी मद से मुक्त हो गया और फिर उचित माननिक अवस्था पर लौट आया; और अमृत-पान करने पर रोग-मुक्त हुए के समान उसने उत्तम आन्तरिक (=अन्तर्गत) आनन्द प्राप्त किया।

59 गजेन्द्र ने तुरन्त मद का त्याग किया और शिष्य के समान मुनि को प्रणाम किया, यह देख कर कुछों ने वस्त्र से ढँकी बाहुएँ ऊपर फेंकीं और दूसरों ने भुजाएँ चमकाईं (घुमाईं, =√परभ्रि, √उल्लस्), जिससे कपड़े गिर पड़े।

60 तब कुछों ने मुनि के आगे हाथ जोड़े और दूसरों ने उन्हें घेर लिया। कुछों ने उस बड़े हाथी के आर्यत्व की प्रशंसा की और दूसरों ने विस्मित होकर उसे थपकी लगाई।

---

[83]- अमरावती में चित्रित इस दृश्य (Vogel—"भारत लङ्का और जावा में बौद्ध-कला") का आधार ये ही श्लोक हैं—जौन्स्टन।

61 महल की स्त्रियों में से कुछों ने बहुमूल्य नये वस्त्रों से उन्हें सम्मानित किया तथा दूसरों ने उनपर भाँति-भाँति के अलङ्कारों तथा मोहक और नये हारों की झड़ी लगा दी।

62 जब काल-सदृश वह हाथी विनीत होकर खड़ा हुआ, तब जो (धर्म में) विश्वास नही करते थे वे मध्यम अवस्था में प्रविष्ट हुए, जो पहले से ही मध्यम अवस्था में थे उन्होंने विश्वास की एक विशिष्ट अवस्था प्राप्त की, और जो विश्वासी थे वे अत्यन्त दृढ़ हो गये।

63 तब अपने महल में खड़े अजातशत्रु ने गजेन्द्र को मुनि द्वारा विनीत होते देखा और वह विस्मय से अभिभूत हो गया; उसे प्रसन्नता हुई और बुद्ध में परम विश्वास हुआ।

64 जैसे कलियुग बीतने पर तथा कृतयुग शुरु होनेपर धर्म और अर्थ की वृद्धि होती है, वैसे ही मुनि अपने यश, ऋद्धियों (=चमत्कारों) एवं दुष्कर कर्मों से बढ़ने लगे।

65 किन्तु देवदत्त, द्वेषपूर्वक बहुत-से बुरे व पाप कर्म करके अधःलोग में गिरा, जो राजा और प्रजा द्वारा ब्राह्मणों एवं मुनियों द्वारा निन्दित है।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "प्रव्रज्या-स्रोत" नामक 21वाँ सर्ग समाप्त॥

बाईसवाँ सर्ग

अम्रपाली के उपवन में

1 जब वह वक्ता-श्रेष्ठ काल-क्रम से संसार पर अनुग्रह कर चुके और पृथ्वी को अपने धर्म से व्याप्त कर चुके, तब उनका चित्त निर्वाण की ओर गया।

2 तब मुनि यथासमय राजगृह से पाटलिपुत्र गये, जहाँ वह पाटलिपुत्र नामक चैत्य में ठहरे।

3 उस समय मगध-राज के मन्त्री वर्षाकार (वर्षकार) ने लिच्छवियों को शान्त रखने के लिए एक किला बनाया था।

4 तथागत ने देवताओं को वहाँ अपना कोष लाते देखा और भविष्यद्वाणी की : "यह नगर संसार भर में सर्वश्रेष्ठ होगा।"

5 वह उत्तम कर्मशील (कर्मी), वर्षाकार द्वारा उचित रीति से सम्मानित होकर, समुद्र की प्रधान पत्नी (महिषी) की ओर गये।

6 सूर्य के समान उज्वल भगवान् जिस द्वार से निकले, उसे उस (वर्षाकार) ने गौतम-द्वार (के नाम) सम्मानित किया।

7 वह, जो कि (संसार-सागर) पार करना देख चुके थे, गङ्गातट पर आये और भाँति भाँति की नावों के साथ लोगों को देखकर उन्होंने सोचा:—

8 "प्रयत्नपूर्वक नदी पार करना मेरे लिए अनुचित होगा, इसलिए अपने ऋषि-बल से नाव के बिना ही मुझे स्वयं जाना चाहिए।"

9 इस तरह दर्शकों की दृष्टि से ओझल होकर वह तब अपने शिष्यों के साथ हवा की गति को भी मात करते हुए एक क्षण में उस पार चले गये।

10 क्योंकि मुनि जानते थे कि ज्ञानरूपी नाव से ही दुःखरूपी सागर पार किया जाता है, इसलिए उन्होंने इस (भौतिक) नाव का प्रयोग किये बिना ही गङ्गा पार की।

11 वह घाट, जहाँ से विनायक गङ्गा के उस पार गये, जगत् में उनके गोत्र-नाम से (गोतम) तीर्थ होकर विख्यात है।

*12 उन्हें देखकर पार होने के इच्छुक, पार हो रहे तथा पार हुए लोगों के मुख विस्मय से विकसित हुए।

13 तब बुद्ध गङ्गा तीर से कुटी नामक गाँव में गये और वहाँ धर्मोपदेश करके नादी गये।

14 उस समय वहाँ बहुत-से लोग मरे थे और मुनि ने बतलाया कि उनमें से कौन किस लोक में जन्मा और क्या होकर।

15 वहाँ एक रात रहकर श्रीघन (बुद्ध) वैशाली नगरी चले गये और अम्रपाली के प्रान्त में एक उज्वल उपवन में ठहरे।

16 "तथागत यहीं हैं" यह जानकर अम्रपाली वेश्या एक साधारण रथ पर सवार हुई और अत्यन्त प्रसन्न होकर चली।

17 देव-पूजन-समय की एक कुलीन स्त्री के समान वह स्वच्छ श्वेत वस्त्र पहने हुए थी और मालाओं या अङ्गराग से रहित थी।

*18 सौन्दर्य के अभिमान में वह अपने संयुक्त आकर्षणों से लिच्छवि कुल-पुत्रों की सम्पत्ति एवं चित्त आकृष्ट किया करती थी।

19 रूपवती वन-देवता के समान अपने सौन्दर्य एवं गौरव में आत्म-विश्वास करती हुई वह रथ से उतरी और तेजी से उपवन में घुस गई।

20 "उसकी आँखें चञ्चल हैं और उसके कारण कुलीन स्त्रियों को शोक होता है" यह देखकर सुगत ने दुन्दुभि की-सी वाणी में शिष्यों को आदेश दिया—

21 "यह अम्रपाली समीप आ रही है, जो दुर्बलों का मानसिक ताप है; स्मृतिरूपी रसायन से अपने अपने मन को वश में रखते हुए तुमलोग ज्ञान में स्थित हो जाओ।

22 स्मृति (अप्रमाद, सावधानी) एवं ज्ञान (प्रबोध) रहित पुरुष के लिए स्त्री के सान्निध्य (पड़ोस, समीपता) की अपेक्षा साँप या खुली तलवारवाले शत्रु का सान्निध्य अच्छा है।

23 बैठी हो या सोई, टहलती हो या खड़ी, चित्र-लिखित ही क्यों न हो, स्त्री (हर हालत में) पुरुषों के हृदय हरण करती है।

24 स्त्रियाँ विपत्ति (=व्यसन) से भी पीड़ित हों, या रोती हुई चारों ओर बाहु-लताएँ फेंक रही हों, या आकुल-केशपाश हो दग्ध हो रही हों, तो भी उसकी शक्ति उत्कृष्ट होती है।

25 बाहरी वस्तुओं का प्रयोग करती हुई वे अनेक आहार्य (बनावटी) गुणों से (लोगों को) ठगती हैं और अपने वास्तविक गुणों को छिपाती हुई वे मूर्खों को मोह में डालती हैं।

26 स्त्री को अनित्य दु:खमय अनात्म और अशुचि समझने से पण्डितों के चित्त उसे देखकर अभिभूत नही होते हैं।

27 जिन मनुष्यों के चित्त इन प्रलोभनों (आलय) से सुपरिचित होते हैं, जैसे कि पशु गोचर-भूमि से, वे दिव्य आनन्दों का आक्रमण होनेपर कैसे मोह में पड़ सकते हैं?

28 अत: प्रज्ञारूपी तीर लेकर, हाथों में वीर्यरूवी धनुष ग्रहण कर और स्मृतिरूपी कवच पहनकर विषयों की बातपर खूब सोचो।

29 बहकी हुई स्मृति से स्त्री की चञ्चल आँखों को देखने की अपेक्षा लोहे की गर्म काँटियों से अपनी आँखों को जला डालना अच्छा है।

30 यदि मरते समय तुम्हारा चित्त काम के अधीन हो, तो इससे तुम विवश होकर बाँधे जाओगे और पशु-योनि में या नरक में तुम्हारा जन्म होगा।

31 इसलिये इस भय को पहचानो और बाहरी लक्षणों (=निमित्त) पर ध्यान मत दो; क्योंकि वही ठीक-ठीक देखता है, जो शरीर में केवल (वास्तविक) रूप को देखता है।

32 जगत् में न तो इन्द्रिय ही विषयों को बाँधते हैं और न विषय ही इन्द्रियों को। उन (विषयों) के लिए जिस किसी को काम (पैदा) होता है, वह उससे बाँधा जाता है।

33 विषय और इन्द्रिय परस्पर आसक्त हैं, जैसे कि दो बैलों का जोड़ा एक जुए में जुता रहता है।

*34 आँख आकृति को देखती है और चित्त उसपर विचार करता है, और उस विचार से विषय के बारे में काम उत्पन्न होता है और काम से मुक्ति (निष्कामता) भी।

*35 तब विषयों की उचित्त परीक्षा नही करने से महा-अनर्थ होता है, इन्द्रियों के क्षेत्र में प्रवृत्ति (विषयासक्ति) सब विपत्तियों का घर है।

36 अत: स्मृति का त्याग नही करते हुए, परम सावधानी से चलते हुए, और अपने हित (=स्वार्थ) का खयाल रखते हुए, तुम लोग मन से उत्साहपूर्वक भावना करो।"

37 जब उन्होंने अपने शिष्यों को, जो रूप के अन्त तक नही पहुँचे थे, इस प्रकार उपदेश दिया, तब अम्रपाली उन्हें देखकर हाथ जोड़े समीप आई।

38 शान्तचित्त मुनि को एक वृक्ष के नीचे बैठे देखकर उस (अम्रपाली) ने उन (मुनि) के द्वारा उपवन का उपभोग (=परिभोग) होने से अपने को अनुगृहीत माना।

39 तब अपनी चञ्चल आँखों को ठीक कर, उसने पूर्ण विकसित चम्पकपुष्प-सदृश मस्तक से मुनि को बड़ी श्रद्धा से प्रणाम किया।

40 जब सर्वज्ञ (मुनि) के आदेशानुसार वह बैठ चुकी, तब मुनि ने उसके समझने योग्य शब्दों में उसे कहा:—

41 "तुम्हारा यह आशय पवित्र है और तुम्हारा चित्त विशुद्धि द्वारा स्थिर है; तो भी रूपवती एवं युवती नारी में धर्म-पिपासा दुर्लभ है।

42 इसमें आश्चर्य का क्या कारण है कि धर्म, बुद्धिमान् पुरुषों को या विपत्ति-पीड़ित (=व्यसनाभिभूत) स्त्रियों को या संयतात्माओं (=आत्मवान्) को या व्याधि-ग्रस्तों को आकृष्ट करे?

43 किन्तु यह असाधारण है कि विषयासक्त (=विषयैकरस) जगत् में स्वभावत: दुर्बलबुद्धि एवं चञ्चलचित्त युवती नारी धर्म-भाव का पोषण करे।

44 तुम्हारा चित्त धर्माभिमुख है, यही तुम्हारा सच्चा धन (=सदर्थ) है; क्योंकि जीवलोक अनित्य है, अत: धर्म को छोड़कर दूसरी कोई सम्पत्ति नही।

45 रोग स्वास्थ्य को गिराता है, उम्र जवानी को काटती है और मृत्यु जीवन अपहरण करती है; किन्तु धर्म के लिये ऐसी कोई विपत्ति नही।

46 (सुख की) खोज में मनुष्य को केवल प्रिय से वियोग और अप्रिय से संयोग होता है, इसलिये धर्म ही सर्वोत्तम मार्ग है।

47 दूसरों पर निर्भर होना महादु:ख है और अपने पर आश्रित होना परम सुख; तो भी मानव-वंश में उत्पन्न सभी स्त्रियाँ दूसरों पर आश्रित हैं।[84]

48 इसलिए तुम उचित निष्कर्ष पर पहुँचो, क्योंकि पराश्रय एवं प्रसव के कारण स्त्रियों को अत्यन्त कष्ट होता है।"

49 उसने—जो उम्र में छोटी थी, किन्तु जो आशय बुद्धि एवं गम्भीरता में छोटी-जैसी नही थी—महामुनि के वचन प्रसन्नतापूर्वक सुने।

50 तथागत के धर्मोपदेश करने से उसने कामासक्त चित्त की अवस्था का परित्याग किया, स्त्रीत्व (स्त्री होने की दशा) को तुच्छ समझती हुई वह विषयों से विमुख हो गई, और अपनी जीविका के उपायों से उसे घृणा हो गई।

*51 तब मञ्जरी से भरी आम्रशाखा के समान अपनी देह से प्रणिपात करते हुए उसने अपनी दृष्टि महामुनि में स्थिर की और फिर धर्म के प्रति विशुद्धदृष्टि होकर वह उठ खड़ी हुई।

52 नम्र स्वभाव होनेपर भी, धर्म-पिपासा से निरन्तर प्रेरित होती नारी ने अपने कर-कमलों को जोड़कर मृदु स्वर में कहा—

53 "हे भगवन्, आपने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है और सांसारिक दु:ख शान्त कर लिया है। अपने शिष्यों के साथ भिक्षाटन का समय मेरे लिये सफल करें.....जिससे मैं धर्मोपदेश लाभ करूँ।"

---

[84]- मूल श्लोक बहुत कुछ ऐसा हो सकता है:—

पराश्रयो महादु:खं स्वाश्रय: परमं सुखम्।
मनुवंशे समुत्पन्ना: सर्वा: स्त्रिय: पराश्रिता:॥

54 तब उसकी भक्ति देख और प्राणियों को आहार पर आश्रित जान, सुगत ने मौन धारण कर अपनी सम्मति दी तथा सङ्केत (=विकार) द्वारा अपना आशय प्रकट किया।

55 परम धर्म के अधिकारी बुद्ध को, जिनकी दृष्टि अवसर को पहचानती थी, उस धर्म-पात्र में अत्यन्त आनन्द हुआ, ...श्रद्धा द्वारा श्रेष्ठ लाभ होता है, यह जानते हुए उन्होंने उस (अम्रपाली) की प्रंशसा की।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "अम्रपाली के उपवन में मुनि का आगमन" नामक 22वाँ सर्ग समाप्त॥

तेईसवाँ सर्ग

आयु निश्चित करना

1 तब मुनि का आशय समझकर, वह उन्हें प्रमाण करके नगर को लौट गई। समाचार सुनकर, लिच्छवि बुद्ध को देखने आये।

2 कुछों के घोड़े, रथ, छत्र, हार, अलङ्कार और वस्त्र श्वेत थे तथा दूसरों के सुनहले रङ्ग के थे।

3 कुछों की सब चीजें वैदूर्य के समान पीली थीं, तो दूसरों की मयूर-पुच्छ के रङ्ग की। इस तरह अपने-अपने मन के अनुकूल उज्जवल परिधान (चमकीला पहनावा) पहनकर वे बाहर आये।

4 वे, जिनके शरीर पर्वत के समान विशाल थे और जिनकी बाहुएँ सुनहले जुए के समान थीं, स्वर्ग के शरीरधारी उज्जवल .... के सदृश जान पड़े।

5 जब वे रथों से उतरने के लिए खड़े हुए, तब संध्याकालीन बादल पर पड़नेवाली बिजली की छटाओं के समान वे चमके।

6 अपने तरङ्गित शिरोवेष्टनों (पगड़ियों) को झुकाते हुए उन्होंने धैर्यपूर्वक मुनि को प्रमाण किया; अभिमानी होनेपर भी वे धर्म की अभिलाषा से मानो गम्भीर होकर वहाँ खड़े हुए।

7 बुद्ध के पास उनका निर्मल मण्डल ऐसे चमका, जैसे अनभ्र (बादलरहित) सूर्य के सामने (प्रकाश में) इन्द्र-धनुष चमक रहा हो।

8 तब सिंह और दूसरे लोग पृथ्वी पर सिंहों की आकृति से युक्त तथा सोने से अलङ्कृत सिंहासनों पर बैठ गये, और तब पुरुष-सिंह ने उनसे कहा–

9 "धर्म के प्रति आपकी यह भक्ति मूल्य में आपके रूप, राज्य व बल आदि विशेषताओं से बहुत बढ़कर है।

10 आपके सौन्दर्य, भव्य वस्त्रों, आभूषणों या हारों की वैसी चमक नहीं है, जैसे कि शील आदि गुणों की।

11 मैं वृज्जियों को अनुगृहीत और भाग्यवान् समझता हूँ कि उनके अधिपति आप हैं, जो धर्म के ज्ञाता तथा विनय के इच्छुक हैं।

12 हे आर्य, धर्म में रहनेवाले (प्रजा-) पालक साधारणत: (आर्यावर्त के) भीतर के देशों में तथा अभागों के लिए दुर्लभ हैं।

13 इस देश पर धर्म का भी अनुग्रह है कि यह धर्म-ज्ञान के रक्षक महाभागों द्वारा पालित है।

14 इसलिए, जैसे नदी पार करने की इच्छा करनेवाली गौएँ (पशु) गवांपति (झुण्ड के सरदार) का अनुसरण करती हैं, वैसे ही राजाओं से रक्षित देश में (बसने के लिए) लोग इकट्ठे होते हैं।

15 यह शील हमेशा आप में रहना चाहिए जिससे आपका धन (=स्वार्थ ?) इहलोक या परलोक में काम द्वारा नही छीना जा सके।

16 शील का फल महान् है,– सन्तुष्ट चित्त, सम्मान, लाभ, यश, विश्वास, आनन्द एवं पारलौकिक सुख।

17 जैसे पृथ्वी सब चराचर जीवों का आश्रय है, वैसे ही शील सब गुणों का उत्तम आश्रय है।

18 शील छोड़कर भी परम पद चाहनेवाले मनुष्य को, उड़ने की इच्छा करनेवाले पंख-विहीन प्राणी के समान या नदी पार करने की इच्छा करनेवाले नाव-रहित व्यक्ति के समान जानिये।

19 जो मनुष्य यशस्वी, रूपवान् धनवान् होकर भी शील से विमुख है, वह उस वृक्ष के समान है जो फूला-फला होनेपर भी काँटों से भरा हो।

20 कोई मनुष्य महल में रहता हो और उज्वल वस्त्र-आभूषण पहनता हो, किन्तु, यदि वह शीलवान् है तो उसकी गति महर्षि की-सी है।

21 वे सब छद्मचारी (कपटी) समझे जायँगे, जिन्होंने, काषाय या वल्कल वस्त्र पहनते हुए भी तथा ऋषियों की भाँति तरह-तरह से केशों को सजाते हुए भी, अपना शील नष्ट कर लिया है।

22 यद्यपि कोई मनुष्य प्रतिदिन तीन बार तीर्थ में नहाता हो, अग्नि में दो बार आहुतियाँ डालता हो, अग्नि के ताप से दग्ध होता हो, तो भी शीलवान् नही होनेपर वह कुछ नही है।

23 यद्यपि वह हिंसक पशुओं के आगे अपना शरीर समर्पित करता हो, पर्वत पर से अपने को गिराता हो, आग या पानी में कूदता हो, तो भी शीलवान् नही होनेपर वह कुछ नही है।

24 यद्यपि वह थोड़ा-सा फल-मूल खाकर रहता हो, मृग के समान तृण चरता हो, हवा पीकर जीना चाहता हो, तो भी शीलवान् नही होनेपर वह शुद्ध नही हो सकता।

25 दु:शील मनुष्य पशु-पक्षियों के समान है; वह धर्म का पात्र नही है, किन्तु पानी के चूते हुए पात्र के समान है।

26 इहलोक में उसे भय, अयश, अविश्वास एवं असन्तोष मिलते हैं और परलोक में वह विपत्ति भोगेगा।

27 इसलिए मरुभूमि के पथ-प्रदर्शक की तरह शील की हत्या नही होनी चाहिए; अपने पर भी आश्रित रहनेवाला दुर्लभ शील एक नाव है, जो मनुष्य को स्वर्ग ले जाती है।

28 जिसका चित्त दोषों से अभिभूत होता है, वह जीवन में सब कुछ खो बैठता है। शील में स्थित होकर दोषों का नाश करो और श्रद्धा का पोषण करो (या जो कुछ अच्छा है वह करो)।

29 इसलिए उन्नति चाहनेवाला आदमी पहले अपने को आत्मभाव (अहंभाव) से मुक्त करे; क्योंकि आत्मभाव गुणों को वैसे ही छिपाता है, जैसे धुँआ आग को।

30 गुण, वास्तम में होनेपर भी, अभिमान से अभिभूत होकर नही चमकते, जैसे बादलों से ढँके हुए तारे, सूरज व चाँद नहीं चमकते।

31 औद्धत्य लज्जा (=ह्री) को नष्ट करता है, शोक धैर्य को, बुढ़ापा सौन्दर्य को और आत्मभाव गुणों के मूल को।

32 द्वेष एवं अभिमान के कारण असुरगण देवों से पराजित होकर पाताल में फेंके गये और त्रिपुर नाश को प्राप्त हुआ।

33 वह मनुष्य बुद्धिमान् नही समझा जाता है, जो अनित्य जीवन में अपने को सबसे अच्छा, न कि बुरा, समझता है।

34 यद्यपि यह आकृति ही अस्थिर है तथा मनुष्य अनित्य व विनाशधर्मा है, तो भी "मैं ही" (अहमेव) यह सोचता हुआ वह अभिमान करता है– इसमें विवेक-शून्यता के अतिरिक्त और क्या है?

35 कामराग प्रबल प्रच्छन्न एवं सहजात शत्रु है, जो बुराई करनेवाले दुश्मन के समान मित्रता के वेष में प्रहार करता है।

36 कामराग की अग्नि तथा साधारण अग्नि समानरूप से दहनशील है, किन्तु कामराग की अग्नि प्रज्वलित होनेपर रात अवश्य लम्बी होगी।

37 कहा जाता है कि अग्नि की वैसी शक्ति नही है जैसी कि कामराग की अग्नि की; क्योंकि अग्नि जल से शान्त हो जाती है, किन्तु कामराग की अग्नि सम्पूर्ण सरोवर से भी नही।

38 आग से जङ्गल जलनेपर जङ्गल के वृक्ष समय पर उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु कामराग की अग्नि से दग्ध होनेपर मूर्खों में धर्म की उत्पत्ति नही होती है।

39 कामराग के कारण मनुष्य सुख खोजता है और सुख के लिए बुराई (अकुशल कर्म) करता है; बुराई करने से नरक में गिरता है। कामराग के समान शत्रु नही।

40 काम से इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा से कामासक्ति। कामासक्ति से मनुष्य को दुःख होता है। काम के समान शत्रु नही।

41 मूर्ख कामनामक महाव्याधि की पर्वाह नही करता और … … … … … … …।

42 काम को अनित्य अपवित्र दुःखधर्मा एवं अनात्म समझकर यदि कोई मनुष्य अपने को उससे मुक्त भी कर ले, तो भी अपने कुमार्गगामी चित्त के कारण वह फिर काम के वशीभूत हो जाता है।

43 इसलिए वस्तु से अनुराग पैदा होनेपर जो कोई उसे वास्तविक अवस्था में (=यथाभूतं) देख सकता है, वह वास्तविकतादर्शी (=भूतदर्शी) कहा जाता है।

44 जैसे (किसी वस्तु के) गुणों को देखने से आसक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही इसके दोषों पर विचार करने से क्रोध (विमुखता ?) होता है।

45 इसलिए जो कोई क्रोध रोकना चाहे, वह अपने को विमुखता से प्रभावित न होने दे; क्योंकि जैसे आग से धुँआ निकलता है, वैसे ही विमुखता से क्रोध उत्पन्न होता है।

46 जैसे रूपवानों के लिए बुढ़ापा और आँखवालों के लिए अन्धेरा है वैसे ही क्रोध, धर्म अर्थ व काम का विफलीकरण तथा विद्या का शत्रु है।

47 क्रोध चित्त का घना अन्धकार है, मित्रता का प्रधान शत्रु है, सम्मानविनाशक और अपमानजनक है।

48 इसलिए क्रोध न कीजिए, यदि आप करते भी हों तो इसे छोड़ दीजिए। जैसे दंशधर्मा साँप के पीछे आप नही पड़ते हैं, वैसे ही क्रोध के पीछे न पड़े।

49 जो कोई मार्ग से बहके हुए रथ के समान क्रोध को लगाम लगाकर दृढ़तापूर्वक वश में रखता है उसी को मैं सच्चा सारथि समझता हूँ, दूसरे प्रकार का सारथि तो केवल लगाम पकड़नेवाला है।[85]

50 जो कोई क्रोध करना चाहता है और इसकी उत्पत्ति को रोकना नही चाहता है, क्रोध बीतने पर वह ऐसे जलता है जैसे आग छूने से।

51 जब मनुष्य क्रोध करता है तो पहले उसका ही चित्त जलता है; पीछे ज्यों ज्यों क्रोध बढ़ता जाता है त्यों त्यों, दूसरे भी, इससे जल सकते हैं या नही भी (जल सकते हैं)।

52 शरीर-धारी शत्रुओं के प्रति द्रोह करने से क्या लाभ, जब कि (शरीर-धारी प्राणियों का) संसार ही रोग आदि विपत्तियों से पीड़ित है?

53 इसलिए संसार को दुःख के वशीभूत जानकर आप लोगों को क्रोध रोकने के लिए सब जीवों के प्रति मैत्री एवं करुणा का आचरण करना चाहिए।"

54 उस समय उन्हें दोषों से भरा देखकर, बुद्ध ने उनके ऊपर करुणा की और उपदेश देकर, उन्हें फटकारा।

---

[85]- यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं' व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥ –धम्मपद कोधवग्गो, 17.2

अर्थ–"जो आए क्रोध को उसी तरह रोक ले, जैसे कोई मार्ग-भ्रष्ट रथ को; उस आदमी को मैं (असली) सारथी कहता हूँ, दूसरे लोग तो केवल रस्सी पकड़नेवाले हैं।"

यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णति हयं यथा।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिपु लम्बते॥ –महाभारत, आदिपर्व।

55 जैसे अस्वस्थ मनुष्यों को रोग-मुक्त करने के लिए, वैद्य उनकी शारीरिक अवस्थाओं के अनुसार ओषधि-सेवन का आदेश देता है,

56 वैसे ही काम बुढ़ापा आदि रोगों से पीड़ित प्राणियों के आशय जानकर मुनि ने उन्हें तत्त्व-ज्ञान की ओषधि दी।

57 मुनि के ऐसे उपदेश से लिच्छवियों को आनन्द हुआ और उन्होंने सिर नवाकर उन्हें प्रणाम किया, जिससे उनकी रत्नमय चूड़ाएँ नीचे लटकने लगीं।

58 तब हाथ जोड़कर और कुछ कुछ देह नवाकर, उन्होंने अपने यहाँ आने के लिए बुद्ध से अनुरोध किया, जैसे देवताओं ने बृहस्पति से अनुरोध किया था।

59 जब मुनि ने उनसे निवेदन किया कि अम्रपाली की पारी पहले आई और बताया कि कुल-पुत्रों के निमित्त नीच कुलवालों को उनके अधिकारों से वञ्चित नही करना चाहिए।

60 उस स्त्री ने उन लोगों को पहले ही आकर वञ्चित कर दिया, यह जानकर उन्होंने तथागत का अत्यन्त सम्मान किया, और वे अपनी स्वभाविक मानसिक अवस्था (क्रोध) पर लौट आये।

61 किन्तु जब तथागत ने उन्हें उपदेश दिया, तब उन्होंने मानसिक शान्ति प्राप्त की, जैसे मुनियों के मन्त्रों का ठीक ठीक उच्चारण करने से साँप का विष शान्त हो जाता है।

62 रात बीतनेपर अम्रपाली ने उनका आतिथ्य किया और (वर्षावास करने के लिए वह) वेणुमती गाँव को (गये)।

63 वर्षाऋतु वहाँ बिताकर महामुनि वैशाली लौट गये और मर्कट-जलाशय के किनारे बैठ गये।

64 वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गये और जब वह वहाँ विराज रहे थे तो मार उस वन में आया और उनके समीप जाकर कहा—

65 "पूर्व में, हे मुनि, नैरञ्जना नदी के तीर पर जब मैंने आपसे कहा था "आपने अपना काम पूरा किया, निर्वाण प्राप्त कीजिए" तब आपने वहाँ उत्तर दिया था:—

66 "मैं तबतक निर्वाण प्राप्त न करूँगा, जबतक पीड़ित प्राणियों की रक्षा न कर लेता हूँ और उनके द्वारा पाप-परित्याग (दोषक्षय) न करा लेता हूँ।"

67 अब बहुतों ने मुक्ति (निर्वाण) पाई, या उसी तरह पाना चाहते हैं या पायेंगे। इसलिए निर्वाण प्राप्त कीजिए।"

68 तब ये वचन सुनकर, अर्हत्-श्रेष्ठ ने उससे कहा, "तीन महीने में मैं निर्वाण प्राप्त करूँगा, अत: अधीर मत होओ।"

69 तब इस प्रतिज्ञा से अपनी इच्छा पूरी हुई जानकर, वह अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँ से हट गया।

70 तब महामुनि ऐसे योग-बल से चित्त-समाधि में प्रविष्ट हुए कि उन्होंने अपनी शारीरिक आयु (जीवन) को छोड़ दिया और दिव्य शक्ति के प्रभाव से अभूतपूर्व तरीके से प्राण धारण किया।

71 जिस घड़ी उन्होंने शारीरिक आयु का परित्याग किया उस घड़ी पृथ्वी माती हुई स्त्री के समान काँपी और दिशाओं से बड़ी बड़ी उल्काएँ गिरीं, जैसे अग्नि प्रज्वलित मेरु-पर्वत से पत्थरों की वर्षा हो रही हो।

72 उसी प्रकार इन्द्र के अग्निगर्भ एवं विद्युन्मण्डित वज्र चारों ओर निरन्तर प्रदीप्त हुए; और ज्वालाएँ सर्वत्र प्रज्वलित हुईं, जैसे कल्पान्तकालीन जगत् को जलाने की इच्छा कर रहीं हों।

73 पर्वतों ने, जिनकी चोटियाँ नष्ट हो गईं, ढेर के ढेर टूटे हुए वृक्ष चारों ओर बिखरे और आकाश में दुन्दुभियों से, जैसे वायुपूर्ण गुफाओं से, विषम ध्वनि निकली।

74 तब मर्त्यलोक दिव्यलोक एवं आकाश में हुए सार्वभौम संक्षोभ की घड़ी में महामुनि ने गम्भीर समाधि से निकल कर ये वचन कहे:—

75 "मेरा शरीर, जिसकी आयु मुक्त हो गई है, उस रथ के समान है, जिसका धुरा (अक्षाग्र, अक्षधुरा) टूट गया हो और मैं इसे अपनी शक्ति से ढो रहा हूँ। अपनी आयु के साथ मैं भव-बन्धन से मुक्त हूँ, जैसे अण्डे से निकलते समय अण्डे को फोड़नेवाला पक्षी (बन्धन से मुक्त होता है)।"

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "आयु निश्चित करना"[86] नामक 23वाँ सर्ग समाप्त॥

चौबीसवाँ सर्ग

लिच्छवियों पर अनुकम्पा

1 तब भूकम्प देखकर, आनन्द को रोमाञ्च हो गया; और "क्या होगा" इससे घबराकर (=आगतवेग:) वह काँपने लगा और आर्त हो गया।

2 उसने कारण जाननेवाले सर्वज्ञ से इसका कारण पूछा। तब मुनि ने मतवाले साँड के स्वर में उसे कहा:—

3 "इस भूकम्प का कारण यह है कि मैंने पृथ्वी पर अपने दिन काट डाले हैं; मेरे जीवन के अब तीन महीने बचे हुए हैं (मेरी आयु अब से तीन महीने पर अधिष्ठित है)।"

4 यह सुनकर आनन्द अत्यन्त विचलित हो गया और उसके आँसू बहने लगे, जैसे किसी बड़े हाथी द्वारा तोड़े गये चन्दन-वृक्ष से रस बह रहा हो।

5 बुद्ध उसके स्वजन और गुरु थे, इस कारण उसे शोक हुआ और अत्यन्त दु:खी होकर उसने दीनतापूर्वक विलाप किया:—

6 "अपने गुरु का निश्चय सुनकर, मेरा शरीर मानो डूब रहा है, मेरी ग्रन्थियाँ ढीली हो रही हैं और धर्मोपदेश, जो कि मैंने सुना है, आकुल हो रहा है।

[86]- शारीरायु:संस्कारधिष्ठान = शारीरिक आयु के संस्कारों का अधिष्ठान=आयु पर अधिकार प्राप्त करना, या आयु निश्चित करना।

7 अहो! पुरुष-प्रशंसित (=नराशंस) तथागत शीघ्रता से निर्वाण की ओर जा रहे हैं, जैसे फटे-पुराने वस्त्रवाले, जाड़े से ठिठुरे हुए लोगों के लिए आग तेजी से बुझ रही हो।

8 पापों (=दोष) के महावन में भटके हुए शरीरधारी प्राणियों को मार्ग बतलाकर, पथ-प्रदर्शक अकस्मात् ही अदृश्य हो रहा है।

9 प्यास से पीड़ित मनुष्य लम्बे मार्ग पर चल रहे हैं और तब उनके मार्ग में स्थित शीतल जल का जलाशय हठात् ही सूख रहा है।

10 नीली पपनियोंवाला निर्मल लोक-चक्षु, जो भूत वर्तमान एवं भविष्य को देखता है और जो ज्ञान से विकसित है, अब बन्द होने को है।[87]

11 अवश्य ही सूख रही लगी फसल के ऊपर जल बरसाकर बादल दूर हो रहा है (=√मज्ज्)।

12 अज्ञानरूप अन्धकार के कारण मार्ग-भ्रष्ट प्राणियों के लिए चारों ओर चमकनेवाला प्रकाश अत्यन्त अकस्मात् ही शान्त हो रहा है।"

13 तब आनन्द के चित्त को शोकाकुल देखकर तत्त्वज्ञ-श्रेष्ठ ने, जो सान्त्वना देनेवालों में प्रधान थे, उसके लिए तत्त्व की व्याख्या की:—

14 "पहचानो, आनन्द, जगत् के वास्तविक स्वभाव को और शोक न करो। क्योंकि यह जगत् समष्टि है और इसलिए संस्कृत (उत्पन्न) होने के कारण अनित्य है।

15 मैंने पहले ही तुम्हें कहा है कि द्वन्द्वों में आनन्द पानेवाले प्राणियों को तुम्हें अत्यन्त स्नेह-रहित (?) अनुकम्पा के साथ देखना चाहिए।

16 जो कुछ उत्पन्न है वह संस्कृत और अनित्य है, किसी सहारे पर आश्रित होने के कारण इसे अपना आश्रय नही है। तब किसी के लिए भी नित्यत्व प्राप्त करना शक्य नही है।[88]

17 यदि पृथ्वी के प्राणी नित्य (स्थायी) होते तो, तो जीवन (=प्रवृत्ति) परिवर्तनशील नही होता; और तब मुक्ति (निर्वाण) की भी क्या जरूरत होती? क्योंकि अन्त वैसा ही होता जैसा कि आरम्भ।

18 या मेरे लिए तुम्हारी तथा अन्य लोगों की यह अभिलाषा ही क्या? . . .।

19 मैंने सम्पूर्ण मार्ग तुम्हें दृढ़तापूर्वक बतला दिया है। तुम्हें तथा (दूसरे) शिष्यों को समझना चाहिए कि बुद्ध कुछ छिपाते नहीं।

20 चाहे मैं रहूँ या निर्वाण प्राप्त करूँ, एक ही बात है, वह यह कि तथागत धर्म की मूर्ति (=धर्मकाय) हैं; यह मर्त्य शरीर किस काम का?

21 क्योंकि मेरे जाने के समय संवेग व अप्रमाद द्वारा पूर्ण श्रद्धा पूर्वक मेरा प्रदीप जलाया गया है, इसलिए धर्म का प्रकाश हमेशा रहेगा।

22 इसे अपना प्रदीप समझकर तुम्हें इसमें दृढ़ उत्साह के साथ लगना चाहिए; और निर्द्वन्द्व होकर अपना लक्ष्य (=स्वार्थ) पहचानो तथा अपने मन को दूसरी बातों का शिकार मत होने दो।

23 तुम्हें जानना चाहिए कि धर्म-प्रदीप है प्रज्ञा-प्रदीप, जिसके द्वारा चतुर व विद्वान् पुरुष अज्ञान दूर करता हे, जैसे कि प्रदीप अन्धकार (दूर करता है)।

24 परम श्रेय प्राप्त करने के चार क्षेत्र (=गोचर) हैं—शरीर, वेदना, चित्त और अनात्मता।

25 अस्थि, चर्म, रक्त, स्नायु, मांस केश आदि से भरे इसे शरीर में गन्दगी देखनेवाले को शरीर के प्रति आसक्ति नही होती।

26 वेदनाएँ दुख हैं और प्रत्येक वेदना भिन्न भिन्न कारणों से उत्पन्न होती है, ऐसा जो देखता है वह सुख के भाव (=सञ्ज्ञा) को जीत लेता है।

27 जो शान्त चित्त से (मानसिक) धर्मों की उत्पत्ति स्थिति व क्षय को देखता है, वह कुदृष्टि को ग्रहण नही कर सकता।

28 स्कन्धों की उत्पत्ति कारणों से होती है, ऐसा जो देखता है उसके लिए "अहं" में विश्वास (श्रद्धा) पैदा करनेवाला आत्मभाव बन्द हो जाता है।

29 दुःख अन्त करने का यही एक मार्ग है; इन चारों के बारे में उसी प्रकार (धर्म-) मार्ग पर सावधान रहो।

30 उसी तरह, मेरे उस पार चले जानेपर, जो लोग इस पर स्थित रहेंगे, वे उत्तम अहार्य एवं नैष्ठिक पद प्राप्त करेंगे।"

31 इस तरह विनायक ने आनन्द को उपदेश दिया; और यह समाचार सुनकर, बुद्ध की भक्ति से लिच्छवि वहाँ दौड़े आये।

32 दया एवं मुनि-भक्ति के कारण उनके चित्त संताप से अभिभूत हुए और यह समाचार सुनकर, उन्होंने तुरत उन कार्यों को, जिनमें वे व्यस्त थे, तथा साधारण आडम्बर (=ऋद्धि) को छोड़ दिया।

33 गुरु से बोलने की इच्छा से वे उन्हें प्रणाम करके एक ओर खड़े हो गये और उनकी बोलने की इच्छा जानकर गुरु ने उन्हें यों कहा—

34 "मेरे प्रति तुम लोगों के चित्त में जो कुछ हो रहा है वह सब मैं जानता हूँ; तुम लोग वही होते हुए भी मानो शोक से बदलकर अब....... ।

35 लक्ष्मी के साथ रहते हुए भी तुम लोगों में बाहरी दीप्ति और धर्म का ज्ञान दोनों विद्यमान हैं।

36 यदि मुझसे कुछ सुनकर तुम लोगों ने ज्ञान प्राप्त किया है, तो अपने को शान्त करो और मेरे चले जाने (=व्यय) से दुःखी मत होओ।

[87]- "जो ज्ञान से विकसित है" इसकी जगह चीनी अनुवाद में है "जो प्रज्ञा द्वारा अन्धकार को दूर करता है"।

[88]- "किसी नहीं है" की जगह चीनी अनुवाद में है "यह दीनतापूर्वक किसी सहारे पर आश्रित है।"

37 क्योंकि जीवन (=प्रवृत्ति) अनित्य व संस्कृत है, इसलिए वे नश्वर परिवर्तनशील असार और अविश्वसनीय हैं; उनमें कुछ भी स्थायित्व नही है।

38 वसिष्ठ, अत्रि और दूसरे सभी तपस्वी (ऊर्ध्वरेतस्) काल के वशीभूत हुए। यहाँ का अस्तित्व ही विनाशक है।

39 पृथ्वीपति मान्धाता, वासवतुल्य वसु और भाग्यशाली (=महाभाग) नाभाग (पञ्च-) महाभूतों में मिल गये।

40 मार्ग पर चलनेवाला ययाति भी, भव्य रथवाला भगीरथ, निन्दा व अयश प्राप्त करनेवाले कौरव, राम गिरिरजस्, अज,

41 ये महात्मा महर्षि और महेन्द्र के समान अनेक दूसरे लोग नाश को प्राप्त हुए; क्योंकि ऐसा कोई नही जिसका नाश नही होता।

42 सूर्य अपने स्थान से च्युत होता है, सम्पत्तिशाली देवगण पृथ्वी पर आये, शत शत इन्द्र चले गये; क्योंकि कोई सदा नही रहता।

43 दूसरे सब सम्बुद्धों ने जगत् को प्रकाशित कर उन दीपों के समान, जिनका तेल क्षीण हो गया हो, निर्वाण प्राप्त किया।

44 भविष्य में तथागत होनेवाले सब महात्मा भी, उन अग्नियों के समान, जिनका जलावन जल गया हो (=भुक्तेन्धनाः), निर्वाण प्राप्त करेंगे।

45 इसलिए मुझे भी मुक्ति की खोज करनेवाले वनवासी तपस्वी के समान चला जाना चाहिए; क्योंकि मैं जो इस व्यर्थ शारीरिक अस्तित्व (=नाम-रूप) को घसीटूँ, इसका कोई कारण नही।

46 क्योंकि इस रमणीय वैशाली से, जिसमें कुछ लोग दीक्षित होने को हैं ही, मेरा आशय प्रस्थान करने का है, इसलिए तुम्हें दूसरे पथ का अनुसरण न करना चाहिए (या अन्यमनस्क न होना चाहिए)।

47 अतः इस जगत् को निराश्रय दीन व अनित्य जानो; और निष्काम भाव से रहते हुए संवेग प्राप्त करो।

48 इस तरह सङ्क्षेप में, जब क्रम से तथागत फिर न देख पड़े, तब कुबेर की दिशा (उत्तर) की ओर बढ़ो, जैसे कि जेठ महीने में सूर्य (उत्तर की ओर बढ़ता है)।"

49 तब लिच्छवि अश्रुपूर्ण आँखों से उनके पीछे पीछे जाने लगे; और आभूषणों-भरी मोटी भुजाओं से उन्होंने हाथ (=करतल) जोड़कर विलाप किया:—

50 "अहो! विशुद्ध-सुवर्ण-सदृश गुरु का शरीर, जो 32 लक्षणों से युक्त है, भग्न होगा। करुणामय भगवान् भी अनित्य हैं।

51 बेचारे बछड़े, जिन्हें अबतक होश (बुद्धि) नही हुआ है, दूध के अभाव में प्यासे हैं, और ज्ञान की दुधार गाय, अहो! उन्हें अति शीघ्रता से छोड़ रही है।

52 मुनि वह सूर्य हैं, जिनके ज्ञानरूपी प्रकाश ने प्रदीप-रहित मनुष्यों का मोहान्धकार दूर कर दिया है, और यह सूर्य हठात् ही अस्त होगा।

53 जब कि जगत् में अज्ञान-धारा जहाँ तहाँ बह रही है, धर्म का दूरव्यापी बाँध शीघ्र ही टूट रहा है।

54 करुणामय महाभिषक् को उत्तम ज्ञानरूपी ओषधि है, तो भी मानसिक आधियों से पीड़ित जगत् को छोड़कर वह प्रस्थान करेंगे।

55 मन के हीरों से अलङ्कृत और प्रज्ञारूपी आभूषणों से भूषित इन्द्र-पताका का पतन होगा, जब कि उत्सव के अवसर पर लोग इसके प्यासे ही हैं।

56 दुःख-भागी जगत् के लिए, जो भव-चक्र के बन्धनों से बँधा हुआ है, यह मुक्ति-द्वार है और मौत इसे दृढ़तापूर्वक बन्द कर देगी।"

57 इस प्रकार अश्रु-आविल आँखों से लिच्छवियों ने विलाप किया और जब वे उनके पीछे पीछे जाने लगे, तो मुनि ने उन्हें फिर लौटा दिया।

58 तब मुनि का निश्चय जानकर वे शान्त हो गये और अत्यन्त शोकित होकर उन्होंने लौटने का विचार किया।

59 वे, जो सोने के पहाड़ के समान सुन्दर थे, मुनि के पाँव पड़ते समय कर्णिकार वृक्षों के समान शोभित हुए जिनके फूल हवा में हिल रहे हों।

60 उनके हृदय उनमें अनुरक्त थे, उनके पाँव लड़खड़ा रहे थे, और धारा के विरुद्ध चलती हुई तरङ्गों के समान, वे आगे बढ़े बिना ही लौट गये।

*61 .... , मुनि में उनका आनन्द और मुनि के प्रति उनकी श्रद्धा अविचल थी।

*62 जङ्गल के गवांपति के चले जानेपर महावृषभों के समान वे खड़े हो होकर दशबलधारी की ओर बार बार देख रहे थे।

63 तब तथागत में लगे चित्त से और अत्यन्त कान्तिहीन शरीर से वे शोकित होकर पैदल ही जाने लगे, जैसे अन्त्य कर्म के मृत-स्नान के लिए जा रहे हों।[89]

*64 लिच्छवि (लाचार होकर) अपने महलों में लौट आये और यद्यपि उन्होंने धनुषों से, जिनका निशाना कभी चूका नही, शत्रुओं को पराजित किया था, यद्यपि वे अभिमानी एवं बलवान् थे, यद्यपि वे संसार में साम्राज्य पाने के लिए यत्न करते थे और यद्यपि सुख के साधनों पर उनका अधिकार महान् था, तो भी वे विषण्णवदन थे।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "लिच्छवियों पर अनुकम्पा" नामक 24वाँ सर्ग समाप्त॥

[89]- किसी के मरनेपर स्नान करनेवाले को "अपस्नात" या "मृतस्नात" कहते हैं।

पच्चीसवाँ सर्ग

निर्वाण-पथपर

1 जब मुनि निर्वाण के लिए चले तब वैशाली निष्प्रभ हो गई, जैसे कि सूर्य ग्रहण होनेपर अन्धकार से ढँका हुआ आकाश (निष्प्रभ हो जाता है)।

2 सुन्दर और निरभिमान होनेपर भी, सर्वत्र रमणीय होनेपर भी यह (वैशाली) संताप के कारण शोभित नही हुई, जैसे कि पति के मरनेपर पत्नी,

3 जैसे कि विद्या के बिना सुन्दरता, जैसे कि गुण के बिना ज्ञान, जैसे अभिव्यक्ति (की शक्ति) के बिना बुद्धि, जैसे संस्कार के बिना अभिव्यक्ति (की शक्ति),

4 जैसे सदाचार के बिना श्री, जैसे श्रद्धा के बिना स्नेह, जैसे उद्योग के बिना लक्ष्मी, जैसे धर्म के बिना कर्म।

5 ...उस समय शोक के कारण यह शोभित नही हुई, जैसे शरदृऋतु में वर्षा न होनेपर सूखी हुई धान की फसल के साथ पृथ्वी शोभा नही पाती है।

6 वहाँ शोक के कारण न किसी ने रसोई बनाई, न भोजन ही किया; यशस्वी मुनि का यश बखानते हुए वे रोते रहे।

7 दूसरे लोग न कुछ बोल रहे थे; न कर रहे थे और न सोच रहे थे; नगर में एक ही काम हो रहा था--शोक और क्रन्दन।

8 तब सेनापति सिंह अत्यन्त दृढ़ होनेपर भी शोकाकुल हुआ और... ...सोचते हुए यों विलाप किया:—

9 "विधर्मी दर्शनों को पराजित कर, उन्होंने सन्मार्ग का उपदेश दिया और स्वयं उस मार्ग पर चले। अब वह सदा के लिए जा रहे हैं।

10 वह नाथ, दु:खी और निष्प्रभ जगत् को छोड़ते हुए, लोगों को अनाथ कर रहे हैं; इस तरह वह शान्ति (=शम) प्राप्त करने जा रहे हैं।

11 जैसे काल-क्रम से (बुढ़ापे में) शारीरिक ओज क्षीण होता है, वैसे ही मेरा धैर्य नष्ट हो रहा है, क्योंकि गुरुवर योगाचार्य अन्तिम शान्ति के मार्ग पर हैं।

12 अपनी दिव्य शक्ति खोकर स्वर्ग से च्युत हुए नृपति नहुष के समान पृथ्वी उनके बिना दया का पात्र है, और मैं "किंकर्तव्यविमूढ़" हूँ।

13 जैसे आतप से पीड़ित व्यक्ति पानी की शरण में जाता है या शीत से पीड़ित आग की शरण में, वैसे ही अपनी शंकाएँ मिटाने के लिए लोग अब किसकी शरण जायँगें?

14 मुनि के नष्ट होनेपर—मुनि जो संसार के आचार्य (=लोकाचार्य) हैं और जो आग सुलगानेवाली भाथी की तरह श्रेय की भाथी हैं—धर्म भी नष्ट हो जायगा।

15 उनके समान दूसरा कौन हैं जो स्वभावत: रोग व मौत के वशीभूत तथा शील के अभाव या दु:शील से बँधे प्राणियों का महादु:ख-चक्र तोड़ सके?

16 जैसे वसन्त के अन्त में बादल सूखे हुए सिन्दुवार पौधों को जीवन-दान करता है, वैसे ही कौन दूसरा अपनी वाणी द्वारा काम से अत्यन्त जले हुए मनुष्यों को जिला सकता है?

17 जब मेरु के समान ठोस सर्वज्ञ गुरु चले जायँगे, तब जगत् में किसे वह बुद्धि होगी, जिससे वह विश्वास-पात्र बनेगा?

18 मूढ़ जीव-लोक मरने के लिए ही पैदा होता है, जैसे दण्डनीय अपराधी को मद पिलाकर वध-स्थल की ओर ले जाते हैं।

19 जैसे तेज आरे से वृक्ष चीरा जाता है, वैसे ही विनाशरूपी आरे से यह संसार चीरा जा रहा है।

*20 यद्यपि जगत् के श्रेष्ठ आचार्य को ज्ञान-बल प्राप्त है और उन्होंने दोषों को नि:शेष जला डाला है, तो भी वह विनाश की ओर जा रहे हैं।

21 जो ज्ञानरूपी महानौका द्वारा संसार-सागर से—इच्छाएँ जिसकी तरङ्गें हैं, अज्ञान जिसका जल है और जिसमें कुदृष्टिरूपी प्राणी तथा काम (=रजस्) रूपी मछलियाँ रहती हैं—लोगों को उबारते हैं;

22 जो ज्ञानरूपी महाशस्त्र से संसाररूपी वृक्ष को—बुढ़ापा जिसकी शाखाएँ हैं, रोग जिसके फूल हैं, मौत जिसका मूल है और जन्म जिसके अङ्कुर हैं—काटते हैं;

23 जो ज्ञानरूपी शीतल जल द्वारा, अज्ञानरूपी अरणियों से उत्पन्न दोषरूपी अग्नि को—काम जिसकी ज्वालाएँ हैं और विषय जिसके ईंधन है—शान्त करते हैं;

24 जिन्होंने शान्ति मार्ग ग्रहण किया है, जिन्होंने अज्ञानरूपी महा-अन्धकार का परित्याग किया है, परम नैष्ठिक ज्ञान प्राप्तकर जिन्होंने इसका प्रेमपूर्वक उपदेश दिया है;

25 जिन्होंने सब दोषों को अन्त कर लिया है, जो सब जीवों पर दया-दृष्टि रखते हैं और जो सबका उपकार करते हैं, वह सर्वज्ञ सब कुछ छोड़ने जा रहे हैं।

26 यदि महामुनि भी, जिनकी भुजाएँ बड़ी बड़ी हैं और जिनकी वाणी मृदु एवं स्पष्ट है, नाश को प्राप्त हो रहे हैं, तो नाश को प्राप्त होने से कौन बच सकेगा?

27 अत: बुद्धिमान् मनुष्य को शीघ्र ही धर्म की शरण में जाना चाहिए, जैसे कि जङ्गल में भटका हुआ काफिले का सौदागर, पानी देखकर, तेजी से उसकी शरण में जाता है।

28 अनित्यता एक बुराई है जो विनाश-कार्य में भेद-भाव नही रखती है, ऐसा जानकर जो मनुष्य धर्म के विषय में प्रसुप्त नही रहता, वह पड़े रहनेपर भी प्रसुप्त नही हैं।"

29 तब ज्ञानोपभोक्ता नरसिंह सिंह ने जन्म की बुराइयों की निन्दा की और जन्म-विनाश की प्रशंसा।

30 जन्म-मूलोच्छेद करने की, सद्व्रत ग्रहण करने की और चञ्चल चित्त को संयत करने की इच्छा से उसने नैष्ठिक मार्ग पर चलने की इच्छा की।

31 शान्ति-मार्ग पर चलने की, भव-सागर में त्राण पाने की और सदा उदार रहने की इच्छा से उसने जन्म-उच्छेद करना चाहा।

32 उस समय जब कि मुनि निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा कर रहे थे, उस सिंह ने दान दिया और अभिमान-परित्याग किया, धर्म का ध्यान किया और शान्ति प्राप्त की, और इस तरह उसने पृथ्वी को शून्य पद समझा।

33 तब गजराज के समान अपना सारा शरीर घुमाकर नगर की ओर देखते हुए, मुनि ने यह वचन कहे :—

34 "हे वैशाली, अपने जीवन के शेष भाग में मैं तुम्हें फिर न देखूँगा; क्योंकि, मैं निर्वाण की ओर जा रहा हूँ।"

*35 श्रद्धापूर्वक और धर्म की इच्छा से वे पीछे-पीछे आ रहे हैं, यह देखकर मुनि ने उन्हें विदा किया, जिनका चित्त उस समय तक प्रवृत्ति में ही लगा हुआ था।

36 तब यथाक्रम विनायक भोगनगर की ओर बढ़े और वहाँ ठहरकर सर्वज्ञ ने अपने अनुचरों से कहा:—

37 "आज मेरे चले जानेपर तुम्हें धर्म में अपना श्रेष्ठ ध्यान लगाना चाहिए। यही तुम्हारा चरम लक्ष्य है; इसके अतिरिक्त सब कुछ केवल श्रम है।

38 जो कुछ सूत्रों में समाविष्ट न हो या विनय में दिखाई न पड़े वह सब मेरे सिद्धान्त के प्रतिकूल है और उसे किसी भी प्रकार ग्रहण न करना चाहिए।

39 क्योंकि वह न तो धर्म है, न विनय, और न मेरे वचन; यद्यपि बहुत से लोग उसे कहते हों, तो भी अज्ञान-जन्य वचन की तरह उसे अस्वीकार करना चाहिए।

40 जो पवित्र हैं उनका उपदेश ग्राह्य है, क्योंकि वही है धर्म, विनय और मेरे वचन; और इसके अनुसार नही चलना गढ़े में गिरना है।

41 इसलिए जो कुछ श्रद्धा के योग्य है वह संक्षेप से मेरे सूत्रों में कहा गया है। जो कोई उनके अनुसार चलता है, वह विश्वसनीय है, और इसे छोड़कर दूसरा कोई प्रमाण नही (=तस्माद्दते नास्ति प्रमाणमन्यत्)।

42 मोह-वश अधर्म का प्रतिपादन करनेवाले धार्मिक शास्त्रों की उत्पत्ति होगी, मेरे इन सूक्ष्म विचारों के विषय में अज्ञान और अनिश्चय होने से,

43 या अज्ञान-मिश्रित विचारों के कारण या विभेदों का ज्ञान नही होने से, जैसे कि सोने के समान दिखाई पड़नेवाले पीतल से लोग ठगे जाते हैं।

44 इस प्रकार जो धर्म नही है, किन्तु धर्म का कपट-रूपमात्र, वह वञ्चना है, जिसकी उत्पत्ति होती है प्रज्ञा के अभाव से या तत्त्व को न समझ सकने के कारण।

45 इसलिए विनय एवं सूत्रों की सहायता से तुम्हें इसकी उचित रीति से (=न्यायत:) परीक्षा करनी चाहिए, जैसे कि सुनार सोने को तपाकर, काटकर और तार बनाकर परखता है।

46 वे मनुष्य बुद्धिमान् नहीं, जो शास्त्रों को नहीं जानते; वे अनुचित (अन्याय) मार्ग को उचित (न्याय) मार्ग समझते हैं और उचित मार्ग को अनुचित।

47 इसलिए शब्द और अर्थ के अनुसार ठीक-ठीक सुनकर इसे ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि जो कोई शास्त्र को अनुचित रीति से ग्रहण करता है वह अपने को ही क्षति पहुँचाता है, जैसे कि तलवार को अनुचित रीति से ग्रहण करनेवाला अपने को ही काटता है।

48 जो शब्द को ठीक ठीक नही समझता है उसके लिए अर्थ दुर्लभ हो जाता है, जैसे कि रात्रि काल में किसी आदमी के लिए उस घर को पाना (खोजना) कठिन हो जाता है, जहाँ वह पहले कभी न गया हो और जहाँ का रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा हो।

49 जब अर्थ नष्ट हो जाता है तो धर्म (शास्त्र) नष्ट हो जाता है और धर्म के नष्ट होनेपर योग्यता (पात्रता) नष्ट हो जाती है; इसलिए वह बुद्धिमान् है जिसका चित्त अर्थ को ठीक ठीक समझता है।"

50 जब भगवान् ये वचन कह चुके, तब वह यथासमय पापा-पुर में गये, जहाँ मल्लों ने उनका पूरा सम्मान किया।

51 तब भगवान् ने अपने भक्त चुन्द के घर—उसी के लिए, न कि अपने सहारे के लिए—अन्तिम भोजन किया।

52 तब अपनी शिष्य-मण्डली के साथ भोजन कर चुकनेपर तथागत ने चुन्द को धर्मोपदेश दिया और फिर कुशीनगर चले गये।

53 इस तरह चुन्द के साथ उन्होंने इरावती नदी पार की और स्वयं उस नगर के एक उपवन में शरण ली, जहाँ कमलों का एक शान्त सरोवर था।[90]

54 उन्होंने, जो सोने के समान चमक रहे थे, हिरण्यवती नदी में स्नान किया और तब शोकाकुल आनन्द को, जो संसार का आनन्द (=लोकानन्द) था, इस प्रकार आदेश दिया:—

55 "आनन्द, इन जोड़े शाल-वृक्षों के बीच मेरे लेटने के लिए स्थान तैयार करो; आज रात्रि के उत्तर भाग में तथागत निर्वाण प्राप्त करेगा।"

---

[90]- "इरावती" के अन्य वैकल्पिक रूप "अचिरावती" "अजिरावती" और "ऐरावती" हो सकते हैं। चीनी अनुवाद में "कुकु" शब्द है, जो पालि के "ककुत्था" के लिए आया है।

56 जब आनन्द ने ये वचन सुने, तब आँसुओं से उसकी आँखें भर गईं, उसने बुद्ध के लेटने के लिए स्थान तैयार किया और वैसा कर चुकनेपर, विलाप करते हुए उन्हें इसकी सूचना दी।

57 तब वह नर-श्रेष्ठ चिरनिद्रा के निमित्त तथा सब दुःखों का अन्त करने के लिए अपनी अन्तिम शय्या के समीप गये।

58 अपने शिष्यों के सम्मुख हाथीरूप उपधानपर शिर तथा एक पाँवपर दूसरा पाँव रखते हुए वह दाईं करवट लेट गये।

59 तब उस समय पक्षियों ने शब्द नही किया और वे (पक्षी) शिथिल-शरीर हो बैठे रहे, जैसे ध्यानावस्थित हों।

60 तब वृक्षों ने, जिनके पत्ते हवा से प्रेरित हुए बिना ही हिल रहे थे, विवर्ण फूल गिराये, मानो रो रहे हों।

61 जैसे दिवाकर के अस्ताचलपर आनेपर, पथिकों को विश्रामभूमि दिखाई पड़ती है, वैसे ही अन्तिम शय्यापर मुनि को देखकर उन्हें (शिष्यों को) शीघ्र ही उत्तम लक्ष्य दृष्टिगोचर हुआ।

62 तब अन्तिम विश्राम-भूमिपर पड़े हुए सर्वज्ञ ने अश्रु-आविल आनन्द से दयापूर्वक कहा:—

63 "मल्लों से, हे आनन्द, मेरे निर्वाण-प्राप्ति के समय के बारे में कहो; क्योंकि यदि वे निर्वाण न देखेंगे, तो पीछे बहुत पछतायेंगे।"

64 तब आँसुओं से मूर्छित होते आनन्द ने आज्ञा-पालन किया और मल्लों से कहा—"मुनि अन्तिम शय्यापर पड़े हुए हैं।"

65 तब उस समय आनन्द के वचन सुनकर, दुःख से अभिभूत हो, शोक करते हुए और आँखों से आँसू बहाते हुए वे नगर से ऐसे निकले, जैसे सिंह से डर से साँड़ पर्वत से निकल रहे हों।

66 आनन्द-रहित होने के कारण उनके कपड़े अस्त-व्यस्त थे और पगों के संक्षोभ से उनके शिरोवस्त्र काँप रहे थे। तब वे उस उपवन में उन देवों के समान दुःखी होकर आये, जिनके पुण्य क्षीण हो गये हों।

67 इस तरह वहाँ आकर उन्होंने मुनि को देखा और देखने के बाद उन्हें प्रणाम करते समय उनके मुख आँसुओं से भर गये। सम्मान प्रकट करनेपर संतप्त हृदय से वे वहाँ खड़े रहे और मुनि ने उन्हें कहा:—

68 "आनन्द के समय शोक करना उचित नही। नैराश्य 'अस्थाने' है, शान्ति प्राप्त करो। वह अतिदुर्लभ लक्ष्य, जिसकी मैंने कल्पों से अभिलाषा की है, अब मेरे समीप आ गया है।

69 वह लक्ष्य अति उत्तम है, भूमि जल अनल-अनिल व शून्य—इन तत्त्वों से रहित है, सुखमय व अविकारी है, अतीन्द्रिय शान्त और अहार्य है, उदय एवं व्यय से रहित है। यह सुनकार शोक के लिए स्थान नही।

70 पूर्व में बोधि के समय गया में मैंने अकुशल जन्म के कारणों को सर्पों के समान काट डाला; किन्तु अतीत में एकत्र हुए कर्मों का यह निवास-गृह—यह शरीर—आज तक बचा हुआ है।

71 क्या मेरे लिए शोक करना उचित है जो तुम सब रो रहे हो, जब कि यह समष्टि—दुःख का महा-कोषगृह—व्यय को प्राप्त हो रहा है, जब कि जन्म का महाभय उन्मूलित हो रहा है और जब कि मैं महादुःख से विदा हो रहा हूँ?"

72 जब उन्होंने शाक्यमुनि को बादल की-सी आवाज में यह कहते सुना कि उनके लिए शान्ति (निर्वाण) प्राप्त करने का समय आ गया है, तब बोलने की इच्छा से उनके मुख विकसित हुए और उनमें से वृद्धतम ने ये वचन कहे:—

73 "क्या शोक करना उचित है जो तुम सब रो रहे हो? मुनि उस मनुष्य के समान हैं जो आग-लगे घर से बच निकला हो, और जब कि देवों के अधिपति भी इसे ऐसा ही समझें तब मनुजों का क्या कहना?

74 किन्तु इससे हमें दुःख हो रहा है कि शास्ता तथागत निर्वाण प्राप्तकर लेनेपर फिर दिखाई न पड़ेंगे; मरुभूमि में उत्तम पथ-प्रदर्शक के मरनेपर किसे अत्यन्त दुःख न होगा?

75 सोने की खान से दरिद्र होकर आनेवालों के समान वे लोग अवश्य ही उपहास के पात्र हैं जो महर्षि सर्वज्ञ गुरु का साक्षात् दर्शनकर सन्मार्ग (=विशेष) न प्राप्त करें।"

76 इस तरह मल्लों ने पुत्रवत् हाथ जोड़कर बहुत कुछ युक्ति-युक्त कहा और श्रेष्ठ महात्मा ने उत्तम-अर्थ-भरे शब्दों में परम श्रेय एवं शान्ति के उद्देश से यों उत्तर दिया:—

77 "सच तो यह है कि कठोर योगाचार के बिना केवल मेरे दर्शन से ही मुक्ति (निर्वाण) नही मिलती; जो कोई मेरे इस धर्म को ठीक-ठीक समझता है वह मेरे दर्शन के बिना भी दुःख के जाल से मुक्त हो जाता है।

78 जैसे कोई मनुष्य ओषधि-सेवन किये बिना केवल वैद्य को देखकर ही रोगमुक्त नही हो जाता, वैसे ही जो कोई मेरे इस धर्म की भावना नही करता वह मेरे दर्शन से ही दुःख-मुक्त नही हो जाता है।

79 इस जगत् में मेरे धर्म को देखनेवाला संयतात्मा मनुष्य दूरवर्ती होनेपर भी मुझे देखता है; और जो श्रेय-परायण नही है वह मेरे बगल में रहकर भी बहुत दूर में रहता है।

80 इसलिए सदा आलस्य-रहित (वीर्यवान्) रहो और मन को वश में रक्खो; परिश्रमपूर्वक श्रेयस्कर कार्य करो, क्योंकि हवा में जलती दीप-शिखा के समान जीवन चञ्चल और महादुःख के वशीभूत है।"

81 इस तरह मुनि द्वारा, श्रेष्ठ प्राणी द्वारा, उपदिष्ट होकर वे, जिनके चित्त संतप्त थे और जिनकी आँखों से आँसू बह रहे थे, अनिच्छा एवं दीनतापूर्वक कुशीनगर की ओर लौट गये, जैसे प्रतिकूल धारा में नदी का मध्य भाग पार कर रहे हों।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "निर्वाण-पथपर" नामक 25वाँ सर्ग समाप्त॥

छब्बीसवाँ सर्ग

महापरिनिर्वाण

1 तब त्रिदण्डी सुभद्र ने, जो सद्गुणों से सम्यक् युक्त था और जो किसी जीव को क्लेश नही देता था, भिक्षु होकर निर्वाण प्राप्त करने के उद्देश से मुनि को देखना चाहा। अत: उसने सबको आनन्दित करनेवाले आनन्द से कहा:—

2 "मैंने सुना है कि मुनि की निर्वाण-प्राप्ति की घड़ी (वेला) आ गई है और इसलिए मैं उन्हें देखना चाहता हूँ; क्योंकि इस जगत् में प्रतिपदा के चाँद के समान परम धर्म में प्रवेश पाये हुए का दर्शन दुर्लभ है।

3 मैं आपके विनायक को देखना चाहता हूँ, जो सब दु:खों के अन्त की ओर जानेवाले हैं; बादलों में छिपकर डूबते हुए सूरज के समान वह मेरे देखे बिना ही व्यय (अस्त) को प्राप्त न हों।"

4 धर्म-पिपासा के बहाने यह परिव्राजक विवाद करने आया है, इस विचार से आनन्द का चित्त भावाविष्ट हो गया; और अश्रु-पूर्ण मुख से उसने कहा, "यह (उपयुक्त) समय नही।"

5 तब, परिव्राजक की दृष्टि (फूल की) पंखुड़ी के समान विकसित हो रही है, यह देखकर मनुष्यों के आशय जाननेवाले चन्द्रोज्ज्वल मुनि ने कहा, "हे आनन्द द्विज को न रोको, क्योंकि मेरा जन्म जगत् के हित के लिए हुआ था।"

6 तब आश्वस्त एवं परम प्रसन्न होकर सुभद्र श्रेय-विधायक श्रीघन के समीप गया; और अवसर के अनुकूल शान्त भाव से उन्हें अभिवादन कर उसने ये वचन कहे:—

7 "कहा जाता है कि आपने निर्वाण-मार्ग प्राप्त किया है जो मेरे जैसे दार्शनिकों (=परीक्षक) के (मोक्ष-) मार्ग से भिन्न है; अत: मुझसे इसकी व्याख्या कीजिए, क्योंकि मैं इसे ग्रहण करना चाहता हूँ। आपको देखने की मेरी इच्छा का कारण स्नेह है, न कि विवाद करने की चाह।"

8 तब समीप आये द्विज से बुद्ध ने अष्टाङ्गिक मार्ग की व्याख्या की और उसने इसे ध्यानपूर्वक सुना, जैसे कि मार्ग से भटका हुआ मनुष्य सही आदेश को ध्यानपूर्वक सुनता है, और उसने इसपर .... अच्छी तरह विचार किया।

9 तब उसने देखा कि जिन रास्तों पर पहले वह चला था उनपर चलने से श्रेय प्राप्त नही होता है, और अदृष्टपूर्व मार्ग प्राप्तकर उसने दूसरे रास्तों का परित्याग किया जो कि हृदय के अन्धकार से युक्त हैं।

10 क्योंकि उन मार्गों पर, कहते हैं, रजस्-युक्त तमस् प्राप्त करने से अकुशल कर्म एकत्र होते हैं, और सत्त्व-युक्त रजस् द्वारा कुशल कर्म बढ़ते हैं।

11 विद्या, बुद्धि व प्रयत्न द्वारा सत्त्व की वृद्धि होने से तथा रजस् व तमस् का तिरोभाव होने से कर्म-फल का नाश होने के कारण कर्म-फल क्षीण हो जाता है (ऐसा वे कहते हैं), और उस कर्म-शक्ति को, जिसे वे मानते हैं, स्वभाव का परिणाम कहते हैं।

12 संसार में चित्त को मोह में डालनेवाले रजस् और तमस् का कारण वे स्वभाव बताते हैं। क्योंकि स्वभाव नित्य माना जाता है इसलिए वे दोनों (रजस् और तमम्) भी नित्य हैं, और उनका अभाव नही हो सकता।

13 यदि किसी व्यक्ति के सत्त्वयुक्त होनेपर उन दोनों का अभाव हो भी जाय, तो काल-वश उनका फिर प्रादुर्भाव होगा, जैसे कि पानी, जो रात को धीरे-धीरे बर्फ बन जाता है, काल-क्रम से फिर अपनी स्वभाविक अवस्था को लौट जाता है।

14 क्योंकि सत्त्व स्वभावत: नित्य है, इसलिए विद्या, बुद्धि व प्रयत्न इसे बढ़ा नही सकते; और क्योंकि इसकी वृद्धि नही होती, इसलिए उन दोनों का नाश नही होता और क्योंकि उनका नाश नही होता, इसलिए (उन मार्गों पर चलने से) नैष्ठिक शान्ति नही होती।

15 पहले उसका मत था कि जन्म स्वभाव से होता है, अब उसने देखा कि उस मत में (वस्तुत:) मोक्ष नही है; क्योंकि यदि जीवन स्वभाविक है, तो मोक्ष वैसे ही असम्भव है जैसे कि प्रज्वलित अग्नि से निकलते हुए प्रकाश को रोकना।

16 बुद्ध के मार्ग को सत्य देखकर उसने संसार को इच्छा पर आश्रित समझा, इच्छा का नाश होनेपर शान्ति (=शम) मिलती है, क्योंकि कारण का विनाश होने से कार्य का भी विनाश होता है।

17 पहले उसका मत था कि आत्मा शरीर से भिन्न है और विकारवान् (परिवर्तनशील) नही है, अब मुनि के वचन सुनने से उसने जाना कि जगत् अनात्म है और (जगत्) आत्मा का परिणाम नही है।

18 यह जानकर कि जन्म अनेक धर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आश्रित है, और कुछ भी अपने पर आश्रित नही है, उनसे देखा कि प्रवृत्ति दु:ख है और निवृत्ति है दु:ख से मुक्ति।

19 संसार को एक परिणाम समझकर उसने प्रलय का सिद्धान्त छोड़ा, और संसार का व्यय होता है, यह जानकर उसने नित्यता का मत धैर्यपूर्वक शीघ्र ही छोड़ा।

20 महामुनि का उपेदश सुनकर और ग्रहण कर, उसने अपने पूर्व मतों का तुरत परित्याग किया; क्योंकि उसने पहले ही अपने को तैयार कर लिया था, जिससे सद्धर्म में वह शीघ्र ही लग गया।

21 उसका चित्त श्रद्धा-युक्त हो गया और परम (धर्म) को पाकर उसने शान्त और अविकारी पद प्राप्त किया; और इसलिए, वहाँ लेटे हुए मुनि की ओर कृतज्ञतापूर्वक देखते हुए, उसने यह निश्चय किया:—

22 "मेरे लिए यह उचित नही कि यहाँ रहकर मैं पूज्य एवं श्रेष्ठ शास्ता की निर्वाण-प्राप्ति देखूँ; करुणामय शास्ता की निर्वाण-प्राप्ति से पूर्व ही मैं स्वयं सीधे नैष्ठिक अन्त को प्राप्त होऊँगा।"

23 तब मुनि को प्रणाम कर, वह साँप की तरह निश्चल हो गया और हवा से विलीन हुए बादल के समान एक ही क्षण में निर्वाण की शान्ति में प्रविष्ट हुआ।

24 तब संस्कार के जाननेवाले मुनि ने उसके दाह-संस्कार के लिए यह कहते हुए आदेश दिया, "उत्तम शिष्यवाले महामुनि का यह अन्तिम शिष्य अन्त को प्राप्त हुआ।"

25 जब रात का पूर्व भाग बीत गया, चन्द्रमा ने ताराओं का प्रकाश ग्रस लिया, और उपवन ऐसे नीरव हो गये जैसे सोये हुए हों, तब महाकारुणिक ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया:—

26 "मेरे उस पार चले जानेपर तुम्हें प्रातिमोक्ष को अपना आचार्य, अपना प्रदीप और अपना कोष समझना चाहिए। वही तुम्हारा उपदेशक है, जिसके अधीन तुम्हें रहना चाहिए और तुम्हें इसकी आवृत्ति करनी चाहिए, जैसे कि मेरे जीवन-काल में करते थे।[91]

27 शारीरिक और वाणी के कर्मों की शुद्धि के लिए सब सांसारिक कार्यों (=व्यवहार) को छोड़ो तथा भूमि, जीव, अन्न और कोष आदि लेने से (=√ग्रह) वैसे ही बचो जैसे कि आग पकड़ने से (=√ग्रह)।

28 पृथ्वी पर जो कुछ पैदा होता है उसे काट गिराने से, धरती को खोदने व जोतने से तथा ओषधि एवं ज्योतिष (के व्यवसाय) से विरत रहना जीविका का उचित उपाय है।

29 घटक (मध्यस्थ) का ज्ञान प्राप्त करने में, तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग में, कुटिल एवं कपटी होने में या शास्त्र-सम्मत सिद्धियों में, न संयम है न संतोष और न जीवन ही।

30 इस प्रकार प्रातिमोक्ष शील का सार है, मुक्ति का मूल है; इससे समाधि, समस्त ज्ञान एवं अन्तिम लक्ष्य प्राप्त होते हैं।

31 इसलिए वही धर्मवान् है जिसका शील विशुद्ध व अखण्ड है, अविच्छिन्न व अविनष्ट है, क्योंकि शील ही सद्गुणों का आश्रय है।

32 शील के अक्षुण्ण व विशुद्ध रहनेपर इन्द्रिय चञ्चल नहीं रहते; क्योंकि जैसे लाठी लेकर पशुओं को फसल से दूर रखते हैं वैसे ही दृढ़तापूर्वक छः इन्द्रियों की (विषयों से) रक्षा (=संवरण) करनी चाहिए।

33 विषयों के बीच इन्द्रियरूपी घोड़ों को (स्वतन्त्र) छोड़नेवाला मनुष्य (सन्मार्ग से) बहकता है और उन (विषयों) से तृप्ति नही पाता है। कुमार्ग-गामी घोड़ों के कारण मार्ग-भ्रष्ट हुए के समान वह उनके कारण विपत्ति भोगता है।

[91]- प्रातिमोक्ष = भिक्षु-जीवन के पापनिषेधक नियम।

34 इस जगत् में कुछ लोग महाशत्रुओं के हाथ में पड़कर दारुण दु:ख भोगते हैं, किन्तु मोहवश विषयों के वशीभूत होनेवाले लोग विवश होकर इस जन्म में और जमान्तरों में दु:ख के अधीन होते हैं।

35 अत: इन्द्रियों से वैसे ही दूर रहना चाहिए, जैसे कि बुरे (=विषम) विपक्षी राजाओं से; क्योंकि इस जगत् में इन्द्रिय-सुख भोगने के बाद मनुष्य जगत् में इन्द्रियों के जल्लाद को देखता है।

36 संसार में बाघ, साँप, जलती आग या शत्रु से उतना नही डरना चाहिए जितना कि अपने ही चञ्चल चित्त से, जो मधु को देखता है किन्तु खतरे को नही।[92]

37 लोहे के अङ्कुश से अनियन्त्रित मतवाले हाथी के समान या वृक्षों पर कूदनेवाले शाखामृग के समान चित्त स्वेच्छानुसार सब दिशाओं में घूमता रहता है; इसे चञ्चलता का अवसर ही न देना चाहिए।

38 चित्त के स्वतन्त्र रहनेपर शान्ति नही मिलती, किन्तु इसके स्थिर होनेपर कार्य पूरा होता है। इसलिए यथाशक्ति यत्न करो जिससे तुम्हारे ये चित्त चञ्चलता से विरत हो जायँ।

39 ओषधि की मात्रा के समान भोजन की उचित मात्रा का पालन करो, और इससे अनुराग या घृणा न करो, उतना ही खाओ जितना कि क्षुधा-शान्ति और शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है।[93]

40 जैसे उद्यान में रस-पान करते हुए भौंरे फूलों को नष्ट नही करते, वैसे ही अन्य मतावलम्बियों का विनाश नही करते हुए (अन्य मतावलम्बी गृहस्थों के लिए भार-स्वरूप नही होते हुए) उचित समयपर भिक्षाटन करो।[94]

41 अत्यन्त भारी बोझ नही रखना चाहिए, यह नियम बैल और दाता दोनों के लिए ही लागू है, इस संसार में अत्यन्त भारी बोझ से दबकर बैल गिर पड़ता है और जो हाल बैल का है वही दाता का भी।[95]

[92]- "यथा पश्यति मध्वेव न प्रपातमवेक्षते।"—सौन्दरनन्द ग्यारह 29।

[93]- "भोजने भव मात्राज्ञ " —सौन्दरनन्द 14.1
भोजन और नींद के लिए देखिये—सौन्दरनन्द सर्ग 14

[94]- "यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥"—धम्मपद 4.6
"जिस प्रकार फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे।"

[95]- पूर्वार्ध का अनुवाद स्वतन्त्र है और उत्तरार्ध का चीनी अनुवाद के आधार पर।

42 सारा दिन और रात का प्रथम व अन्तिम भाग (=याम) योगाचार में बिताओ और मध्य भाग में स्मृतिपूर्वक सोओ, जिससे कोई अनर्थ न हो।

43 कालरूपी अग्नि से संसार के जलते रहनेपर क्या सारी रात सोना उचित है? जब कि हृदय में रहनेवाले दोष शत्रुओं के समान प्रहार करते हैं, तब कौन नींद के वशीभूत हो?

44 इसलिए, जैसे कि मन्त्र आदि से कृष्ण सर्प को घर से बाहर किया जाता है, वैसे ही ज्ञान और मन्त्रोच्चारण द्वारा हृदय में रहनेवाले दोषरूपी साँपों को भगाकर तुम्हें सोना चाहिए, ... ।

45 लज्जा (=ह्री) एक आभूषण है और उत्तम वस्त्र है, मार्गभ्रष्टों के लिए अङ्कुश है। ऐसा होनेपर तुम्हें लज्जा होनी चाहिए; क्योंकि निर्लज्ज होना गुण-हीन होना है।

46 मनुष्य जितना ही लज्जावान् होता है, उतना ही उसका (आदर होता) है, और जो निर्लज्ज तथा हित-अहित के विवेक से शून्य है वह नर पशु-तुल्य है।

47 यदि कोई आदमी तलवार से तुम्हारी भुजाएँ और अङ्ग काट डाले तो भी तुम्हें उसके प्रति पाप-भाव का पोषण न करना चाहिए और न उसे अशान्त शब्द ही कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से तुम्हें ही विघ्न होगा।

48 क्षमा के समान कोई तप नही, जो क्षमावान् है उसे शक्ति है, धैर्य है और जो दूसरों का कठोर व्यवहार नही सह सकते वे न तो धर्म-संस्थापकों के मार्गपर ही चलते हैं और न उनका त्राण ही होता है।

49 क्रोध को थोड़ा-सा भी अवकाश (प्रश्रय) न दो, यह धर्म और यश को नष्ट करता है, रूप का शत्रु है, हृदय की अग्नि है; गुणों के लिए इसके समान कोई शत्रु नही।

50 क्रोध प्रव्रज्या के लिए प्रतिकूल है, वैसे ही जैसे कि बिजली की अग्नि शीतल जल के लिए, किन्तु क्रोध गृहस्थ-जीवन के लिए प्रतिकूल नही है; क्योंकि गृहस्थ इच्छाओं से भरे होते हैं और इसके सम्बन्ध में कोई व्रत लिए नही होते हैं।

51 यदि तुम्हारें हृदय में अभिमान का उदय हो, तो सुन्दर बालों से विहीन मस्तक को छूकर अपने काषाय वस्त्र एवं भिक्षा-पात्र को देखकर, और दूसरों के कर्म (=कर्मांत) और आचरण का चिन्तन कर, इसे दूर करो।

52 यदि अभिमान-युक्त सांसारिक मनुष्य अभिमान को जीतने के लिए (यत्न करे), तो फिर उनका क्या कहना, जिनके मस्तक मुड़े हुए हैं, जिन्होंने अपने को निर्वाण (-धर्म) में लगाया है, जो भिक्षा का अन्न खाते हैं और जिन्होंने अपने को प्रमााणित किया है?

53 कपट और धर्माचरण असङ्गत है, इसलिए कुटिल उपायों का सहारा न लो। छल (कपट) और छद्म (=मााया) ठगने के लिए हैं किन्तु जो धर्म में लगे हुए हैं, उनके लिए ठगना-जैसी कोई चीज नही।

54 बड़ी-बड़ी इच्छाएँ रखनेवाले को जो दु:ख होता है वह अल्प इच्छावाले को नही होता है। इसलिए अल्पेच्छता का अभ्यास करना चाहिए और विशेषत: उन्हें, जो गुणों की परिपूर्णता चाहते हैं।

55 जो धनवानों से बिलकुल नही डरता वह कृपणों को देखने से नही डरता; जिसकी इच्छाएँ अल्प हैं और जो "कुछ नही है" यह सुनकर उदास नही होता, उसी को निर्वाण प्राप्त होता है।[96]

56 यदि तुम निर्वाण चाहते हो तो सन्तोष का अभ्यास करो, सन्तोष होनेपर ही यहाँ (सच्चा) सुख मिलता है और सन्तोष ही धर्म है। सन्तुष्ट मनुष्य भूमिपर भी शान्तिपूर्वक सोते हैं और असन्तुष्ट मनुष्य स्वर्ग में भी जलते रहते हैं।

57 असन्तुष्ट मनुष्य अत्यन्त धनवान् होनेपर भी सदा दरिद्र ही रहता है और सन्तुष्ट मनुष्य अत्यन्त दरिद्र होनेपर भी सदा धनी ही रहता है। प्रिय विषयों की खोज करनेवाला असन्तुष्ट मनुष्य, तृप्ति पाने के लिए श्रम करता हुआ, अपने ही लिए दु:ख पैदा करता है।

58 जो परम शान्ति-सुख पाना चाहते हैं, उन्हें सुख में इतना आसक्त न होना चाहिए। क्योंकि इन्द्र और दूसरे देवगण भी संसार के उस मनुष्य से ईर्ष्या (=स्पृह) करते हैं जो केवल शान्ति (की प्राप्ति) में लगा हुआ है।

59 आसक्ति दु:ख का निवास-वृक्ष है; इसलिए स्वजनों में या दूसरों में आसक्ति छोड़ो। इस संसार में अत्यन्त आसक्त मनुष्य दु:ख में वैसे ही फँसता है, जैसे कि जरा-जीर्ण हाथी कीचड़ में।

60 नदी द्वारा—जिसका जल निरन्तर बह रहा हो, अत्यन्त धीरे धीरे ही क्यों नही—काल-क्रम से चट्टान की सतह घिस जाती है। वीर्य (उद्योग) के लिए कुछ भी दुर्लभ नही। अत: उद्यमी बनो और अपने भार को न फेको

61 जो मनुष्य अरणियों को रगड़ने में बार-बार रुकता है उनके लिए काठ से आग निकालना कठिन हो जाता है, किन्तु उद्योग करने से यह आसानी से निकल आती है। अत: जहाँ परिश्रम है वहाँ सिद्धि है।

62 स्मृति (जागरूकता) रहनेपर दोष काम नही करते (अर्थात् निष्क्रिय हो जाते हैं); स्मृति के समान न कोई मित्र है, न कोई रक्षक, और स्मृति के नष्ट होनेपर अवश्य ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। अत: शरीर में लगी (=कायगता) स्मृति को शिथिल न करो।

63 जिनका चित्त दृढ़ है वे शरीर के लिए स्मृतिरूपी कवच पहनकर विषयों की रण-भूमि में उन वीरों की तरह आचरण करते हैं, जो कवच पहनकर शत्रु-व्यूह में निर्भयतापूर्वक घुस जाते हैं।

[96]- पूर्वार्ध का अनुवाद अनिश्चित कहा गया है।

64 इसलिए अपने भावों को सम तथा चित्त को नियन्त्रित रखते हुए संसार के उदय और व्यय को जानो और समाधि का अभ्यास करो। क्योंकि जिसने मानसिक समाधि प्राप्तकर ली है उसे कोई आधियाँ स्पर्श नही करतीं।

65 जैसे बढ़ते हुए पानी को रोकने के लिए मनुष्य परिश्रमपूर्वक बाँध बनाते हैं, वैसे ही समाधि को उस बाँध के समान बताते हैं जिसके द्वारा विचाररूपी जल स्थिर किया जाता है।

66 उस बुद्धिमान् मनुष्य (=प्राज्ञ) का, जो सदा अपनी सम्पत्ति (ऐश्वर्य) दान करता है और हृदय से अत्यन्त धर्माभिमुख रहता है, त्राण होता है; फिर उस भिक्षु के त्राण का क्या कहना, जिसे घर भी नही है।

67 प्रज्ञा, जरा-मरणरूपी महासागर में एक नौका है, मोहान्धकार में मानो एक प्रदीप है, सब व्याधियों को दूर करनेवाली ओषधि है, दोषरूपी वृक्षों को काटनेवाली तेज कुल्हाड़ी है।

68 इसलिए प्रज्ञा की वृद्धि के लिए विद्या, ज्ञान और भावना का अभ्यास करो; क्योंकि जिसे प्रज्ञा-चक्षु है, उसे ही वास्तविक दृष्टि है, यद्यपि उस चक्षु में (स्थूल पदार्थों को) देखने की शक्ति नही होती।[97]

69 घर छोड़नेपर भी यदि कोई मनुष्य चित्त के विविध व्यापारों में लगा रहे तो उसका त्राण नही होता; जो लोग परम शम प्राप्त करना चाहें वे इसे जानें और सब व्यापारों से मुक्त हो जायँ।

70 इसलिए अप्रमाद में वैसे ही लगो जैसे कि गुरु में और प्रमाद का वैसे ही परित्याग करो जैसे कि शत्रु का। अप्रमाद द्वारा इन्द्र ने राज्य प्राप्त किया और प्रमाद द्वारा उद्धत असुरों ने विनाश।[98]

71 करुणामय, सहानुभूतिपूर्ण एवं हितैषी गुरु को जो कुछ करना चाहिए वह सब मैंने किया; अब अपने को लगाओ और चित्त को शान्त करो।

72 तब, जहाँ कहीं रहो, पर्वतपर या शून्य भवन में या जङ्गल में, धर्माचरण में सदा प्रयत्नशील (अप्रमत्त) रहो और पश्चाताप न करो।

73 रोगियों की शारीरिक अवस्थओं का पूरा-पूरा विचारकर, उन्हें उचित ओषधि बताना वैद्य का काम है; किन्तु उचित समय पर ओषधि-सेवन का उत्तरदायित्व रोगी पर ही है, न कि वैद्य पर।

74 पथ-प्रदर्शक (=देशिक) द्वारा उत्तम सीधा समतल एवं निरापद मार्ग बताये जानेपर, यदि सुननेवाले उसपर नहीं चलें और विनाश को प्राप्त हों, तो पथ-प्रदर्शक के ऊपर आदेशरूपी ऋण शेष नही रहता।

75 तुम लोगों में जिस किसी को दु:ख आदि चार सत्यों के मेरे उपदेश के बारे में (कुछ भी जानने की) इच्छा हो, वह तुरत मुझसे विश्वासपूर्वक कहे और अपना संशय दूर करे।"

76 महामुनि द्वारा इस तरह जोरों से कहे जानेपर वे सब संशय-रहित थे और वे कुछ नही बोले। तब अपने चित्त से उनके चित्तों में प्रवेशकर, साधु (=कृती) अनिरुद्ध ने ये वचन कहे:–

77 "हवा का बहना बन्द हो जाय, सूरज सीतल हो जाय और चाँद गर्म, तो भी जगत् में चार सत्त्वों को मिथ्या प्रमाणित करना शक्य नही।

78 जिसे दु:ख कहा गया है वह सुख नही; दु:ख के कारण को छोड़कर दु:ख पैदा करनेवाला दूसरा कुछ नही; कारण का निरोध होने से मुक्ति अवश्य होती है और (-निरोध) मार्ग ही उपाय है।

79 इसलिए, हे महात्मन्, चार सत्यों के बारे में शिष्यों को कुछ संशय नही है; किन्तु जिन्होंने अपना लक्ष्य सिद्ध नही किया है वे यह सोचकर दु:खी हो रहे हैं कि विनायक जा रहे हैं।

80 इस सभा में, जिसने नये व्रत (नई दीक्षा) के कारण अपने लक्ष्य को नही देखा था, वह भी आज आपके इस उपदेश से अपने सम्पूर्ण लक्ष्य को वैसे ही देख रहा है जैसे कि बिजली की चमक में (देख रहा हो)।

81 किन्तु वे भी, जिन्हें कुछ भी करना शेष नही है और जो भवसागर के उस पार चले गये हैं, यह सुनकर हृदय से चिन्तित हो रहे हैं कि पूर्ण शास्ता विदा हो रहे हैं।"

82 आर्य अनिरुद्ध के ये वचन सुनकर बुद्ध ने, असलियत को जानते हुए भी, इसे फिर से सुना और अपने शिष्यों के चित्त दृढ करने के लिए उनसे स्नेहपूर्वक कहा:–

83 "युगपर्यन्त रहनेपर भी प्राणी का विनाश होता ही है, इसलिए पारस्परिक संयोग या मिलन जैसी कोई (स्थायी) वस्तु नही है। मैंने अपना और दूसरों का काम पूरा कर लिया है, अब और जीवित रहने में कोई लाभ नही है।

84 स्वर्ग में और पृथ्वी पर जिन्हें दीक्षित करना था वे सब बचाये गये और मार्गपर लाये गये (स्रोत-आपन्न किये गये)। इसके बाद मेरा यह धर्म भिक्षुओं की वंश-परम्परा से मनुष्यों के बीच रहेगा।

85 जगत् के वास्तविक स्वभाव का पहचानो और चिन्तित मत होओ; क्योंकि वियोग अवश्यम्भावी है। संसार को ऐसा जानकर वैसा यत्न करो जिससे यह फिर कभी न हो।

86 जब ज्ञानरूपी प्रदीप से अन्धकार में प्रकाश हो जाता है और भवों को असार देख लिया जाता है, तब आयु का निरोध होनेपर वैसे ही संतोष होता है, जैसे कि रोगों के दूर होनेपर।

87 जब द्वन्द्वों सहित छूटनेवाले शरीर नामक भव-सागर की धारा कट रही हो, तब जीवन का अन्त होनेपर, जैसे कि विपत्ति-प्रद शत्रुओं का नाश होनेपर, किसे आनन्द न होगा।

---

[97]- "प्रज्ञामयं यस्य हि नास्ति चक्षुश्चक्षुर्न तस्यास्ति सचक्षुषोऽपि"–सौन्दरनन्द 18.35

[98]- "अप्रमाद से ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना"–धम्मपद, 2.10

88 सब चराचर का विनाश होता है, अत: जागरूक रहो; मेरी निर्वाण-प्राप्ति का समय आ गया है। विलाप मत करो; ये मेरे अन्तिम वचन हैं।"

89 तब वह श्रेष्ठ ध्यानज्ञ उस समय प्रथम ध्यान में प्रविष्ट हुए और उससे निकलकर दूसरे में, और इसी तरह उचित क्रम से वह किसी को छोड़े बिना सब (ध्यानों) में प्रवष्टि हुए।

90 तब सब ध्यानों से, नौ समापत्तियों से ऊर्ध्व (अनुलोम) क्रम से निकलकर, महामुनि फिर निम्न (प्रतिलोम) क्रम से प्रथम ध्यान में लौट आये।

91 उससे भी निकलकर वह उचित क्रम से चतुर्थ ध्यान में आये और चतुर्थ ध्यान से निकलकर वह अनन्त शान्ति अनुभव करने को चले गये।

92 तब मुनि का परिनिर्वाण होनेपर, तूफान से प्रतिहत नौका के समान पृथ्वी काँप उठी, और आकाश से उल्काँ गिरीं, जैसे दिग्गजों द्वारा फेंकी गई हों।

93 जलावन और धुएँ से रहित आग, हवा से प्रेरित हुए बिना ही दिशाओं को जलाने लगी, जैसे दिव्य चित्ररथ वन को जलाने के लिए आकाश में दावानल उठा हो।

94 भयङ्कर व्रज, शत शत अङ्गारों से आग उगलते हुए, गिरने लगे, जैसे युद्ध में असुरों को जीतने के लिए इन्द्रदेव क्रोधपूर्वक उन्हें (वज्रों को) फेंक रहा हो।

95 धूल-भरी हवा लताओं को टुकड़े-टुकडे करती हुई जोरों से बही, और क्रुद्ध झंझावात से आहत हुए पर्वतों की चोटियाँ गिर पड़ी।[99]

96 चाँद का प्रकाश क्षीण हुआ और यह अपनी निष्प्रभ किरणों से वैसे ही शोभित हुआ, जैसे पङ्किल जल से लिप्त राजहंस, जिसका शरीर छोटे छोटे बेतों (या नरकटों) से घिरा हो।

97 यद्यपि आकाश अनभ्र था और चाँद उगा हुआ था, तो भी अपवित्र अन्धकार चारों ओर फैल गया था। और उस समय नदियों का जल मानो शोक से खौल रहा था।

98 तब समीपवर्त्ती शाल-वृक्षों ने झुककर असमय के सुन्दर फूल बुद्ध के शरीर पर... ...
...बरसाये।

99 आकाश में पाँच शिरवाले नाग निश्चल खड़े रहे, वे मुनि को भक्तिपूर्वक देख रहे थे, उनकी आँखें शोक से लाल थीं, उनके फन बन्द थे, और उनके शरीर नियन्त्रित थे।

*100 मानसिक पीड़ा के कारण उन्होंने गर्म निश्वास छोड़े, किन्तु यह सोचकर कि जगत् स्वभावत: अनित्य है, उन्हें शोक से विरति एवं जगत् से घृणा हो गई।

101 दिव्य लोक में नैष्ठिक धर्म के आचरण में रत राजा वैश्रवण की धर्मसभा ने धर्म में आसक्ति होने के कारण न शोक किया न आँसू बहाये।

[99]- इसका उत्तरार्द्ध चीनी अनुवाद से लिया गया है।

102 पवित्र (=कृती) शुद्धाधिवास देवगण, यद्यपि वे महामुनि का अत्यन्त सम्मान करते थे, शान्त रहे और मन में क्षुब्ध नही हुए; क्योंकि उन्हें जगत् के स्वभाव से घृणा थी।

103 सद्धर्म में आनन्द पानेवाले देवगण, गन्धर्व-राज, नाग-राज और यक्ष अत्यन्त शोक-मग्न और व्याकुल होकर आकाश में खड़े रहे।

104 किन्तु, मार की हार्दिक अभिलाषा पूरी हुई, उसके दल ने आनन्द में आकर अट्टहास किया, उछल-कूद की, साँपों के समान फूत्कार किया, नृत्य किया और बड़े बड़े मृदङ्ग एवं पटह बजाये।

105 तब ऋषि-ऋषभ (बुद्ध) के उस पार चले जानेपर संसार उस पर्वत के समान दिखाई पड़ा, जिसकी चोटी वज्र से कट गई हो, या उस उदास हाथी के समान जिसका मद बन्द हो गया हो, या उस वृषभ के समान जिसका ककुद नष्ट हो गया हो।

106 उन जन्म-विनाशक को खोकर, संसार वैसा ही दिखाई पड़ा जैसे कि बिना चाँद का आकाश, या हिम से सूखे कमलों का सरोवर या धन के अभाव से निष्फल हुई विद्या (दिखाई पड़े)।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "महापरिनिर्वाण" नामक 26वाँ सर्ग समाप्त॥

सत्ताईसवाँ सर्ग

निर्वाण की प्रशंसा

1 तब किसी बड़े देवता ने विमान से अपना शिर कुछ बाहर झुकाकर सर्वज्ञ की ओर एक क्षण तक देखा और कहा:—

2 "आहो! सब जीव अनित्य हैं और जन्म एवं विनाश के नियम के अधीन हैं, जो जो जन्म लेते हैं उनके भाग्य में दु:ख है। इस प्रकार शान्ति उसी शान्ति से मिलती है, जो अपने पीछे कुछ छोड़ नही जाती।

3 जैसे कि जल अग्नि को शान्त करता है वैसे ही कालरूपी जल को तथागतरूपी अग्नि शान्त करनी पड़ी, जिसकी ज्वाला ज्ञान है, जिसका धुआँ यश है, और जिसने जन्मरूपी इन्धन को नि:शेष जला डाला है।"

4 तब श्रेष्ठ ऋषि के समान दिखाई पड़नेवाले दूसरे ऋषि ने, जो स्वर्ग में रहते हुए भी उसके उपभोगों से आकृष्ट नही हुआ, अर्हत् ऋषि की ओर देखा, जिन्होंने शान्ति प्राप्त कर ली थी; और गिरिराज के समान धैर्य धारण करते हुए, उसने ये वचन कहे:—

5 "इस संसार में ऐसा कुछ नही जो नाश को नही प्राप्त होता है, जो नाश को नही प्राप्त हुआ और जो नाश को नही प्राप्त होगा, यह देखकर कि अनुपम गुरु, जिन्होंने परम ज्ञान प्राप्त किया था और जो उत्तम लक्ष्य (=परमार्थ) को जानते थे, शान्ति को प्राप्त हुए।

6 जीवलोक, जिसकी आँखें मोह से अवश्य ही अन्धी हो गई हैं, इन नेता से वञ्चित हुआ, जिनकी प्रज्ञा विशुद्ध थी और जिन्हें उत्तम दृष्टि प्राप्त थी; और होश खोकर यह लोक कुमार्ग में स्थित है।”

7 तब मुनि का निर्वाण होनेपर अनिरुद्ध ने, जिसने संसार को जीत लिया था, जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई थी और जिसने जन्म-निरोध कर लिया था, जगत् को प्रकाश से वञ्चित हुआ देखकर, शान्तिपूर्वक यों कहा:—

8 “संस्कारों के अधीन रहनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य को इस समय विश्वास नही करना चाहिए, जब कि ऋषिरूपी महापर्वत पर अनित्यता रूपी वज्र के गिरने से चोट पड़ी है।

9 अहो! इस असार अनात्म एवं विनाशधर्मा जगत् को जीवलोक कहते हैं, जिसमें मुनि—दुर्धर्ष सिंह—दोषरूपी हाथियों को नष्ट करके स्वयं नाश को प्राप्त हुए।

10 जगत् सदा कर्मशील और कामासक्त है; अब किसका हाथ सुरक्षा प्रदान करेगा, जब कि तथागत भी साधारण भाग्य के अधीन होकर सुवर्ण-स्तम्भ के समान गिर पड़े?

11 मुनिरूपी हाथी ने दोषरूपी वृक्ष को—जिसके बीज छ: हैं, अङ्कुर एक, बलि एक, मूल छ:, फल पाँच, शाखाएँ दो, . ., और तना एक—उखाड़ डाला; तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं।

12 सम्राट के समान सभी शत्रुओं को जीतकर, ग्रीष्म ऋतु में मोर के समान आसक्ति-रहित होकर, घोड़े के समान अपनी यात्रा पूरी कर, (इन्धन-रहित) अग्नि के समान जन्म-मुक्त होकर, मुनि शान्ति को प्राप्त हुए।

13 जैसे कि वज्र-चालक स्वर्ग-पति प्रसन्न होकर तृप्ति-कर जल-धाराएँ भेजता है, वैसे ही गुरु ने अपने उपदेश भेजे और प्रखर दीप्ति से पीड़ित वृषभ के समान पृथ्वी पर घूमते हुए उन्होंने अपने यश से दिशाओं को व्याप्त किया; तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं।

14 वह नर-सूर्य द्रविण-पति वैश्रवण के दल से परिवृत होकर अपने मार्गपर चले, और उन यशस्वी और तेजस्वी ने नदी (=सिन्धु) के समान सुवर्ण-राशि दी, तो भी उनका अस्त हुआ।

15 आज मुनि का निर्वाण होनेपर जगत् वैसे ही निष्प्रभ है जैसे कि कुहासे से भरी दिशाएँ, जैसे कि सूरज जिसकी किरणें बादलों से कट रही हों, जैसे कि आहुति पूरी होनेपर घी-रहित आग।

16 कुटिलता (=ग्रन्थि)-रहित होकर उन्होंने सत्य का (सीधा) मार्ग ग्रहण किया और बन्धन (=ग्रन्थि)-रहित होकर उन्होंने शम-धर्म प्राप्त किया। ऋद्धि द्वारा जीवन-धारण करने में समर्थ होनेपर भी उन्होंने शरीर नामक दु:ख-निवास का परित्याग किया।

17 जैसे सूर्य अन्धकार को दूर करता है, वैसे ही अज्ञान को जीतकर और जैसे जल-धारा धूल को शान्त करती है, वैसे ही काम को शान्तकर, मुनि......चले गये, घूमते हुए दु:ख-चक्र में फिर कभी लौटने को नही।

18 जन्मरूपी दु:ख को नष्ट करने के लिए उनका जन्म हुआ था, शान्ति के लिए जगत् उनकी शरण में आया, वह उज्ज्वल तेज से चमके और उन्होंने विशिष्ट बुद्धि से प्रकाशित किया।

19 उन्होंने लोगों को श्रेय की ओर भेजा, उन्होंने पृथ्वी को अपने उत्तम गुणों से व्याप्त किया, उनके यश में वृद्धि हुई।[100]

20 अपनी विपुल विद्या के कारण वह निन्दा सुनकर उदास नही होते थे, वह दुखियों से दयापूर्वक बोलते थे, वह दूषित भोजन ग्रहण नही करते थे और अच्छा भोजन पाकर उन्हें आनन्द नही होता था।

21 वह अपनी चञ्चल इन्द्रियों को शान्त रखते थे और अपनी मानसिक शक्ति (इच्छा-शक्ति) के कारण ठीक ही विषयासक्त नही होते थे। दूसरों द्वारा अप्राप्त मार्ग को पाकर उन रसज्ञ ने नैष्कम्य-रस का आस्वादन किया।

22 उन्होंने वह दिया, जो पहले किसी मनुष्य ने नही दिया था और उनके दान, फल की इच्छा से प्रेरित नही होते थे; उन्होंने अविचल चित्त से राज्य छोड़ा और अपने गुणों से सज्जनों के चित्त आकृष्ट किये।

23 उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपनी चञ्चल आँखों की रक्षा की। वह सदाचार द्वारा अपने चित्त की रक्षा किया करते थे। उन्होंने श्रेय की रक्षा एवं वृद्धि की। उन्हें किसी उत्पन्न धर्म (वस्तु) की अभिलाषा नही हुई।

24 बुरे कर्मों को बुरा समझकर उन्होंने छोड़ दिया और श्रेय द्वारा दोषरूपी शत्रुओं से अपने को मुक्त किया। उन्होंने बुद्धि द्वारा पापों को सर्वथा उन्मूलित किया, तो भी वह (मुनि), अनार्य अनित्यता के वशीभूत हुए।

25 उन्होंने ठीक-ठीक धर्म का पालन किया और आनन्दपूर्वक उत्तम निश्चय ग्रहण किये; तो भी वह शास्ता, जिन्हें ज्ञान का खजाना था, उस अग्नि के समान शान्त हो गये, जिनका इन्धनरूपी कोष समाप्त (उपभुक्त) हो गया हो।

26 गुरु वहाँ पड़े हुए हैं, जिन्होंने आठ के बारे में पाँच के समूह को अच्छी तरह जीता, जिन्होंने तीन को देखा, जिन्होंने त्रिविध आचरणों का अन्त किया, जिन्हें त्रिविधि दृष्टि थी, जिन्होंने एक की रक्षा की, जिन्होंने एक को प्राप्त किया, जिन्होंने एक का चिन्तन किया, जिन्होंने सात भारी चीजों (=गुरूणि ?) का परित्याग किया।

27 उन्होंने शान्ति के लिए मार्ग को प्रकाशित किया और कृपापूर्वक सज्जनों को श्रद्धावान् बनाया। उन्होंने पापरूपी वृक्षों को काटा और श्रद्धावानों को भवों से मुक्त किया।

[100]- अर्थ अनिश्चित है।

28 अपने वचनामृत से उन्होंने जगत् को खूब तृप्त किया और क्षमा द्वारा क्रोध को जीता। उन्होंने अपनी शिष्यमण्डली को श्रेय में रमाया और श्रेय चाहनेवालों को सूक्ष्म परीक्षण में लगाया।

29 उन्होंने सज्जनों के भीतर धर्माङ्कुर उत्पन्न किया और वह उन्हें आर्य-मार्ग पर ले आये, जिसका सार है "कारण"; यद्यपि उन्होंने अनार्यों को लोकोत्तर तरीके से नही सिखाया तो भी उन्हें सद्धर्म के अतिरिक्त दूसरे मार्गपर नही स्थापित किया।

30 काशी में उन्होंने धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन किया और अपने ज्ञान द्वारा जगत् को संतोष का दान दिया; जिन्हें दीक्षित करना था उनसे उन्होंने धर्माचरण कराया और हमारे हित के लिए हमें सुख दिया।

31 दूसरों को उन्होंने अदृष्टपूर्व तत्त्व का दर्शन कराया और धर्म पर चलनेवालों को उन्होंने गुणों से युक्त किया। दूसरे दर्शनों को खण्डनकर, युक्ति द्वारा उन्होंने लोगों को दुर्बोध अर्थ का बोध कराया।

32 सब कुछ अनित्य और अनात्म है, ऐसा उपदेश देकर और भवों में कुछ भी सुख नहीं है, ऐसा बतलाकर उन्होंने अपनी यश-पताका ऊँची उठाई और अभिमान के ऊँचे खम्भों को उलट दिया।

33 निन्दा से उनके चित्त में क्षोभ नही हुआ और किसी भी बात में उन्हें सांसारिक प्रवृत्ति की इच्छा नही हुई........।

34 स्वयं पार होकर उन्होंने डूबते हुए लोगों को पार किया; स्वयं शान्ति प्राप्तकर उन्हें शान्ति दी, जो क्षुब्ध थे; स्वयं मुक्त होकर उन्हें मुक्त किया जो बँधे हुए थे; स्वयं प्रकाश पाकर दूसरों के मोहान्धकार को प्रकाशित किया।

35 न्याय एवं अन्याय को जाननेवाले महामुनि जगत् को सदुपदेश से अनुगृहीत कर चले गये, जैसे कि आपत्काल में, जब कि जीव अन्याय-मार्गपर चलते हैं और उसी में प्रसन्न रहते हैं, धर्म चला जाता है?

36 संसार की दृष्टियों (मतों) को जीतकर भी, वह सजल मेघ के समान, पहाड़ पर के जङ्गल के समान, गौरवशाली वृद्ध पुरुष के समान और दीप्तिमान् युवक के समान, संसार की दृष्टि को आकृष्ट करते हुए चले।

37 ....वह परम शान्ति के मार्गपर चले, और श्रद्धामान् जगत्, जिसने उन्हें शान्ति प्राप्त करते देखा, आज उस स्नेही पुरुष के समान है जो पितृ-विहीन हो गया हो।

38 मार भी, जिसने अपने दल-बल के साथ मुनि को नष्ट करने के लिए प्रचण्ड क्रोध किया था, उनका मुकाबला न कर सका; तो भी उन्हें नष्ट करने के लिए प्रचण्ड क्रोध करनेवाला मार आज मौत से मिलकर उन्हें गिराने में समर्थ हुआ।

39 सब जीव जिनके लिए भव-चक्र का भय अबतक दूर नही हुआ है, देवताओं के साथ एकत्र हुए हैं और दु:ख से अभिभूत हैं; क्योंकि शोक के परे जो उत्तम मार्ग है, वह उन्हें प्राप्त नही हुआ है।

40 सब जीवों को आलोकित करते हुए उन्होंने जगत् को ऐसे देखा, जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित हो और अपनी दिव्य श्रवण-शक्ति से उन्होंने दूर एवं निकट के, स्वर्ग तक के भी, सब शब्द सुने।[101]

41 वह आकाश के नक्षत्र-प्रासाद पर चढ़े, पृथ्वी में बिना किसी बाधा के प्रविष्ट हुए, पानी पर बिना डूबे हुए चले और अपने शरीर से उन्होंने विविध् रूप पैदा किये।

42 उन्हें अपने बहुत-से (पूर्व-) जन्म याद थे, जैसे कि यात्री को मार्ग के विविध विश्राम-स्थल याद रहते हैं और उन्होंने अपने चित्त से दूसरों के मानसिक व्यापारों को (=मन: प्रचारान्) जाना, जो इन्द्रियों की बोध-शक्ति के क्षेत्र से परे हैं (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा नही जाने जा सकते)।

43 वह सब के साथ समान व्यवहार करते थे और सर्वज्ञ थे, उन्होंने सब आस्रवों (चित्त-मलों) को काट डाला और सब कार्य को पूरा किया, ज्ञान द्वारा उन्होंने दोषों को छोड़ा और ज्ञान-तत्त्व प्राप्त किया, तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं।

44 उन्होंने उन लोगों को दीक्षित किया, जिनके चित्त पटु थे और मन्द चित्तों को धीरे-धीरे पटुता की ओर प्रेरित किया। धर्म-ज्ञान द्वारा उन्होंने उन लोगों से पाप छुढ़वाया। अब अमृत प्राप्त करने का धर्म कौन बतायेगा?

45 उत्पीड़ित और निराश जगत् की शान्ति के लिए कौन धर्म प्रदान करेगा? अपना कार्य पूरा कर कौन दयालु दूसरों को दोष-जाल काटेगा?

46 भवचक्र के महासागर में डूबे हुए जगत् की शान्ति के लिए उत्तम ज्ञान कौन बतायेगा? अज्ञान-मग्न संसार के सुख के लिए उत्तम-ज्ञान कौन बतायेगा?

47 उन संसारज्ञ के बिना यह संसार, प्रकाश-रहित दिवाकर के समान है या प्रवाह-रहित नदी (=सिन्धु) के समान या उस राजा के समान, जिसका राज्य नष्ट हो गया हो।

48 उन नर-श्रेष्ठ के बिना यह संसार बुद्धि-रहित विद्या के समान, विवेक-रहित परीक्षण के समान, प्रताप-रहित राजा के समान, क्षमा-रहित धर्म के समान, होकर भी नही है।

---

[101]- 40-43:—40-42 में अभिज्ञाओं का वर्णन है और 43 में आस्रवक्षयज्ञान का; विशेष विवरण के लिए देखिए—अभिधर्मकोष 7.42

49 सुगत को खोकर संसार, सारथि द्वारा परित्यक्त रथ के समान, या कर्णधार द्वारा परित्यक्त नाव के समान या सेनापति द्वारा परित्यक्त सेना के समान, या नायक द्वारा परित्यक्त काफिले (=सार्थ) के समान, या वैद्य द्वारा परित्यक्त रोगी के समान है।

50 आज निर्वाण चाहनेवालों का दुःख वैसे ही है जैसे कि शरद् ऋतु में बिना बादल का आसमान जो चाँद से सूना हो, जैसे कि आकाश जिसमें हवा नही बह रही हो, जैसे कि उन लोगों का दुःख जो जीवित रहना चाहते हों (किन्तु मर रहे हों)।"

51 यद्यपि वह अर्हत् था, जिसने अपना अच्छा काम पूरा कर लिया था, तो भी जन्म (जीवन, संसार) की बुराइयों तथा गुरु के गुणों के बारे में उसने बहुत कुछ कहा; क्योंकि वह गुरु के प्रति कृतज्ञ था।

52 जो निष्काम नही हुए थे उन्होंने आँसू बहाये और भिक्षुओं ने धैर्य खोकर शोक किया; किन्तु जिनका (भव-) चक्र पूरा हो गया था उन्होंने सोचा कि जगत् मरणशील (व्ययधर्मा, नाशवान्) है और वे आत्मसंयम से विचलित नही हुए।

53 तब समाचार सुनकर, मल्ल लोग विपत्ति के बोझ से दबे हुए यथासमय तेजी से निकल आये और बाज की शक्ति से अभिभूत बगलों के समान वे कष्टपूर्वक बोले, "हा! त्राता!"

54 जब उन्होंने मुनि को प्रकाश-रहित सूर्य के समान वहाँ पड़ा हुआ देखा, तब मन के महा-अन्धकार के कारण वे रोये और भक्ति-वश ऊँचे स्वर से उन्होंने विलाप किया, जैसे सिंह के द्वारा गवांपति के मारे जानेपर गाय-बैल (रोते बिलखते हैं)

55 धर्म-गुरु का निर्वाण होनेपर जिन लोगों की आँखें आँसुओं से अभिभूत थीं और जो लोग अपने अपने विश्वास (पंथ) एवं स्वभाव के अनुसार शोक कर रहे थे, उनमें एक अत्यन्त तेजस्वी एवं धर्म-रत पुरुष था, उसने ये वचन कहे:—

56 "जिन्होंने सोये हुए जगत् (जीव-लोक) को जगाया, अब वह अन्तिम शय्या पर पड़े हुए हैं। धर्म की मूर्ति, यह पताका, गिरी हुई है, जैसे कि उत्सव का अन्त होनेपर इन्द्र की पताका (गिर पड़ती है)।

57 तथागतरूपी सूर्य ने बुद्धत्वरूपी तेज से, उद्योगरूपी गर्मी से, और ज्ञानरूपी सहस्र किरणों से, अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर किया; अब अस्त होकर इस (सूर्य) ने संसार में फिर अन्धकार फैला दिया।

58 अब जगत् का नेत्र निष्ठुरतापूर्वक बन्द हो गया, जिसने अतीत अनागत और वर्तमान को देखा; बाँध निष्ठुरतापूर्वक टूट गया, जिसने दुःखरूपी महासागर की .... तरङ्गों से हमें बचाया।"

59 इस तरह वहाँ कुछ लोगों ने दीनतापूर्वक विलाप किया, दूसरों ने रथ के घोड़ों के समान झुककर शोक किया, कुछ लोग रोये, दूसरे भूमि पर पड़े रहे। प्रत्येक आदमी ने अपने स्वभाव के अनुसार आचरण किया।

60 तब रोते हुए मल्लों ने बड़े बड़े हाथियों की सूड़ों के सदृश भुजाओं से मुनि को यथासमय एक नई बहुमूल्य एवं सुवर्ण-खचित पालकी (=शिविका) पर रक्खा।

61 तब समयोचित्त विधि से उन्होंने भाँति भाँति की मनोहर मालाओं एवं अति उत्तम सुगन्धों से उनका सम्मान किया और फिर स्नेह एवं भक्ति से उन सबने पालकी पकड़ी।

62 तब कोमलाङ्गी कुमारियों ने, जिनके नूपुर बज रहे थे, अपने ताम्रवर्ण हाथों से उस (पालकी) के ऊपर एक बहूमूल्य वितान धारण किया, जो बिजली की चमक से उज्जवल बादल के समान जान पड़ा।

63 उसी प्रकार कुछ लोगों ने श्वेत मालाओं से युक्त छत्र पकड़े, और दूसरों ने सोने से मढ़े सफेद चँवर डुलाये।

64 तब वृषभ की-सी लाल आँखोंवाले मल्ल पालकी को धीरे-धीरे ले जाने लगे, और श्रुति-सुखद तूर्य आकाश में बजने लगे, जैसे वर्षा-ऋतु में बादल गरज रहे हों।

65 दिव्य कुसुम, कमल और भाँति-भाँति के फूल आसमान से गिरे, मानो दिग्गजों से प्रकम्पित चित्ररथ-वन के वृक्षों द्वारा (वे फूल) गिराये गये हों।[102]

*66 ऐरावत से उत्पन्न बड़े-बड़े हाथियों ने मणिमय भीतरी भागवाले कमल और जल-कण-वर्षा... ...मन्दारव फूल बरसाये।

*67 तब गन्धर्वों की रानियों ने, जिनके शरीर आनन्द-मुहूर्त के लिए उत्पन्न हुए थे, लाल चन्दन को मिटाकर, श्वेत वस्त्र फेंके, जो लीलापूर्वक सजाये गये थे।

68 चञ्चल पताकाओं को ऊपर उठाये हुए और सब प्रकार की मालाएँ चारों ओर बिखरते हुए, वे पालकी (=शिविका) को मङ्गल के लिए (=शिवाय) मङ्गलमय (=शिवेन) मार्ग से सङ्गीत के साथ-साथ ले गये।

69 मुनि की दिव्य (पारमार्थिक) शक्ति के कारण सौ-सौ बार प्रणाम करते हुए और उनकी मृत्यु पर रोते हुए, मल्लों ने भक्तिपूर्वक पालकी ढोई और इस प्रकार इसे वे नगर के मध्य भाग से ले गये।

70 नाग-द्वार से बाहर होकर उन्होंने हिरण्यवती नामक नदी पार की और मुकुट नामक चैत्य के नीचे उन्होंने उनके यश के अनुरूप एक चिता बनाई।

---

[102]- पाद 2-4 की तुलना सौन्दरनन्द दो 53 के पाद 2-4 से कीजिए-

". पुष्पवर्षं पपात खात्।
दिग्वारणकराधूताद्वनाच्चैत्ररथादिव॥"

71 तब उन्होंने चिता के ऊपर सुगन्धित वल्कलों, पत्तों, अगुरु, चन्दन और एलगज का ढेर लगा दिया और शोक से साँपों के समान लम्बी साँसे लेते हुए, चञ्चल आँखों से मुनि के शरीर को उसपर रख दिया।[103]

72 तब यद्यपि उन्होंने प्रज्वलित दीप को तीन बार उसमें लगाया, तो भी महामुनि की चिता में आग नही लगी, जैसे क्लीव राजा की, ..., राज्य-लक्ष्मी अग्नि ग्रहण नही करती है।

73 काश्यप, विशुद्ध चित्त से भावना करते हुए, मार्ग होकर आ रहा था और भगवान् के पवित्र अवशेषों को देखने की उसकी इच्छा-शक्ति के ही कारण आग नही लगी।

74 तब उस समय गुरु को देखने की इच्छा से शिष्य शीघ्र ही आ गया और जैसे ही उसने मुनिवर को प्रणाम किया कि अग्नि स्वयं प्रदीप्त हो उठी।

75 अग्नि से मुनि के शरीर के चर्म, मांस, बाल और अवयवों को, जो पापों से नही जले थे, जला डाला; किन्तु घी और जलावन की (पर्याप्त) मात्रा तथा हवा के रहनेपर भी यह हड्डियों को नही जला सकी।

76 तब उचित समय पर उन्होंने मृत महात्मा की हड्डियों को उत्तम जल से शुद्ध किया और मल्लों के नगर में सोने के घड़ों में उन (हड्डियों) को रखकर, उन्होंने प्रशंसा के स्तोत्र गाये:— [104]

77 "कलशों में उत्कृष्ट महाधातु है, जैसे कि महापर्वत की मणिमय धातु हो, और ये धातुएँ अग्नि से नष्ट नही हुईं, जैसे कि स्वर्ग में देवेन्द्र (ब्रह्मा) का धातु (कल्पान्त की अग्नि से नष्ट नही होता)।[105]

78 ये मैत्रीमय तथा कामाग्नि से नही जल सकने योग्य हड्डियाँ (=अस्थि) उन (तथागत या हड्डियों) की भक्ति के प्रभाव से रक्खी गई हैं, और शीतल होनेपर भी हमारे हृदय को गर्म कर रही हैं।

79 जिन्होंने इच्छा को जीता और जो संसार में अद्वितीय थे उनकी हड्डियाँ, उनकी पारमार्थिक शक्ति के कारण, विष्णु के (वाहन) गरुड़ द्वारा भी नही ढोये जा सकते, तो भी हम मानव उन्हें ढोते हैं।

80 अहो! संसार के नियम का प्रभाव निष्ठुर है और इसकी शक्ति के वशीभूत वह भी हुए, जिनकी शक्ति धर्म पर थी और इसलिए, जिनका यश सारी सृष्टि में व्याप्त हुआ उनके ये शारीरिक अवशेष इन घड़ों में रक्खे जाते हैं।

81 उनकी दीप्ति दूसरे सूर्य की दीप्ति के समान थी और इससे उन्होंने पृथ्वी को प्रकाशित किया। उनके शरीर का रङ्ग सुनहला था, तो भी अग्नि ने केवल बची हुई हड्डियों को ही छोड़ा है।

82 मुनि ने दोषों के बड़े बड़े पर्वतों को विदीर्ण किया, और जब उनपर दु:ख आया, तो उन्होंने धैर्य नही छोड़ा; उन्होंने सब दु:ख का निरोध किया, तो भी अग्नि ने उनके शरीर को जला ही डाला।

83 युद्ध में मल्ल दुश्मनों को रुलाते हैं, अपने आश्रितों के आँसू पोछते हैं, और प्रियजन के लिए भी आँसू बहाने से विरत रहते हैं, तो भी इस समय मार्ग पर आँसू बहाते हुए वे शोक कर रहे हैं।"

84 अभिमान एवं बाहुबल होनेपर भी उन्होंने विलाप किया और नगर में ऐसे प्रवेश किया, जैसे जङ्गल में और बीथि-वासियों (नागरिकों) द्वारा धातुओं की पूजा हो जानेपर, उन्होंने उनकी पूजा के लिए एक उज्जवल महल बनाया।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "निर्वाण की प्रशंसा" नामक 27वाँ सर्ग समाप्त॥

अट्ठाईसवाँ सर्ग

धातु-विभाजन

1 कुछ दिनों तक उन लोगों ने विधिवत् समुचित रीति से धातुओं की पूजा की; तब उन धातुओं को लेने के लिए उस नगर में सात पड़ोसी राजाओं के दूत क्रम से आये।

2 तब यथासमय उनकी बात सुनकर मल्लों ने अभिमान-वश और धातुओं के प्रति भक्ति होने के कारण उन्हें नही देने का निश्चय किया, बल्कि युद्ध करना पसन्द किया।

3 तब उनका उत्तर जानकर सातों राजा, सात मारुतों के समान, कुश के नाम से विख्यात उस नगर में अत्यन्त वेगपूर्वक अपनी सेनाओं के साथ आये, जो बढ़ती हुई गङ्गा की धारा के समान थीं।

4 तब उन राजाओं के घोड़ों का शब्द सुनकर नगर-निवासी जङ्गल से शीघ्रतापूर्वक नगर में घुसे गये, उनके चेरहे भयभीत थे .।

5 तब राजाओं ने दूरवर्ती वनों में हाथियों को बाँधकर नगर को घेर लिया और उचित-रीति से व्यूह-रचना कर अच्छे मल्लों के प्रतिकूल आचरण किया।

6 तब वह नगरी, शोकाकुल स्त्री के समान, छतरूपी भुजाओं को ऊपर फेंककर और चँवररूपी सुन्दर एवं लम्बी पपनियों से द्वाररूपी आँखों को बन्दकर, शोक-मग्न हो गई।

7 जब सातों राजा एककार्य होकर अपने प्रताप से चमकने लगे, तब पृथ्वी आकाश के समान भयङ्कर हो गई, जिसमें सातों ग्रह एक साथ एक ही समय चमक रहे हों।

8 तब स्त्रियों की भी नाकें मदस्रावी हाथियों की गन्ध से, उनकी आँखें हाथियों की सूँड़ों द्वारा उड़ाई गई धूल से, और उनके कान घोड़ों हाथियों एवं दुन्दुभियों की ध्वनि से आक्रान्त हुए।

9 घेरे में चारों ओर युद्ध ही दिखाई पड़ता था, द्वार हाथियों और घोड़ों से घिर गये ।

---

[103]- एलगज = इलायची या दालचीनी।

[104]- "घड़ों में" बहुवचन है, एकवचन होना उचित था।

[105]- ब्रह्मा का धातु=ब्रह्मा का पद।

10 तब डरे हुए नगर-निवासियों ने साहस करके घबराहट छोड़ी और वे प्राकारों पर एकत्र हो गये; उनकी बर्छियाँ तलवारें और तीर शत्रुओं पर बाज के समान चमक रहे थे।

11 कुछ लोग उत्तेजित होकर गरजे, वैसे ही दूसरों ने एकत्र होकर शङ्ख फूँके। कुछ लोग इधर उधर तेजी से गए, वैसे ही दूसरों ने अपनी तेज तलवारें चमकाईं।

12 तब मल्लों को विजय-प्राप्ति के लिए लड़ने को तैयार तथा मल्लों (पहलवानों) के समान गरज गरजकर अपना अपना नाम बताते देखकर, उन योद्धाओं की पत्नियों ने एक ही साथ उनके चित्त ओषधि और पुरस्कार तैयार किये।

13 योद्धाओं की काँपती हुई स्त्रियों ने अपने पुत्रों को कवच पहनाये, जो युद्ध के अग्रभाग में जाना चाहते थे, और उन्होंने उनके लिए मङ्गल-कर्म किये, उन (स्त्रियों) के मुख उदास थे और आँसू अनियन्त्रित।

14 हरिणों के समान अधोमुख अन्य स्त्रियों ने अपने अपने पति के पास जाकर उस धनुष को पकड़ रखा, जिसे वह लेना चाहता था और रणोन्मुख वीर को देखते ही (<u>उनके पग</u>) रुक गये और वे न तो आगे ही गईं और न स्थिर ही खड़ी रहीं।

15 जब राजाओं ने मल्लों को इस तरह सुसज्जित एवं घड़े में बन्द साँपों के समान युद्ध के लिए निकलते देखा, तब उन्होंने युद्ध करने का निश्चय किया।

16 द्रोण नामक ब्राह्मण ने रथ हाथी घोड़े और पैदल सेना को उत्तेजित और युद्ध के लिए पूरा तैयार (कृतसङ्कल्प) देखा, और अपनी विद्वता एवं प्रेमपूर्ण दया के कारण उसने ये वचन कहे:—

17 "युद्धस्थल में आप तीरों से शत्रुओं के क्रोध और जीवन को शान्त कर सकते हैं, किन्तु किलों में रहनेवालों के साथ आप आसानी से वैसा नही कर सकते, उन शत्रुओं के साथ तो और भी नहीं जिनका चित्त (=कार्य) एक है।

18 यदि आप घेरा डालकर शत्रुओं को जीत भी लें, तो क्या दृढ़चित्त होकर उन्हें उन्मूलित करना तथा निर्दोष नगर-निवासियों को घेरे में डालकर हानि पहुँचाना धर्मसङ्गत है?

19 जैसे कि बिल में घुसते समय कृष्ण सर्प रास्ते में मिलकर एक दूसरे को काटते हैं, वैसे ही घेरा डालने से या तो आपकी एकान्त (पूरी) जीत नही होगी, या जो घेरे जायँगे, उन्हीं की जीत होगी।

20 क्योंकि तुच्छ मनुष्य भी नगर के घेरे का समाचार सुनने पर उत्तेजित होकर बड़े काम के हो जायँगे, जैसे कि थोड़ी सी भी आग जलावन पाकर बढ़ जाती है।

21 नगर में घिरकर भी धर्मात्मा मनुष्यों ने तपस्या द्वारा उन्हें पीछे हटाया, जो उनकी हत्या करने आये थे और अशक्त शस्त्रों के होनेपर भी उन्होंने धर्म-बल से कुश-नगर में करन्धम को जीता।

22 उन राजाओं को, जिन्होंने यश या राज्य (या विषय) के लिए सारी वसुधा को प्राप्त किया, इसे छोड़कर धूल में लौट जाना पड़ा, जैसे कि पोखर से पानी पीनेपर बैलों को चारागाह में लौट जाना पड़ता है।

23 अत: धर्म और अर्थ के लिए क्या जरूरी है, इसे ठीक ठीक देखकर आपको शान्तिपूर्ण उपायों (=साम) से प्रयत्न करना चाहिए; कयोंकि जो तीरों द्वारा जीते जाते हैं वे फिर प्रदीप्त हो सकते हैं; किन्तु जो शान्तिपूर्ण उपायों से जीते जाते हैं उनका विचार नही बदलता है।

24 यह सब आपकी शक्ति से परे है, आपकी सेना शत्रु की सेना का मुकाबला नही कर सकती। जिन शाक्य-मुनि का सम्मान करना आपको अभीष्ट है, उन्हीं के उपदेश के अनुसार आपको सहनशीलता (क्षमा) का आचरण करना चाहिए।"

25 यद्यपि वे राजा थे, तो भी उस भले मनुष्य ने उन्हें दृढ़तापूर्वक उपदेश दिया और ब्राह्मणोचित स्पष्टवादिता एवं प्रेमपूर्ण दया के साथ उन्हें वास्तविक हित की बात कही। तब उन्होंने उत्तर दिया:—

26 "आपके ये शब्द समयानुकूल और बुद्धिमत्तापूर्ण हैं और हमारी भलाई के लिए मित्रतापूर्वक कहे गये हैं; अब आपको हमारा आशय विदित हो, जिसका कारण है हमारी धर्म-रति और अपने बल का भरोसा।

27 नियमत: मनुष्य काम और क्रोध के कारण अथवा शक्ति या मृत्यु (हिंसा ?) के लिए कार्य-भार उठाते हैं; किन्तु हमने श्रद्धा से प्रेरित होकर (=साभिमाना:) केवल बुद्ध का सम्मान करने के लिए शस्त्र ग्रहण किया है।

28 शिशुपाल और चेदियों ने ... ... अहङ्कारवश कृष्ण के साथ युद्ध किया; तब जिन्होंने अहङ्कार को जीता उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन तक सङ्कट में डालें?

29 पृथ्वी पालन करनेवाले वृष्णि-अन्धक नामक राजाओं ने एक कन्या के लिए युद्ध किया, तब जिन्होंने काम (-वासना) का जीता उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन भी सङ्कट में डालें?

30 भृगु के पुत्र उस क्रोधी मुनि ने क्षत्रियों को उन्मूलित करने के लिए शस्त्र ग्रहण किया? तब जिन्होंने क्रोध को जीता उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन तक सङ्कट में डालें?

31 दैत्य, यद्यपि वह अत्यन्त भयङ्कर था, सीतारूपी (सीताभिधान) मृत्यु को ग्रहणकर विनाश को प्राप्त हुआ; तब जिन्होंने सब परिग्रह छोड़े उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन भी सङ्कट में डालें।

32 उसी प्रकार एलि और पक, जिनकी पारस्परिक शत्रुता बढ़ती ही गई, (मोह-वश) नाश को प्राप्त हुए; तब जो मोह से मुक्त थे उनकी पूजा करने के लिए क्यों न हम अपना जीवन भी खतरे में डालें?

33 संसार में ये और बहुतेरे दूसरे युद्ध अनुचित कारणों से हुए; तब हम क्यों न लड़ें, जब कि हम बुद्ध की भक्ति से बँधे हुए हैं और यह (युद्ध) हमारे लिए हितकारी है?

34 यही हमारा उद्देश्य है; आप शीघ्र ही हमारा दूत बनकर जायँ और अपनी सारी शक्ति लगाकर (=सर्वात्मना) प्रयत्न करें जिससे यह उद्देश्य बिना युद्ध किये ही सिद्ध हो जाय।

35 यद्यपि हम लड़ने के लिए तैयार हैं और हमें तेज तीर हैं, तो भी धर्मानुसार कहे गये आपके वचनों ने हमें रोक लिया है, जैसे कि मन्त्र साँपों को रोक लेते हैं जो अपने फैलते हुए विष को पी जाते हैं।"

36 "मैं ऐसा ही करूँगा" यह कहकर ब्राह्मण ने राजाओं का आदेश ग्रहण किया और नगर में प्रवेश किया; यथासमय उसने मल्लों से भेंट की और उनसे मिलकर उसने उचित समयपर उनसे ये वचन कहे—

37 "ये नृप, जिनके हाथों में तीर हैं और जिनके चमकीले कवच सूर्य के समान उज्ज्वल हैं, आपके इस नगर के द्वारों पर, मांस के टूकड़ों को चाटते हुए सिंहों के समान, उछलने को तैयार हैं।

38 म्यानों में रखी हुई अपनी तलवारों को तथा सुनहली पीठवाले अपने धनुषों को देखते हुए वे युद्ध की पुकार से नही डरते, किन्तु मुनि के धर्म का स्मरण करते हुए वे धर्म-विरुद्ध आचरण करने से डरते हैं।

39 वे कहते हैं 'आपको हमारे उद्देश्य का आदर करना चाहिए; क्योंकि हम राज्य या सम्पत्ति के लिए नही, अहङ्कार या शत्रुता से नही, किन्तु मुनि की भक्तिवश आये हैं।

40 मुनि समान रूप से हमारे और आपके गुरु थे; इसी कारण यह सङ्कट आया है। इसलिए यह बन्धु-वर्ग एकत्र हुआ है और मुनि की धातुओं की पूजा करने के एकमात्र उद्देश्य से यहाँ आया है।

41 धन की कृपणता उतना बड़ा पाप नही जितना कि धर्माचरण की कृपणता। कृपणतापूर्वक बोलने का निश्चय करना पाप है और पाप तो धर्म का शत्रु है ही।

42 यदि आप देने का निश्चय नही करते हैं तो किले से निकलकर अपने अथितियों की सेवा-शुश्रूषा कीजिए। जिनका बल (किले के) फाटकों में है, तीरों में नहीं, वे क्षत्रिय-वंश में उत्पन्न नही हुए हैं।'

43 राजाओं ने यही सन्देश आपको दिया है, और यह सद्भावना एवं साहस से भरा है। मैंने भी इस विषयपर अपने मन में स्नेहपूर्वक विचार किया है, अब मेरा वक्तव्य ध्यानपूर्वक सुनिये।

44 दूसरों के साथ विवाद करने से न सुख होता है, न धर्म; दुर्भावना को प्रश्रय न देकर शान्ति-मार्ग का अनुसरण कीजिए। क्योंकि मुनि क्षमा का उपदेश दिया करते थे, जिससे भक्ति की अग्नि सदा बढ़ती ही रहती है।

45 मनुष्य, अर्थ या काम, इन दो में से एक के लिए सङ्घर्ष करते हैं, किन्तु जो मनुष्य धर्म के निमित्त आर्य (साधु) हो गया है उसके लिए शम (शान्ति) और शत्रुता परस्पर-विरोधी हैं।

46 जिन्होंने स्वयं शान्ति प्राप्त कर उदार हृदय से जीवों को करुणा का उपदेश दिया उन करुणामय की पूजा करते हुए आप (दूसरों को) क्लेश पहुँचायें, यह आपके सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

47 अत: धातुओं को देकर आप उनके साथ यश और धर्म के भागी बनें। इस प्रकार आप उनके मित्र बनेंगे और वे भी धर्म व यश प्राप्त करेंगे।

48 हम धर्मानुयायियों को, धर्म से गिरे हुए लोगों को प्रयत्नपूर्वक भी धर्म से युक्त करना चाहिए। क्योंकि जो दूसरों को धर्म से युक्त करते हैं वे धर्म को चिर-स्थायी बनाते हैं।

49 परम पवित्र मुनि ने कहा है कि धर्म का दान सब दानों से श्रेष्ठ है (=सर्वेषामेव दानानां धर्मदानं विशिष्यते); जो कोई भी धन-दान कर सकता है, किन्तु धर्म का दाता दुर्लभ है।"

50 जब उन्होंने (आचार्य) द्रोण के समान ज्ञानी ब्राह्मण (द्रोण) से विख्यात व आनन्ददायक धर्म वचन सुने, तब अत्यन्त लज्जित होकर एक-दूसरे को देखते हुए उन्होंने उस (ब्राह्मण) से कहा:—

51 "आपका निश्चय सन्मित्र का है और ब्राह्मणोचित गुणों से युक्त है। हम बुरे घोड़ों के समान कुमार्ग पर भटक रहे थे, किन्तु आपने हमें सन्मार्ग पर स्थापित किया।

52 हमें अवश्य ही वैसा करना चाहिए जैसा कि आपने कहा है, क्योंकि दयालु मित्र का उपदेश ग्रहण करना उचित ही है। क्योंकि जो लोग मित्र के वचन की अवहेलना करते हैं वे पीछे विपत्ति में पड़कर शोक करते हैं।"

53 तब विश्व (=लोक धातु) को जाननेवाले बुद्ध की धातुओं को मल्लों ने आठ भागों में बाँटा और तब अपने लिए एक भाग रखकर, उन्होंने शेष सात भाग दूसरों को दे दिये, प्रत्येक के लिए एक।

54 मल्लों से इस प्रकार सम्मानित होकर राजा लोग भी, जिनका लक्ष्य सिद्ध हो गया, आनन्दपूर्वक अपने अपने देश को लौट गये। तब उन्होंने अपने अपने नगर में मुनि की धातुओं (को रखने) के लिए विधिवत् स्तूप बनाये।

55 तब अपने देश में मुनि के लिए एक स्तूप बनाने की इच्छा से द्रोण ने अपने हिस्से में घड़ा लिया और पिसल नामक लोगों ने भक्तिपूर्वक बची हुई राख ली।[106]

56 शुरु में श्वेत पर्वतों के समान आठ स्तूप थे, जिनके भीतर धातुएँ थीं। ब्राह्मण का घड़ावाला स्तूप नवाँ था और राखवाला दसवाँ।

57 प्रजा-सहित राजाओं ने और बच्चों-सहित ब्राह्मणों ने पृथ्वी पर मुनि के इन विविध स्तूपों की पूजा की, जिनपर पताकाएँ फहरा रही थीं और जो कैलास की बर्फीली चोटियों के समान दिखाई पड़ते थे।

58 अनेक भूपों ने स्तोत्र-गान, उत्कृष्ट सुगन्धियों, सुन्दर मालाओं और गीत-ध्वनि से स्तूपों की, जिनमें बुद्ध (=जिन) की धातुएँ थीं, उत्तम उपासना की।

59 तब कालक्रम से 500 अर्हत् 5 पर्वतों से चिह्नित नगर में एकत्र हुए और फिर से धर्म को अच्छी तरह संस्थापित (स्थिर) करने के लिए उन्होंने पर्वत के ऊपर मुनि के उपदेशों का सङ्ग्रह किया।

60 आनन्द ने ही महामुनि से सब उपदेश सुने थे, ऐसा निश्चयकर शिष्यों ने सङ्घ की सम्मति से उस वैदेह मुनि से शास्त्र (=प्रवचन) दुहराने के लिए कहा।

61 तब वह उन लोगों के बीच बैठ गया और "मैंने ऐसा सुना है" इस तरह कहते हुए तथा स्थान, प्रसङ्ग, समय और श्रोता की व्याख्या करते हुए, उसने उपदेशों को वैसे ही दुहराया जैसे कि वक्ता-श्रेष्ठ (बुद्ध) ने कहा था।

62 इस प्रकार अर्हतों के साथ उसने मुनि का धर्म-शास्त्र निश्चित किया और प्रयत्नपूर्वक इसका पूरा ज्ञान प्राप्त करनेपर ही मनुष्य दु:ख के परे गये हैं, जा रहे हैं, और जायँगे।

63 काल-क्रम से धर्म-रत अशोक का जन्म हुआ; उसने अहङ्कारी शत्रुओं को शोकाकुल किया और दु:खी लोगों का शोक दूर किया, वह फूलों और फलों से लदे अशोक-वृक्ष के समान प्रियदर्शन था।

64 मौर्य-वंश के उज्जवल गौरव अशोक ने प्रजा की भलाई के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी पर स्तूप बनाने का कार्य आरम्भ किया और इसलिए जो चण्डाशोक कहलाता था वह धर्म-राज अशोक बन गया।

65 उस मौर्य ने मुनि की धातुओं को सात स्तूपों से जिनमें वे रक्खी गई थीं, लेकर एक ही दिन में क्रम से 80,000 भव्य स्तूपों के बीच बाँट दिया, जो शरदृऋतु के उज्जवल मेघों के समान चमक उठे।

[106]- पिसल के स्थान में "पिप्पल" पढ़ने का सुझाव जौन्स्टन ने किया है, इसलिए कि मौर्य पिप्पलवनिक थे। चीनी अनुवाद में है "कुशीनगर के लोग"।

66 रामपुर में स्थित आठवाँ मूल स्तूप उस समय विश्वस्त नागों से रक्षित था और इसलिए राजा ने उस (स्तूप) से धातुओं को प्राप्त नही किया; किन्तु इससे उन (धातुओं) में उसकी श्रद्धा बहुत बढ़ गई।

67 चञ्चल राज्य-लक्ष्मी की रक्षा करते हुए भी और चित्त के लिए शत्रुस्वरूप उपभोगों के बीच रहते हुए भी, राजा ने काषाय-वस्त्र पहने बिना ही अपने चित्त को शुद्ध किया और प्रथम फल प्राप्त किया।

68 इस प्रकार जिस किसी ने जहाँ कहीं मुनि का सम्मान (पूजा) किया है, करता है, या करेगा उसे सज्जन-सुलभ परम फल प्राप्त हुआ है होता है या होगा।

69 हे बुद्धिमान् मनुष्यो, विदित हो कि बुद्ध के गुण ऐसे हैं कि समान मानसिक शुद्धि होनेपर, ऐहिक जीवन में मुनि का सम्मान करने से या उनके परिनिर्वाण के बाद उनकी धातुओं को प्रणाम करने से एक ही फल प्राप्त होता है।[107]

70 इसलिए उदारचेता करुणामय परम पूज्य मुनि की पूजा करनी चाहिए, जो लाभप्रद, सदा-अव्यर्थ, अविकारी (अपरिवर्तनशील) परम और उत्कृष्ट धर्म के ज्ञाता थे।

71 क्या इस जगत् में यह उचित नही कि कृतज्ञ बुद्धिमान् धर्मात्मा उन्हें धन्यवाद दें जिन्होंने, मनुष्यों के आशय की सम्यक् जानकारी रखते हुए, करुणावश, परोपकार के लिए महान् परिश्रम किया?

72 पृथिवी पर जरा और मरण के समान तथा स्वर्ग में वहाँ से गिरने के समान कोई विपत्ति नही, यह देखते हुए कौन सज्जन उतना पूज्य है जितना कि वह जिन्होंने विश्व की इन दो विपत्तियों को पहचाना?

73 जबतक जन्म है तबतक दु:ख है, और पुनर्जन्म से मुक्ति के समान कोई सुख नही; कौन सज्जन उतना पूज्य है जितना कि वह जिन्होंने इस मुक्ति को प्राप्तकर संसार को दिया?

74 मुनि-श्रेष्ठ के प्रति सम्मान-भाव से, मुनि के शास्त्रानुसार, मनुष्यों के हित व सुख के लिए, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने के लिए, यह काव्य रचा गया।

॥बुद्धचरित महाकाव्य का "धातु-विभाजन" नामक 28वाँ सर्ग समाप्त॥

॥समाप्तसम्पूर्णबुद्धचरित॥

[107]- "हे बुद्धिमान् मनुष्यो, विदित हो" या "बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं"।

परिशिष्टि 1

अतिरिक्त टिप्पणी एवं पाठान्तर

1.10 कक्षीवान्। "आसन्दीवदष्ठी" (अष्टाध्यायी 8.2.12) इति निपात्यते, कक्षीवान्नृषिः।

1.18 अनुवाद और 13.56 क के आधार पर कोष्ठगत 'अदृश्यरूपाश्व' रखा है।

1.24 घ—अनुवाद के आधार पर रिक्त स्थान की पूर्ति की गई है।

1.61 संविष्टः = सुप्तः (रघुवंश 1.95)। देवी = पार्वती। अग्निपुत्र = कार्त्तिकेय।

2.1 पा० "जन्मजरान्तगस्य"

2.2 कृताकृत = घटिताघटित = गढ़ा हुआ और नहीं गढ़ा हुआ (चाँदी-सोना) — अमरकोष।

2.3 पद्म = दक्षिण दिशा में स्थित दिग्गज। मण्डल = राज्य, देश, हस्तिशाला, हाथियों का घेरा (दे० 5.23)।

2.7 ख—पा० "०मण्डिताग:"।

2.25 घ— पा० 'वनं न यायादिति'।

2.33 घ— 'संविबभाज...' = या 'साधुओं की सेवा की'।

2.44 ख—अभिध्या = लोभ। अविवक्षीत्—वह् + सन् + लुङ्।

2.51 'स्वायंभुव सामवेदीय सूक्त का श्रद्धापूर्वक जप किया' — बंगला अनुवाद।

2.54 निपात—नि + पा + क्त। दे०— सौ० 18.31

3.1 गीतैर्निबद्धानि काननानि = संगीत से गूँजते हुए नगर-उद्यानों के बारे में; या उन उद्यानों के बारे में जिनके (सम्बन्ध में) गीत गाये जाते थे।

3.9 क—पा० '०पुष्पलाजं'।

3.26 ग—पा० 'प्रयातुं' के स्थान में 'प्रयान्तं'।

3.31 ख—पा० 'बालेन'—बालक होकर धूल में खेला।

3.53 ग—'स्याद् व्यत्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यये'—अमरकोष।

3.57 घ—पा० 'प्रियः प्रियैस्' ।

3.60 घ—पा० 'निर्ह्लादवता'।

4.16 सम्भवतः 'काशिसुन्दरी' नाम नही, किन्तु विशेषण; इसका अर्थ होगा 'काशी की रूपवती (वेश्या)'।

4.38 घ—धीरुलीलया चेष्टितं = गम्भीरता का, स्थिर गति-विधि का।

4.56 क—उ + इेमाः = विमाः; पा० 'किं न्विमा'?
ग—पा० 'संमत्ता'।

5.8 ख—पा० 'निवर्त्य'।

5.19 ग—परिग्रह = घर स्वजन साथी सम्पत्ति आदि बन्धन।

5.22 ग—पा० 'परिवर्त्य जनं'।

5.32 ख—लक्ष्म = प्रधान, योग्य।

5.40 निदर्शित = उदाहरण और दृष्टान्त देकर समझाये जानेपर।

5.52 शालभञ्जिका = शालवृक्ष (के काष्ठ) से बनाई गई मूर्ति।

5.53 पा० 'मणिकुण्डलदष्टगण्डलेखम्'।

5.55 योक्त्र = मुख का कोई आभूषण।

5.59 'स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुल्बणम्'—अमरकोष।

5.66 तदन्तरं = स्वभाव और बाह्य आभूषण का अन्तर; या सुयोग।

5.75 पा०— 'यथा ततुरगश्रेष्ठ'।

5.84 क—पा० 'विकचपङ्कज०'। विकच = विकसित।
घ—पा० 'पुनरहं'।

5.86 ग—पा० 'अकुरुत'।

6.34 ख—पा० 'यशोधर्मभृतां वरं'।

6.37 'उचितदर्शित्वात्' अन्तःपुर या छन्दक के लिए भी हो सकता है। शुभ वस्तुओं को ही देखनेवाले या शुभ संवाद ही सुननेवाले अन्तःपुर में। अथवा, न्यायोचित को देखनेवाला या उचित कर्म करनेवाला मैं (छन्दक)।

6.57-58 एनं और तं मुकुट के लिए प्रयुक्त हुआ है या असि के लिए? 8.48 से ज्ञात होता है मुकुट के लिए।

7.42 ख—पा० 'सङ्कीर्णधर्मे पतितो०'; 'सङ्कीर्णधर्मा पतितो०'।

7.43 घ—पा० 'बृहस्पतेरप्युदयावहः'।

7.50 बहुमानमीयुः = (उन तपस्वियों ने मन में) उनका बड़ा सम्मान किया।

8.13 रघुवंश 10.7 की व्याख्या में मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

8.31 ख—'विषाद-जन्य बाष्प से अवरुद्ध वाणी में'। दे० 2.62 ग तथा 8.60 घ।

8.39 घ—'श्रियं' = या 'राज्यलक्ष्मी को'

8.57 ग—या 'दान देने का अभ्यासी था, माँगने का नहीं'।

8.66 ग घ—'भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि स्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।' —रघुवंश 14.66।

9.21 घ—पा० 'वित्ताधिपत्यं'। विद् ज्ञाने क्त वित्तम्।

10.2 ख—धृतं च पूतं च = पोषित एवं पवित्रीकृत—बंगला अनुवाद (रथीन्द्र)

10.26 घ—'सहीया' यह शब्द केवल बौद्ध-साहित्य में ही पाया जाता है।

10.30 पा० 'स्ववंशप्रतिरूपरूपं' = अपने वंश के अनुरूप रूप को।

11.41 ग–भावा: = पदार्था:–सिद्धान्त कौमुदी, कृदन्त प्रकरण; और दे० बु० च० 12.27

11.45 ग–आसंगकाष्ठ = भारवाही दण्डकाष्ठ–बंगला अनुवाद (रथीन्द्र)

11.49 ग घ 'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्र:'–वैराग्य शतक।

11.70 'अव' धातु के अनेक अर्थों को ध्यान में रखते हुए तथा 'आर्यै:' के स्थान में 'आर्यान्' पढ़ते हुए, इस श्लोक का अर्थ यह होगा–

इन्द्र के समान रक्षा करें, आकाश के सूर्य के समान सदा प्रज्वलित हों, सद्गुणों से शोभित हों, इस संसार में श्रेय को समझें, पृथ्वी का पालन करें, (दीर्घ) आयु प्राप्त करें, सज्जनों व सत्पुत्रों को तृप्त करें, ऐश्वर्य की वृद्धि करें; हे राजन्, अपने धर्म से लिपटे रहें (या स्वधर्म का आचरण करें)।

13.60 यही श्लोक परिमार्जित रूप से भास-प्रणीत प्रतिज्ञायौगन्धरायण नामक नाटक में आया है।

14.14 उत्तरार्ध का यह अर्थ भी होगा–

कोई-कोई लौहचंचु धृष्ट कौओं द्वारा, जो लोहे के बने-से लगते हैं, खाये जाते हैं।

समाप्त

3.7.2021